उपोद्घात

हिन्दी सत-साहित्य के अध्ययन की प्रवृत्ति पिछले कुछ वर्षो से निरन्तर बढती जा रही है और फलस्वरूप अनेक ग्रथ भी लिखे गये है। परन्तु सत-साहित्य का जितना अध्ययन साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टियो से हुआ है उतना सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टि से नही हुआ है यद्यपि उसके ये पक्ष भी महत्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध सत–साहित्य के सामाजिक एव सास्कृतिक अध्ययन पर आधारित है। यह प्रयास मौलिक है और इस पर लेखिका को लखनऊ विश्वविद्यालय से पी०-एच० डी० की उपाधि दी गयी है। मुझे विश्वास है कि डा० सावित्री शुक्ल इसी प्रकार शोध कार्य मे सलग्न रहकर मौलिक ग्रन्थो का सृजन करती रहेगी। मेरी शुभ कामनायें उनके साथ है।

दीन दयालु गुप्त
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी एव आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

भारतीय धर्म साधना एवं चेतना के इतिहास में हिन्दी सन्त-काव्य का प्रमुख स्थान है। धर्म, साधना एवं लोक जीवन के निर्मल स्वरूप को विकृत तथा विषम बनाने वाले तत्वों की हिन्दी के सन्त कवियों ने व्यंग्य एवं तीव्र स्वर में आलोचना की। उनके प्रतिभा-सूर्य ने अंधविश्वासों से ग्रस्त दलित समाज के समक्ष कल्याण के अभिनव मार्ग प्रदर्शित किये। लोककल्याण के नाम पर प्रसारित आडम्बर, अनाचार एवं बाह्याचारों की तीव्र आलोचना करते हुये सन्त कवियों ने उनकी निःसारता प्रमाणित की। सन्तों के कण्ठों से प्रस्फुटित ये वाणियाँ मन्दाकिनी के सदृश मानवता के हेतु कल्याणकारी हैं। सन्तों की वाणियों का, उनके लोकहितकारी व्यक्तित्व का ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्व बिसारा नहीं जा सकता है। उपनिषदों के तत्वज्ञ, साधक, उदारचेता एवं मनस्वी ऋषियों की निर्गुण, रहस्यवादी एवं आत्मपूरक विचारधारा शतश वर्षों से भारतीय जनता को प्रभावित करती आ रही है। हिन्दी के निर्गुण कवियों का साहित्य सार्वभौमिक है। उनकी वाणियां, आडम्बर, उक्ति वैचित्र्य एवं उच्च कोटि के काव्य के समस्त मानदण्डों से विहीन होकर भी जीवन के लिए कल्याणकारी शाश्वत भावनाओं से ओतप्रोत हैं। सन्तों की दृष्टि में कवि एवं कवि-कर्म सम्मान्य नहीं था। इन्होंने अपने उच्चादर्शों एवं संदेशों के प्रचार के हेतु काव्य को माध्यम बनाया। हिन्दी साहित्य में संत काव्य ने साहित्य एवं काव्य कला या कलात्मकता की अभिनव मान्यताएँ संस्थापित कीं। उनका मतवाद सहज साधना पर अवलम्बित है। उनकी दार्शनिक विचारधारा का मूल उद्गम उपनिषद् है। इनकी वाणियाँ सरलता एवं प्रभावित करने की शक्ति से सम्पन्न है। सन्त कवि नैतिकता प्रचारक, सत्य के उद्घाटक और समाज के सुधारक थे। भावुकता भी इनमें कम न थी। विश्वास इनमें अटूट था। समाज की प्राचीन मान्यताओं को नष्ट करके इन्होंने अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया। भाषा विषयक अधिकार एवं ज्ञान की निर्मल ज्योति इनमें दर्शनीय है। योग का सुष्ठु और सरल प्रतिपादन इनकी

रचनाओ मे पठनीय है। इनका दैन्य और आत्मसमर्पण अनुकरणीय है। युग-प्रवर्तक रामानन्द का आशीर्वाद और प्रेरणा ग्रहण कर, ज्ञान की जिस मशाल को कबीर ने भारतीय जनता के कल्याणार्थ प्रज्ज्वलित किया था, उसका प्रकाश ईसा की १६वी शताब्दी तक भारतीय जनता का पथ प्रदर्शित करता रहा।

हिन्दी के सन्त कवियो की समाज साधना उन्हे अन्य कवियो के सामान्य स्तर से ऊपर उठाकर सम्मानित आसन पर प्रतिष्ठित कर देती है। वर्ण भेद, वर्ग भावना, अस्पृश्यता, वाह्याडम्बर एव जाति प्रथा के अभिशाप से विनष्टप्राय समाज को सतो ने समता का पाठ पढाया और एकता एव प्रेम के सूत्र मे बाँध दिया। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा "जाति पाँति पूछै ना कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।" सन्तो ने सम्पूर्ण राष्ट्र को जातीयता के रग से अनुरजित करने का प्रयत्न किया। उन्होने प्रतिकार, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, क्रूरता, दम्भ, पाखण्ड आदि मे सलग्न समाज को उन्नत एव मानवोचित जीवन व्यतीत करने का उपदेश देकर समाज की वडी भारी सेवा की। सन् १३०० से लेकर १८०० ई० तक का समाज चतुर्दिक ह्रास एव विनाश का रगमच बना हुआ था। सतो ने समय समय पर अवतरित होकर अपने युग की विषमताओं को दूर करने का प्रयास किया। समाज पर सन्तो की व्यापक दृष्टि थी। उन्होने हिन्दू और मुसलमान को एक समान स्नेह दिया और पथ प्रदर्शन किया।

हिन्दी के सत कवियो ने अपने युग की धार्मिक विषमताओ को दूर करके सास्कृतिक सामञ्जस्य स्थापित किया। सतो ने दो विभिन्न 'हिन्दू एव मुसलमान' सस्कृतियो के सघर्ष से पीडित मानवता के हृदय मे यह भाव पुष्ट करने का प्रयत्न किया कि राम, रहीम, केशव, करीम मे भिन्नता नही है। अत हिन्दू मुसलमान भी एक दूसरे के भाई-भाई है, शत्रु नही। हिन्दुओ के विनाश से मुसलमानो का न तो गौरव वढेगा न धार्मिक व्यक्तित्व ही महान् हो पायेगा। धार्मिकता की सबसे बडी विशेषता है औदार्य, करुणा से युक्त होना, प्रेम से सम्पन्न होना, दया से ओतप्रोत होना एव सहिष्णुता का विकसित होना। यदि मनुष्य इन गुणो से परे और विहीन है तो वह न तो ब्रह्म को ही प्राप्त कर सकता है और न लौकिक सुखो का अर्जन कर सकता है। इस दृष्टि से सतो का योगदान वडा महत्वपूर्ण रहा।

सत काव्य के द्वारा सस्थापित सामाजिकता के उच्चादर्श एव सास्कृतिक सामञ्जस्य किसी भी सहृदय व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लेते है। समाज और सस्कृति के विकास और उत्थान मे सतो की देन वडी महत्वपूर्ण रही है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे सत साहित्य की सामाजिक एव सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर सविस्तार विचार किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का अध्ययन नौ परिच्छेदो मे सम्पन्न हुआ है। ये परिच्छेद निम्नलिखित है

(१) सतकाव्य के उद्गम के कारण एव भक्ति-सम्प्रदाय।

(२) सामाजिक परिस्थितियाँ एव सत

(३) धार्मिक परिस्थितियाँ एवं दर्शन।
(४) इस्लाम एवं सूफी-दर्शन और उसका योगदान।
(५) सन्तों के सामान्य विश्वास।
(६) संत-साहित्य की महान् परम्परायें।
(७) संतों का व्यापक-धर्म।
(८) सांस्कृतिक सामञ्जस्य।
(९) संत काव्य में लोक-संस्कृति
(१०) उपसंहार।

प्रथम परिच्छेद का शीर्षक है 'संत-काव्य के उद्गम के कारण एवं भक्ति-सम्प्रदाय।' प्रस्तुत परिच्छेद का अध्ययन तीन भागों में किया गया है। प्रथम भाग में संत शब्द की व्युत्पत्ति, प्रचलित अर्थ, संत के लक्षण एवं आवश्यक तत्व, गीता आदि ग्रन्थों में वर्णित सन्तों के लक्षण, सन्तों की रहनी, करनी एवं कथनी आदि पर सविस्तार विचार किया गया है।

इस परिच्छेद के दूसरे खण्ड में भक्ति सम्प्रदाय के विकास का उल्लेख हुआ है। इस विकास को व्यक्त करने के लिये वेद, संहिता, उपनिषद्, पुराण, गीता आदि ग्रन्थों में भक्ति तत्व को खोजने का प्रयत्न किया गया है। भक्ति सम्प्रदाय के विकास को लक्षित करने के लिये भक्ति के तीन उत्थानों को पृथक्-पृथक् व्यक्त किया गया है। भक्ति सम्प्रदाय के तृतीय उत्थान में ही सन्तों का आविर्भाव हुआ।

प्रस्तुत परिच्छेद के तृतीय खण्ड में सन् १३०० से १८०० ई० तक की उन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर बड़े विस्तार के साथ विचार किया गया है, जिन्होंने संत-कवियों और संत साहित्य को जन्म दिया।

इस परिच्छेद की रचना में लेखिका ने प्रसिद्ध लेखकों की महत्वपूर्ण रचनाओं की सहायता ली है। सम्पूर्ण परिच्छेद लेखिका के व्यापक अध्ययन और स्वतंत्र अनुसन्धान का फल है।

द्वितीय परिच्छेद का शीर्षक 'सामाजिक परिस्थितियाँ एवं संतों का योगदान है।' साहित्य समाज का दर्पण माना गया है। समाज की परिस्थितियों के अनुकूल ही साहित्य की रचना होती है। मध्ययुगीन भारत अनेक विषमताओं में अभिशप्त था। वर्ण संघर्ष, वर्ग-शोषण, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, अस्पृश्यता तथा बाह्याडम्बरों से अभिशप्त समाज को समता एवं एकता का उपदेश देकर मानव समाज को सन्तों ने उचित दिशा की ओर अग्रसर किया। मध्ययुगीन भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ, अन्धविश्वास एवं भौतिकता से अभिशप्त थीं। सन्तों ने हर प्रकार से इन विषमताओं को दूर करने का प्रयत्न किया। जीवन को उन्नत बनाने के लिए सहिष्णुता को धारण करने और असन्तोष, तृष्णा, माया, मोह आदि का परित्याग करने का उपदेश दिया। सन्तों के सेवा-व्रत ने तत्कालीन समाज के समक्ष स्वस्थ आदर्श उपस्थित किये। इस परिच्छेद में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर संक्षेप में विचार किया गया है और सन्तों के

अधिकारियो के प्रति लेखिका कृतज्ञता प्रकट करती है, जिन्होने बडी उदारतापूर्वक; सहयोग प्रदान करके, इस कार्य को सम्पन्न कराया।

प्रस्तुत विषय पर अनुसन्धान कार्य करने की प्रेरणा एव आज्ञा डा० दीनदयाल गुप्त एम० ए०, एल एल० बी०, डी० लिट० अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई। लेखिका उनके प्रति कृतज्ञ है। उन्ही की असीम कृपा और स्नेह के कारण यह ग्रन्थ आज इस रूप मे प्रकाशित हो रहा है। उन्ही के आशीर्वाद से यह महान् कार्य सम्पन्न हुआ है।

सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डी० लिट्, डा० विनय मोहन शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, आदि विद्वानो से लेखिका को समय-समय पर अनेक प्रकार से सहायता मिली। इन विद्वानो के पथप्रदर्शन से अनुसन्धान का यह दुरूह कार्य सरलतापूर्वक समाप्त हो सका है। हम हृदय से इन उदारचेता मनस्वियो के कृतज्ञ हैं।

अनुसन्धान कार्य मे अनेक विद्वानो के ग्रन्थो, लेखो और खोज निबन्धो से लेखिका ने लाभ उठाया। हम उन सभी यशस्वी साहित्यकारो के अनुगृहीत है।

—सावित्री शुक्ल

विषय-सूची

संत-काव्य के उद्गम के कारण एव भक्ति सम्प्रदाय

सत—'सत' शब्द की व्युत्पत्ति—सत शब्द का प्रचलित अर्थ—निर्गुण कवियो की दृष्टि मे सत—सत और साधु—सतो के लक्षण—सतो के आवश्यकत्व—गीता में सतों के लक्षण—सत कवियो के मत मे सतो के लक्षण—सत का व्यक्तित्व—सतो की रहनी—सतो का जीवन—सतो की करनी एव कथनी—सतो की कल्याणकारी अमोघ वाणिया—सत भक्त में अन्तर।

'निर्गुण' शब्द का अर्थ—व्युत्पत्ति—गुणो की व्याख्या—गुण एव सृष्टि—निर्गुण काव्य—सगुण निर्गुण काव्य से अभिप्राय।

भक्ति सम्प्रदाय का विकास—भारतीय धर्म-साधना का लक्ष्य—वेदो मे भक्ति का स्वरूप और प्रकार—वेदो की संहिताओ मे भक्ति तत्व—उपनिषदो मे भक्ति—पुराणो मे भक्ति—गीता मे भक्ति तत्व—भक्ति के लक्षण और महत्व—उपाधिया—भक्ति रस की उद्भावना—भक्ति का प्रथम उत्थान—भक्ति का द्वितीय उत्थान—भक्ति का तृतीय उत्थान—भक्ति के तृतीय उत्थान की विशेषताए—निम्बार्क सम्प्रदाय—श्री वल्लभ मत—राधा स्वामी सम्प्रदाय—सत मत के आविर्भाव के कारण—तेरहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक देश की राजनीतिक परिस्थितिया—सतो पर तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो की प्रतिक्रिया—१३वी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक देश की सामाजिक परिस्थितियां और सतो पर प्रतिक्रिया—सांस्कृतिक परिस्थितिया और सन्तो पर परिस्थितियो की प्रतिक्रिया—आर्थिक परिस्थितिया और संतो पर इन परिस्थितियो की प्रतिक्रिया—धार्मिक परिस्थितिया और सतो पर तत्कालीन परिस्थितियोकी प्रतिक्रिया।

पृष्ठ १ से पृष्ठ ९२।

सामाजिक परिस्थितिया एव सतो का योगदान

साहित्य एव समाज का अविच्छिन्न एव अन्योन्याश्रित सम्बन्ध—सन्त कवि और

समाज—मानव एव समाज—समाज शास्त्री एव समाज—भारतीय विचारधारा का मुख्य केन्द्र आत्मा एव परमात्मा—वेदो मे ईश्वर एव जीव का ऐक्य—सन्तो की वेदो एव उपनिषदो से प्रभावित होना—मध्ययुगीन भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ—विलासिता, क्रूरता तथा निम्न प्रवृत्तियो का प्रसार—अन्धविश्वास का अभिशाप—सन्तो के भौतिकता के विरुद्ध उपदेश—राम-रहीम की एकता—सन्तो द्वारा भेदभाव को दूर करने के प्रयत्न—सहिष्णुता का उपदेश—सामाजिक जीवन को समुन्नत बनाने मे सन्तो का योगदान—असतोष एव तृष्णा के विरुद्ध चेतावनी—दीनता ग्रहण करने के पक्ष मे उपदेश—सन्तो का सेवाव्रत—जीवन एव समाज को समुन्नत बनाने के लिए सन्तो की अमूल्य वाणियो ।

पृष्ठ ८३ से पृष्ठ ११[illegible]

धार्मिक परिस्थितिया एव दर्शन

धर्म एव समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध—मध्य युग मे सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितियाँ, बाह्याडम्बर—बाह्याचार एव भौतिकता से आच्छादित धर्म का स्वरूप—निर्गुण कवियो की भौतिकता मे सलग्न समाज को चेतावनी, निर्गुण दर्शन की पृष्ठ-भूमि मे भारतीय दर्शन—भारतीय दर्शन की विशेषताएँ—भारतीय दर्शन एव चिन्तन सत्य—बौद्धिक क्षेत्र मे भारत का अग्रणी होना—भारतीय दर्शन एव वेद—भारतीय दर्शन का द्वितीय सोपान—महाभारत—भारतीय दर्शन का तृतीय सोपान चार्वाक दर्शन—भारतीय दर्शन की चतुर्थ भूमिका जैन धर्म—भारतीय दर्शन का पचम सोपान बौद्ध धर्म एव दर्शन—भारतवर्ष के दार्शनिक क्षेत्र मे षष्ठ सोपान पर छ सिद्धान्तो का विकसित होना—गौतम का न्याय दर्शन, कणाद का वैशेषिक—कपिल का साख्य—पतजलि का योग—जैमिनि का मीमासा—शकर का अद्वैत वेदान्त—भारतीय दर्शन का सप्तम सोपान पर वैष्णव दर्शन—अष्टम सोपान शैव तन्त्र—दर्शन और धर्म की अभिन्नता—शैव और वैष्णव सघर्ष ।

वेद-दर्शन

वेद दर्शन के दो भाग मन्त्र एव ब्राह्मण—चार सहिताएँ—वेदो के तीन भाग—सहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक—वेदो मे देवताओ का बाहुल्य—उपनिषद्—उपनिषदो का प्रतिपाद्य—वेदान्त मे आत्मा—उपनिषदो मे ब्रह्म ।

गीता-दर्शन

महाभारत का ऐतिहासिक सग्राम और भगवान श्रीकृष्ण—गीता का प्रणयन—गीता का प्रतिपाद्य—गीता मे ब्रह्म और आत्मतत्व—निराकाम कर्म सिद्धान्तो की व्याख्या—स्थितिप्रज्ञ के लक्षण ।

चार्वाक-दर्शन

चार्वाक का अर्थ—अक्रियावाद—यदृच्छवाद तथा नियतिवाद—लौकिक सुख और दर्शन—श्राद्ध की निष्फलता—चार्वाक—दर्शन और भौतिकवादी दृष्टि ।

जैन दर्शन

जैन धर्म की विचारधारा—महत्ता—२४ तीर्थंकर—जैन दर्शन—मोक्ष—सप्त तत्व—बारह अनुप्रेक्षा—प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण—कर्मवाद—आचार एवं तपश्चर्या।

बौद्ध-दर्शन

दुःख और बौद्ध दर्शन—अविद्या का नाश—दो दल हीनयान और महायान—बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता—बौद्ध दर्शन—नास्तिक दर्शन सिद्धान्त।

न्याय-शास्त्र

न्याय दर्शन—प्रमेय—मन और न्याय शास्त्री।

वैशेषिक दर्शन

परमतत्व की जिज्ञासा मूल भाव।

सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन के मूल सिद्धान्त—श्वेताश्वर उपनिषद्—२५ तत्व और सांख्य दर्शन—प्रकृति सुकुमार नर्तकी।

योग-दर्शन

पतंजलि और उनकी विचारधारा—चार पाद—चित्तवृत्ति-निरोध की महत्ता—यम-नियमादि की आवश्यकता—कर्म एवं वासना।

मीमांसा

कुमारिल भट्ट द्वारा नवीन युग का सूत्रपात—बारह विषयों की विशेष चर्चा—पदार्थों के दो प्रकार—भाव और अभाव।

अद्वैत-दर्शन

शंकराचार्य की विचारधारा—अद्वैत मत और दर्शन—ब्रह्म की सत्यता—विवर्त—विद्या और अविद्या—माया।

शैव दर्शन

दर्शन की भूमिका—प्रकृति और पुरुष की अनित्यता—माया का मिथ्या होना—ज्ञान का नित्य होना।

निर्गुण सम्प्रदाय, दर्शन, मत, निर्गुण विचारधारा और उसका प्रभाव।

पृष्ठ ११५ से पृष्ठ १७६।

इस्लाम एवं सूफी-दर्शन और उसका योगदान

सातवीं शताब्दी अरब देश के इतिहास में महत्वपूर्ण काल—नवीन युग का सूत्रपात, युग के प्रवर्तक मुहम्मद साहब—मुहम्मद का उत्कर्ष—मुहम्मद का विरोध—मुहम्मद का दर्शन—इस्लाम का प्रसार और उत्कर्ष—हिन्दू धर्म में उसका संघर्ष—हिन्दुओं को

अपनी विषमताओं का आभास—मुसलमानों के साथ संघर्ष होने के बाद हिन्दू धर्म—संस्कृति और समाज का पतन—तंत्र, मंत्र आदि की प्रबलता—धर्म के लोक-कल्याण-कारी रूप का विनाश—इस्लाम दर्शन—विभिन्न चिन्तकों के नाम—सूफीमत—सूफी शब्द का अर्थ—सूफीमत का आविर्भाव एवं विकास—शामी जातियों के पुरुष—सूफी दर्शन—अल्लाह की पृथकता असहनीय—शहूद, नूर, इल्म तथा वजूद—ईश्वर की सार्वभौमिकता—सूफियों के तीन वर्ग—इजादिया, वजूदिया, शहूदिया—सूफियों की उदार प्रवृत्ति—सन्त साहित्य पर सूफी-दर्शन का प्रभाव—हिन्दी साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव—सन्त साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव। पृष्ठ १८० से पृष्ठ १९३।

सन्तों के सामान्य विश्वास

विश्वास धर्म का अभिन्न अंग—विश्वास के आवश्यक तत्व—विश्वास की परिभाषा—विश्वास के तीन प्रकार—ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों के शब्दों में विश्वास की परिभाषा—संतों की दृष्टि में विश्वास के दो रूप—व्यक्तिगत और सामान्य विश्वास—सन्तों के दार्शनिक विश्वास—अद्वैत ब्रह्म, नाम महिमा, आत्मा, सद्गुरु, सत्संग।

सन्तों के सामाजिक विश्वास

सत्य, दया, काम, क्रोधादि का परित्याग, विश्वबन्धुत्व, करनी कथनी, समता, संतोष, दीनता, पातिव्रत धर्म—संतों का जीवन दर्शन—संतों के साधनात्मक विश्वास—नाम जप, सहज समाधि, योग, भक्ति, वैराग्य। पृष्ठ १९४ से पृष्ठ २४६।

संत-साहित्य की महान् परम्पराएँ

साहित्य जीवन का पर्याय या प्रतिबिम्ब—परम्परा की परिभाषा—साहित्य की परम्पराएँ—संत साहित्य की दो सामान्य विशेषताएँ—संत साहित्य की छः महान् परम्पराएँ—मानवतावाद, धार्मिकता, जातीयता, प्रगतिशीलता, शाश्वतता तथा सजीवता।

मानवतावाद

परिभाषा—ग्रीक दर्शन में मानवतावाद—भारतीय दर्शन में मानवतावाद—मानवतावाद का मूल सिद्धान्त—संतों का मानवतावाद—मानवता के लिए सप्त महाव्रतों का उपदेश।

धार्मिकता

परिभाषा—साहित्य एवं धर्म—धार्मिकता के अंग उदारता, दया, क्षमा, त्याग, सहनशीलता, अहिंसा, धैर्य, सत्य।

जातीयता

परिभाषा—आवश्यक अंग—महत्ता।

प्रगतिशीलता

सुधार की प्रवृत्ति—दार्शनिकता की विशेष अभिरुचि—शिखा एवं यज्ञोपवीत का परित्याग-समाधि निर्माण की प्रवृत्ति—वर्णाश्रम के प्रति कट्टर विचारों का त्याग-भक्ति एवं वैराग्य की प्रवृत्ति।

शाश्वतता

आध्यात्म की प्रतिष्ठा—नैतिक भावों एवं विश्वासों की अभिव्यक्ति—सत्यानुभूति।

सजीवता

प्रभावित करने की अद्वितीय शक्ति—अलौकिक चेतना एवं सजीवता।

पृष्ठ २४७ से पृष्ठ २६६।

संतों का व्यापक-धर्म और उसका रूप

'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति—परिभाषा—समाज एवं संस्कृति—धर्म के अभिन्न अंग—व्यापक धर्म के आवश्यक तत्व प्रेम, समदृष्टि, सेवाभाव, संसार से विरक्ति, सतगुरु वन्दना, नाम, सत्य, क्षमा, दया तथा औदार्य आदि।

पृष्ठ २६७ से पृष्ठ २८७।

सांस्कृतिक सामञ्जस्य

संस्कृति की परिभाषा—आवश्यक तत्व—संस्कृति और सभ्यता में भेद—हिन्दू संस्कृति के मूल तत्व, आध्यात्मिकता, अद्वैतवाद भाव की पुष्टि कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त, योग—मुस्लिम संस्कृति—मुस्लिम एवं हिन्दू संस्कृति का सामञ्जस्य-भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता—सत्य, शिव एवं सुन्दर के सामञ्जस्य-विद्वानों के विभिन्न मत—कला, स्थापत्य, धर्म एवं साहित्य में सामञ्जस्य-हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृति का एक दूसरे से प्रभावित होना।

पृष्ठ २८८ से पृष्ठ २९९।

संतकाव्य में लोक-संस्कृति

पृष्ठ ३०० से पृष्ठ ३१४

उपसंहार

सारांश—सन्तों की समाज, जीवन, साहित्य, नैतिकता को देन-समाज पर सन्तों का प्रभाव।

पृष्ठ ३१५ से पृष्ठ ३२०।

परिशिष्ट

सहायक पुस्तकों की सूची

पृष्ठ ३२१ से ३२६ तक

ग्रन्थ में प्रयुक्त संक्षेप एवं संकेत

१ स० वा० स०	सत-वानी-सग्रह
२ च० दा०	चरन दास की वानी
३ श्रीमद्भा०वा०	श्रीमद्भागवत
४ श० सा०	शब्द-सागर
५ अथर्व०	अथर्ववेद
६ उ० भा० स० प०	उत्तरी भारत की सत-परम्परा
७ न्या० भा०	न्याय भाष्य
८ हि० भा० स० दे०	हिन्दी को मराठी सतो की देन
९ भा० द०	भारतीय-दर्शक
१०. भा० सू०	भक्ति-सू त्र

संत-काव्य के उद्गम के कारण एवं भक्ति-सम्प्रदाय

संत

हिन्दी-साहित्य मे 'सत' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे होता है। आज इस शब्द का प्रयोग 'सज्जन', 'साधु', 'भक्त' तथा 'सत्पुरुष' के अर्थ मे होता है। सर्वप्रथम हम 'सत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे। 'सत' शब्द की व्युत्पत्ति विवादास्पद है। डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के मतानुसार 'सत' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से सम्भव है यह 'सत्' का बहुवचन हो सकता है, जिसका हिन्दी मे एक वचन मे प्रयोग हुआ है अथवा 'शात' का अपभ्रंश रूप हो सकता है, जैसा पाली भाषा मे होता है। पहली व्युत्पत्ति मे 'सत' के अर्थ होंगे जो सत् है अर्थात् जिसे 'सत्' की अनुभूति हो चुकी हो। दूसरी व्युत्पत्ति मे इसका आशय होगा जिसकी कामनाए शान्त हो चुकी है। दोनो ही अर्थ सत शब्द पर ठीक उतरते है।[1] यदि 'सत' शब्द की व्युत्पत्ति 'सत्' से मान ली जाय तो इसका अर्थ होता है, "नित्य एव अव्यय"। वैदिक-साहित्य मे यह शब्द ब्रह्म के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् मे कहा गया है

"सदेव सौम्येदमग्रे आसीदेक मेवाद्वितीयम्"।[2]

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ मे केवल एक अद्वितीय सत् ही वर्तमान था। ऋग्वेद के अनुसार "सुपर्ण अविप्रा कवयो वाचाभिरेक सन्त बहुधा कल्पयन्ति" अर्थात् क्रान्तदर्शी ब्राह्मण उस अद्वितीय एव अद्वैत सत् का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया करते है। गीता मे भी 'सत्' शब्द उपर्युक्त अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का प्रयोग गीता मे पाच प्रकार से हुआ है। गीता के अनुसार प्रथम अर्थ 'सत्' नाम ब्रह्म का है।

---

१ योग-प्रवाह, पृष्ठ १५८।

२ छान्दोग्य उपनिषद्, द्वितीय-खड १।

ओ३म् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृत ।[1]

द्वितीय अर्थ-तदर्थ कर्म अर्थात् अपने योग क्षेम के हेतु कोई भी कर्म न करके वासुदेव के हेतु कर्म करना सत् है

कर्म चैव तदर्थीयम् सदित्येवाभिधीयते ।[2]

तृतीय अर्थ-यज्ञ, दान, तप मे स्थित को सत् कहते हैं

यज्ञे तपसि दाने च स्थिति सदिति चोच्यते ।[3]

चतुर्थ अर्थ-सद्भाव व साधु भाव रखकर प्राणी मात्र मे सुहृदभाव रखना सर्व-भूत हितरत रहना और राग द्वेष द्वन्द्व आदि मे न पडना भी सत ही है ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।[4]

पचम अर्थ-प्रशस्त कर्म करना या आत्मोद्धारक माङ्गलिक कर्म करना भी सत् कहा जाता है

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द पार्थ युज्यते ।[5]

अत यह स्पष्ट ही है कि 'सत' शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपो मे होता है जो चिरन्तन सत्य की अनुभूति कर चुका हो, जो दिव्य मधुर-ज्योति के दर्शन प्राप्त करके उसी मे सायुज्य प्राप्त कर चुका है, वही 'सत' है ।

निर्गुण कवियो ने भी साई और सत को एक ही माना है । पलटू साहब के मता-नुसार 'राम' और 'सत' भिन्न नही है, दोनो मे पूर्ण एकात्मकता है

सत और राम को एक के जानियें
दूसरा भेद ना तनिक आनै ॥[6]

सत गरीब दास के मतानुसार भी 'साई और सत' मे कोई भद नही है

'साई सरीखे सत है यामे मीन न मेख' ।[7]

कबीर दास को भी 'सत' और 'अनन्त' मे भेद नही उपलब्ध होता है । कारण कि मनसा-वाचा-कर्मणा 'सत' तथा 'साहब' एक ही है, उनमे भेद के लिये लेशमात्र भी स्थान नही है

---

१ गीता, अध्याय १७, श्लोक २३ ।
२ गीता, अध्याय १७, श्लोक २७ ।
३ गीता, अध्याय १७, श्लोक २७ ।
४ गीता, अध्याय १७, श्लोक २६ ।
५. गीता, अध्याय १७, श्लोक २६ ।
६ पलटू साहब की बानी—भाग २–पृष्ठ ८ ।
७ सत-बानी-सग्रह—भाग प्रथम–पृष्ठ १६८ ।

कबीर दरसन साध का साहिब आवै याद।
लेखे मे सोई घडी बाकी के दिन बाद ॥
साध मिले साहिब मिले, अतर रही न रेख।
मनसा वाचा कर्मना साधू साहिब एक ॥[1]

अब यह प्रश्न उठता है कि सतो के लक्षण क्या है? इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि सतो की यथार्थ पहिचान बाह्य-लक्षणो से नही हो सकती है। सतो के लक्षण श्रीमद्भागवत तथा राम चरित-मानस मे सविस्तार उल्लिखित हुये है। श्रीमद्भागवत मे भगवान भक्त उद्धव से कहते हैं

"उद्धव! मेरा भक्त कृपा की मूर्ति होता है, वह किसी भी प्राणी से वैर नही करता, वह सब प्रकार से सुख-दु खो को प्रसन्नतापूर्वक सहन करता है, सत्य को जीवन का सार समझता है, उसके मन मे कभी किसी प्रकार की पाप-वासना नही उठती, वह सर्वत्र समदर्शी और सबका अकारण उपकार करने वाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओं से कलुषित नही होती। वह इन्द्रिय विजयी कोमल स्वभाव और पवित्र होता है उसके पास अपनी कोई भी वस्तु नही होती है, किसी भी वस्तु के लिये वह कभी भी चेष्टा नही करता है, परिमित भोजन करता है, सदा शात रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है, वह केवल मेरे ही आश्रय रहता है, निरन्तर मननशील रहता है, वह कभी प्रमाद नही करता है, गम्भीर स्वभाव और धैर्यवान होता है। भूख, प्यास, शोक, मोह और जन्म-मृत्यु इन छ पर विजय प्राप्त कर चुका है। वह स्वय कभी किसी से किसी प्रकार का मान नही चाहता है और दूसरो को सम्मान देता रहता है। भगवत्सम्बन्धी बातें समझने मे बडा निपुण होता है उसके हृदय मे करुणा भरी रहती है और भगवत्तत्व का उसे यथार्थ ज्ञान होता है।[2]

---

१ सत-बानी-सग्रह—भाग प्रथम—पृष्ठ २८।

२ कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षु सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा सम सर्वोपकारक ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदु शुचिरकिञ्चन।
अनीहो मितभुक् शान्त स्थिरो मच्छरणोमुनि ॥
अप्रमत्तो गम्भीरात्मा धृतिमाञ्जितषड् गुण।
अमानी मानद कल्पो मैत्र कारुणिक कवि ॥

श्रीमद्भागवत् ११।११।२९-३१।

ओइम् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृत ।[1]

द्वितीय अर्थ-तदर्थ कर्म अर्थात् अपने योग क्षेम के हेतु कोई भी कर्म न करके वासुदेव के हेतु कर्म करना सत् है

कर्म चैव तदर्थोयम् सदित्येवाभिधीयते ।[2]

तृतीय अर्थ-यज्ञ, दान, तप मे स्थित को सत् कहते है

यज्ञे तपसि दाने च स्थिति सदिति चोच्यते ।[3]

चतुर्थ अर्थ-सद्भाव व साधु भाव रखकर प्राणी मात्र मे सुहृदभाव रखना सर्व-भूत हितरत रहना और राग द्वेष द्वन्द्व आदि मे न पडना भी सत् ही है ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।[4]

पचम अर्थ-प्रशस्त कर्म करना या आत्मोद्धारक माङ्गलिक कर्म करना भी सत् कहा जाता है

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द पार्थ युज्यते ।[5]

अत यह स्पष्ट ही है कि 'सत' शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपो मे होता है जो चिरन्तन सत्य की अनुभूति कर चुका हो, जो दिव्य मधुर-ज्योति के दर्शन प्राप्त करके उसी मे सायुज्य प्राप्त कर चुका है, वही 'सत' है ।

निर्गुण कवियो ने भी साई और सत को एक ही माना है । पल्टू साहब के मता-नुसार 'राम' और 'सत' भिन्न नही है, दोनो मे पूर्ण एकात्मकता है

सत और राम को एक के जानियै
दूसरा भेद ना तनिक आनै ॥[6]

सत गरीब दास के मतानुसार भी 'साई और सत' मे कोई भेद नही है

'साई सरीखे सत है यामे मीन न मेख' ।[7]

कबीर दास को भी 'सत' और 'अनन्त' मे भेद नही उपलब्ध होता है । कारण कि मनसा-वाचा-कर्मणा 'सत' तथा 'साहब' एक ही हैं, उनमे भेद के लिये लेशमात्र भी स्थान नही है

---

१ गीता, अध्याय १७, श्लोक २३ ।
२ गीता, अध्याय १७, श्लोक २७ ।
३ गीता, अध्याय १७, श्लोक २७ ।
४ गीता, अध्याय १७, श्लोक २६ ।
५. गीता, अध्याय १७, श्लोक २६ ।
६ पलटू साहब की बानी—भाग २—पृष्ठ ८ ।
७ सत-बानी-सग्रह—भाग प्रथम—पृष्ठ १६८ ।

कबीर दरसन साध का साहिब आवै याद।
लेखे में सोई घडी बाकी के दिन बाद॥
साध मिले साहिब मिले, अतर रही न रेख।
मनसा वाचा कर्मना साधू साहिब एक॥[1]

अब यह प्रश्न उठता है कि सतो के लक्षण क्या है? इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि सतो की यथार्थ पहिचान बाह्य-लक्षणो से नही हो सकती है। सतो के लक्षण श्रीमद्भागवत तथा राम चरित-मानस मे सविस्तार उल्लिखित हुये है। श्रीमद्भागवत मे भगवान भक्त उद्धव से कहते हैं

"उद्धव! मेरा भक्त कृपा की मूर्ति होता है, वह किसी भी प्राणी से वैर नही करता, वह सब प्रकार से सुख-दु खो को प्रसन्नतापूर्वक सहन करता है, सत्य को जीवन का सार समझता है, उसके मन मे कभी किसी प्रकार की पाप-वासना नही उठती, वह सर्वत्र समदर्शी और सबका अकारण उपकार करने वाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओं से कलुषित नही होती। वह इन्द्रिय विजयी कोमल स्वभाव और पवित्र होता है उसके पास अपनी कोई भी वस्तु नही होती है, किसी भी वस्तु के लिये वह कभी भी चेष्टा नही करता है, परिमित भोजन करता है, सदा शात रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है, वह केवल मेरे ही आश्रय रहता है, निरन्तर मननशील रहता है, वह कभी प्रमाद नही करता है, गम्भीर स्वभाव और धैर्यवान होता है। भूख, प्यास, शोक, मोह और जन्म-मृत्यु इन छ पर विजय प्राप्त कर चुका है। वह स्वय कभी किसी से किसी प्रकार का मान नही चाहता है और दूसरो को सम्मान देता रहता है। भगवत्सम्बन्धी बातें समझने मे बडा निपुण होता है उसके हृदय मे करुणा भरी रहती है और भगवत्तत्त्व का उसे यथार्थ ज्ञान होता है।[2]

---

१ सत-बानी-सग्रह—भाग प्रथम—पृष्ठ २८।

२ कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षु सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा सम सर्वोपकारक॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदु शुचिरकिंचन।
अनीहो मितभुक् शान्त स्थिरो मच्छरणोमुनि॥
अप्रमत्तो गम्भीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुण।
अमानी मानद कल्यो मैत्र कारुणिक कवि॥

श्रीमद्भागवत् ११।११।२९-३१।

इसी प्रकार से सन्तो के लक्षणो को भगवान कपिलदेव ने माता देवहूती जी से[1] और योगीश्वर हरि जी ने राजा निमि से कहा है।[2]

'रामचरितमानस' मे श्री रामचन्द्र जी ने सतो के लक्षणो का उल्लेख करते हुए नारद से कहा है

सुन मुनि सन्तन्ह के गुन कहहू। जिन्ह ते मै उन्ह के वस रहऊ ॥
षट विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख धामा ॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद जोगी ॥
सावधान मानद मद हीना। धीर धर्म गति परम प्रवीना ॥

गुनागार ससार दुख रहित विगत सन्देह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहु देह न गेह ॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरिषाहीं ॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती ॥
जप तप व्रत दम सजम नेमा। गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा ॥
श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया। मुदित मम पद प्रीति अमाया ॥
विरति विवेक विनय विग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना ॥
दभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहि कुमारग पाऊ ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित पर हित रत सीला ॥
मुनि सुनि साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥

भगवान श्री रामचन्द्र जी ने भरत से भी सतो के चरित्र के सम्बन्ध में कहा है :

सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान विख्याता ॥
सत असतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी ॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगध बसाई ॥

---

१ तितिक्षव कारुणिका सुहृद सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रव. शान्ता साधव साधुभूषण ॥
मय्यनन्येन भावेन भक्ति कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्य क्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवा ॥
मदाश्रया कथा मृष्टा शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्‌गतचेतस ॥
त एते साधव साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिता।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य सङ्गदोषहरा हि ते ॥

श्रीमद्‌भागवत ३।२५।२१-२४।

२ श्रीमद्‌भागवत ११।२।४८-५५।

तातें सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड॥

(मानस—उत्तर काण्ड दोहा ३७)

इसी प्रकार गीता में 'स्थितप्रज्ञ'[1] तथा 'प्रिय भक्त'[2] का उल्लेख करते हुये सन्तों के लक्षण बतलाये गये हैं। महाभारत के अन्यान्य स्थलों में तथा प्राय सभी पुराणों में सन्तों के लक्षणों का विशद वर्णन हुआ है।

सन्तों के लक्षण पर प्राय सभी विद्वान एक मत हैं। समस्त ग्रन्थों तथा विद्वानों के कथन का सार-तत्त्व यह है कि सन्त 'निस्त्रैगुण' तथा माया से विरक्त होकर आत्मोद्धारक प्रशस्त कर्म करने में संलग्न रहते हैं। वे निर्द्वन्द्व होकर शत्रु, मित्र, प्रिय अप्रिय सभी के प्रति सद्भाव रखते हुए जीवन में समदर्शिता को अपनाते हैं। वे सदैव नित्यसत्त्वस्थ कार्यों में संलग्न रहते हैं, वे सतत् निर्योगक्षेम होकर ईश्वर का भजन करते हैं। सन्त आत्म-निष्ठ होकर समस्त शुभाशुभ कर्मों को भगवान के चरण कमलों में अर्पित कर देते हैं। हर्ष-शोक, ममत्व-परत्व सन्तों को स्पर्श नहीं कर पाता है। संसार में वे 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' निवास करते हैं। परहित हेतु वे सतत् प्राणोत्सर्ग करने के लिये उद्यत रहते हैं।[3] सन्त इच्छाओं एवं कामनाओं के बन्धन में नहीं बंधते हैं। वसुधा ही उनका कुटुम्ब है। ज्ञान-योग, निष्काम-कर्म-योग, भक्ति-योग, प्रपत्ति-योग और अष्टांग-योग आदि सभी परमात्मा की प्राप्ति के साधन हैं। जिसकी जिस साधन-मार्ग में रुचि होती है, वह उसी मार्ग से चल कर परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। ब्रह्म की आराधना में अनुरक्त भक्तों और सन्तों का चरित्र समाज में मधुर प्रकाश और ज्योति का प्रचारक एवं प्रसारक होता है। वे प्रकाश स्तम्भ की भांति स्वत जल कर दूसरे के पथ को आलोकित करते रहते हैं। सन्त-जन का व्यक्तित्व स्वार्थ के लिये नहीं, परमार्थ के लिये होता है। यथा चन्द्रमा की शीतलता, सूर्य में उष्मा और प्रकाश और अग्नि में दाहिका शक्ति स्वाभाविक रूप से विद्यमान होती है, उसी तरह सन्तों के चरित्र में परोपकार, उदारता, विश्वबन्धुत्व और क्षमाशीलता आदि स्वाभाविक गुण होते हैं।

सन्त घन के समान परमार्थी होते हैं, जो अपनी स्थिति विनष्ट करके दूसरों को शीतलता प्रदान करते हैं, और सुख-दुःख में एक ही समान धैर्यवान और निर्लिप्त रहते हैं।

साध बड़े परमार्थी घन ज्यों बरसे आय।
तपन बुझावे और की अपनो पारस लाय॥

---

१ गीता, अध्याय २, श्लोक ५५ से ७२।

२ गीता, अध्याय १२, श्लोक १३ से २०।

३. स० वा० स० भाग १—पृष्ठ २७।

सुख दुख एक समान हैं हरष शोक नहि व्याप।
उपकारी नि कामता उपजै क्षोभ न ताप ॥

(स० वा० स० भाग १, पृ० २७)

सन्तो के जिन गुणो का उल्लेख ऊपर हो चुका है, उन्ही गुणो का उल्लेख हिन्दी के निर्गुण कवियो ने भी किया है।

कबीर दास के मत से सन्तो के लक्षण है, निर्वैरी, निष्काम, हरि-भक्ति-तत्पर और विषय विरक्त होना।[1]

निरवैरी निष्कामता साँई सेती नेह।
विषिया सूंन्यारा रहै साधन का मत एह ॥

(स० वा० स० भाग १, पृ० २७)

दरिया साहब के शब्दो मे सतो के लक्षण निम्नलिखित है

दरिया लच्छन साध का, क्या गिरही क्या भेष।
निहकपटी निरसक रहि, बाहर भीतर एक ॥[2]

इसी प्रकार सत तुलसी साहब, पलटू साहब, गरीबदास, दरिया साहब (मारवाड वाले), दादू तथा दयाबाई आदि ने सत के लक्षणो का उल्लेख सविस्तार किया है। दया बाई के मत से सत वही है, जो षट विकारो से रहित हो और काम, क्रोध, मद, लोभ जिसका स्पर्श नही कर पाते, ऐसा व्यक्ति ब्रह्म भाव रस मे सर्वदा लीन रहता है। दान और दीनता से सदैव सम्पन्न रहता है तथा दूसरो के हृदय को शीतलता प्रदान करता है

काम क्रोध मद लोभ नहि षट विकार करि हीन।
पथ कुपथ न जावही, ब्रह्म भाव रस लीन ॥
दया दान अरु दीनता, दीना नाथ दयाल।
हिरदे सीतल दृष्टि सम, निरखत करै निहाल ॥[3]

तुलसी साहब के शब्दो मे सत घट-घट के 'जाननहार' है और उनके हृदय मे जीवो के प्रति दया होती है।[4] सहजोबाई के शब्दो मे साधु से मिलते ही सारे दु ख दूर हो जाते है और व्यक्ति जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है

---

१ स० वा० स० भाग १—पृष्ठ २७।
२. सत बानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ १२८।
३ सत बानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ १७७।
४ सतन मे मागे नही घट घट जानन हार।
जीव दया हिरदै बसे नाहक करत विचार ॥

सत बानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ २२९।

साध मिले दुख सब गये मगल भये सरीर ।
बचन सुनत ही मिटि गई जनम मरन की पीर ॥[१]

दादू के शब्दो मे सतो के गुण पठनीय है

साध सबद सुख बरिख है सीतल होई सरीर ।
दादू अतर आतमा, पीवै हरि जल नीर ॥[२]

इसी प्रकार अन्य सन्त कवियो ने भी सतो के लक्षण बताये है, परन्तु सब एक मत मे यह स्वीकार करते हैं कि सत विवेकी, दया, क्षमा, त्याग, शील, विश्वबन्धुत्व मे विश्वास रखने वाला तथा समस्त विकारो से परे है। उसका व्यक्तित्व समाज के लिये एक वरदान है। वह जहा रहता है अपने चारो ओर ज्ञान के आलोक मे सबको आलोकित करता रहता है। आध्यात्मिकता का वह व्यवहार सिद्ध रूप है। वह आध्यात्म चेता तथा दृष्टा होता है। वह अपनी अभ्यन्तरिक अनुभूति के कारण ससार के सामान्य स्तर से उच्च उठ जाते है। सत जन असग और निर्लेप रहते हैं।

ससार मे सत विरले हैं। बडे भाग्य से उनके दर्शन होते है। 'नारद-भक्ति-सूत्र' मे भी उल्लेख मिलता है

'सत्सङ्गोदुर्लभोगम्योऽमोघश्च ।'

गोस्वामी तुलसी दास ने भी सत सगति की बडी सराहना की है।[३]

सत समूह बनाकर विचरण करने वाले प्राणी नही होते है। वे एकान्त मे साधना करते हुये ही जीवन यापन करते है। सत कबीर के शब्दो मे सिंह, हस तथा रत्न समूह मे नहीं उपलब्ध होते हैं न इनकी जमात ही होती है, ये एकाकी विचरण करते हैं।

सिंहों के लेहडे नहीं, हसो की नाहि पात ।
लालो की नहि बोरिया, साध न चलै जमात ॥[४]

गरीबदास जी के मतानुसार

पडित कोटि अनन्त है, ज्ञानी कोटि अनन्त ।
स्रोता कोटि अनन्त है, विरले साधू सत ॥[५]

---

१ सत बानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ १७८ ।
२ सत बानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ ८६ ।
३. सत सगत दुर्लभ ससारा ।
निमिष दड भरि एकउ बारा ॥
४. सत बानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ २८ ।
५. सत बानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ १६६ ।

सतो का व्यक्तित्व हसो के समान है। जिस प्रकार पक्षियो मे हस श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार मनुष्यो मे सत श्रेष्ठ होते हैं

सत सरोवर हस है, मच्छन फरैं विचार।
पहुप वासना ज्यू रहें, राइ रच न मार ॥[1]

सत का व्यक्तित्व समाज के लिये एक वरदान है। वह जहां रहता है, अपने चारो ओर सब को ज्ञान के आलोक से आलोकित करता रहता है। आध्यात्मिकता का वह व्यवहार सिद्ध रूप है। वह आध्यात्म चेता तथा द्रष्टा होता है। वह अपनी अभ्यन्तरिक अनुभूति के कारण ससार के सामान्य स्तर से उच्च उठ जाता है। सत-जन असग और निर्लेप रहते है। उनकी गति ससार मे नितान्त प्रतिकूल रहती है। ससार जिसे सुख मानता है उसे वे अभिशाप मानते है। ससार जिस मोह बन्धन मे सहर्ष बध जाता है। उसका अपनी इच्छा से वे परित्याग कर देते हैं। ससार मृत्यु को देखकर सिहर उठता है। परन्तु सत-जन उस मृत्यु का आलिगन प्रसन्नतापूर्वक करने को उद्यत रहते हैं। ससार प्रवृति मे विश्वास करता है और वे निवृत्ति के मार्ग से साधना के क्षेत्र मे अग्रसर होकर प्रवृत्ति को निरर्थक सिद्ध करते हुये सत्य की अनुभूति करते हैं। साधारण ससारी मृत्यु के अनन्तर मुक्ति का स्वप्न देखता है, परन्तु सत मृत्यु के अनन्तर प्राप्त होने वाली मुक्ति पर विश्वास नही करता है। कारण वह जीवन मुक्ति मे आस्था रखता है। दादू के शब्दो मे—

निकट निरजन लागो रहे, तब हम जीवन मुक्त भये।
मर करि मुकति जहाँ जग जाय। तहां न मेरा मन परिताइ ॥
आगे जनम लहै औतारा। तहां न मानै मन हमारा ॥
तन छूटै गति जो पद होइ। निरतक जीव मिलै सब कोई ॥
जीवते जनम सुफल करि जाना। दादू राम मिले मन माना ॥

(शब्द सग्रह)

सिद्ध घोडा चोली के मत से वही सत योगीन्द है जो साधना मार्ग मे तत्पर हो और सर्जन की लहर को अन्तर्मुखी करके आत्म निमग्न हो जाता है।

रावल ते जे चालै राह, उलटी लहरि समावै माह[2]

सतजन वस्तुत त्रिभुवन के ऐश्वर्य का लोभ दिखाने या सम्पूर्ण विश्व के भोग उपस्थित होने पर भी लवनिमिषार्ध तक के लिये प्रभु के चरणारविन्द से मन नही हटाते। परन्तु दुःखी, ससृतिग्रस्त प्राणी अरविन्दनयन प्रभु के चरणारविन्द के विजल्कका अनुपम स्वाद नही जानते। अतएव अर्थ काम के लिये ही या बहुत हुआ तो दुःख मुक्ति या ससृति मोक्ष के लिये सतो के पास जाता है। इस पर सत जन दयार्द्र

---

१ सत बानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ १९९।
२ योग प्रवाह, डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, पृष्ठ १५९।

होकर अपने मनकी बात भगवद् ध्यान को ही सभी सुख सौभाग्य का उपाय बतला देते हैं। वे उपदेश देते है कि यदि कोई भोग ही चाहता है तो बडे शान्त तथा सौम्य उपाय से थोडी सी भगवान की आराधना करते हुये भी सुख सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है।

सतो की रहनी और करनी ससार से नितान्त पृथक् और भिन्न होती है। सत सदैव शान्त रहते है। वे सदैव ब्रह्मानन्द मे निमग्न रहते हैं। उल्लास की लहरें उनके हृदय मे हिलोरें मारा करती है। वे सदा के लिए कर्म बीज को भून सा डालते हैं, और साई के रग मे अनुरजित रहते है। ससार मे न उनका किसी से प्रेम होता है न वैमनस्य। वे जैसा सोचते है, वैसा ही कहते है और वैसा ही करते भी है। इस तरह उनके विचार, वचन और क्रिया के विभिन्न मार्गों मे विभाजित नही होते अपितु एक ही मार्ग से प्रवर्तित और एक ही उद्देश्य सूत्र से समन्वित होने के कारण उनकी वाणी मे असम्भव को भी सम्भव कर देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

सतो का जीवन कथनी और करनी का सुन्दर समन्वय होता है। वे जो कुछ कहते है, वही करते है। दूसरो को मनुष्य उपदेश तभी दे सकता है जब स्वय क्रियाशील हो। केवल बातो के द्वारा लक्ष्य की पूर्ति असम्भव है। कबीर के शब्दो मे—

कथनी मीठी खाड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करै, विष से अमरत होय॥[1]

कथनी तो खाड की भाति मीठी मालूम होती है और करनी विष की गोली के समान। यदि मानव कथनी को त्याग कर करनी मे लग जाय तो यही हलाहल अमृतवत् मधुर और जीवनोपयोगी बन जाय। केवल कथनी व्यर्थ है। इसका परित्याग करके करनी मे सलग्न होना चाहिए। कारण कि जल पिये बिना प्यास शान्त होना असम्भव है।

कथनी करनी छाडि के करनी से चित लाय।
नरहि नीर प्याये बिना, कबहू प्यास न जाय॥

दादू को ऐसे व्यक्तियो से बडा भय है जो कहते कुछ और है और करते कुछ और है। ऐसे व्यक्तियो पर भला विश्वास कैसे किया जाय।

दादू कथनी और कुछ करनी करै कछु और।
तिनसे मेरा जिव डरै जिसका ठीक न ठौर॥[2]

सत मलूक दास के शब्दो मे दीपक की बत्ती एव तेल के उल्लेख से अधकार का निवारण नही हो सकता है। अधकार तो तभी विनष्ट होगा जब तीनो को एकत्र करके प्रकाश किया जाय। कवि के शब्दो मे—

बातो तिमिर न भाजई दीवा बाती तेल।

---

१ स० बा० स० भाग १, पृष्ठ ४७।

२ स० बा० स० भाग १, पृष्ठ ९३।

सत चरण दास के अनुसार करनी से प्राय समुपस्थित कर लेने वाला सत स्वयं ब्रह्मवत् हो जाता है। कितने ही दम्भी आत्मज्ञान का ढोंग रचकर मर्त्य काल-कवलित हो गये और आज उनका निशान भी शेष नहीं है।

करनी बिनु कथनी इसी ज्यो ससि बिनु रजनी।
बिन साहस ज्यो सूरमा भूषन बिन गजनी॥
बाझ झुलावे पालना बालक नहि माही।
वातु विहीना जानिये जह करनी नाही॥
बहु डिम्ब करनी बिना कथि कथि कर मुये।
सतो कथि करनी करी हरि के सम हुये॥

परमात्मा को प्राप्त ये सत मुक्ति के द्वार हैं। ये मुक्ति और भक्ति का दान करते हुए हृदय मे देते है। ऐसे सत स्वय ही कृतार्थ नही होते है, वरन ससार सागर मे डूबते उतराते हुए असख्य प्राणियो का उद्धार करके उन्हे परमात्मा के परम धाम मे पहुचाने के सुदृढ जहाज बन जाते है। समस्त तीर्थ, तप व साधना उन्ही सतो मे एक स्थान पर उपलब्ध हो जाते है। उनका सग करके, उनके वचनानुसार आचरण करने पर उद्धार होता है। इसमे तो आश्चर्य ही क्या, उनके स्मरण मात्र से, केवल स्मरण करने वाले का मन ही नही उसका घर तक तत्काल विशुद्ध हो जाता है। महाराज परीक्षित मुनिवर शुकदेव जी से कहते है।

"आप जैसे महात्माओ के स्मरण मात्र से ही गृहस्थो के घर तत्काल पवित्र हो जाते है। फिर दर्शन, स्पर्श, पाद प्रक्षालन और आसनादि प्रदान का सुअवसर मिल जाय तब तो कहना ही क्या ?"[1]

यह सत 'सर्व भूताहिते रता' रहते है, सब का हित एक दूसरे के लिए होता है। सत ही ससार मे सर्व समर्थ है, तथा स्वत परतत्र है। सत पलटू दास के शब्दो मे

पलटू घर मे राम के और न करता, होय।
राम समीपी सत हैं वे जो करे सो होय॥

भवभूति के कथनानुसार सत अपने सुख दुःख भोग मे वज्र से भी कठोर होते है पर दूसरो के लिये वे कुसुम से भी कोमल होते है।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।

सन्तो के वचन कभी न बुझने वाली अमोघ दिव्य ज्योति है। दुःख, सकट, और पाप-ताप से प्रपीडित प्राणियो के लिये सत वचन सुख-शान्ति के गम्भीर और अगाध

---

१. येषा सस्मरणात् पुंसा सद्य शुध्यन्ति वैगृहा।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभि॥
(श्रीमद्भागवत)

समुद्र है। कुमार्ग पर जाते हुये जीवन को वहा से हटाकर सच्चे सन्मार्ग पर लाने के लिये सन्त वचन परम सुहृद बन्धु हैं।

सन्त-वाणी से क्या नहीं हो सकता। सन्त-वाणी मानव हृदय को तमोऽभिभूत, अवनत और पतित परिस्थितियों से उठाकर सहज ही अत्यन्त समुन्नत और समुज्ज्वल कर देती है। सन्त-वाणी से वासना-कामना के प्रबल आघातो से चूर्ण-विचूर्ण, दुर्बल-हृदय मे विद्युत-शक्ति के सदृश नवीनतम बल का सचार हो जाता है। जिन सन्तो की वाणी की इतनी महिमा है, जिसका इतना विलक्षण मगलमय परिणाम होता है, जिन सन्तो की वाणी की इतनी महिमा है, वे सन्त कौन है? उनका तात्विक रूप क्या है? उनके पहिचानने के लक्षण क्या है? स्वाभाविक रूप से ही ये प्रश्न उठते हैं।

सन्तो की यथार्थ पहिचान बाह्य-लक्षणो से नही हो सकती है। हा, यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो नित्य-सिद्ध सत्य तत्व का साक्षात्कार करके, उसकी अपरोक्ष उपलब्धि करके उस सच्चिदानन्द स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो चुके है, वह सत् ही चेतन है, वह चेतन ही आनन्द है अर्थात् वह सत् चित् और आनन्द रूप है। उस आदिमध्यान्तहीन सच्चिदानन्द मे जो सहज प्रतिष्ठित है, वे ही सन्त है।

हिन्दी मे 'सत' शब्द का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म के उपासक कवियो के लिये हुआ। उसके विपरीत 'भक्त' शब्द का प्रयोग सगुण ब्रह्मोपासको के लिये होता है।[1] हिन्दी वाङ्मय मे केवल निर्गुणवादी को सत कहने की परिपाटी चल पडी है, जो केवल व्यवहारिक मात्र कही जा सकती है। 'परम सत्य' का साधक चाहे अपने 'पिड' मे उसके दर्शन करे, चाहे पिंड के बाहर सृष्टि के अणु-अणु मे 'उसका' अनुभव करे, सत ही है। सगुण और निर्गुण मे विभाजक रेखा खीच कर एक को 'भक्त' और दूसरे को 'सत' कहने से इतिहास लेखन मे सुविधा हो सकती है, तथा ग्रहण मे नही।[2] डा० विनयमोहन शर्मा का मत है कि मराठी साहित्य मे 'सत' शब्द का व्यवहार व्यापक अर्थ मे होता है। उनका कथन है कि "वहाँ विष्णु के अवतार 'राम' के उपासक तुलसीदास सत है, और ब्रह्म के प्रतीक 'राम' का नाम स्मरण करने वाले निर्गुणी कबीर भी सत है। वहाँ भक्त और सत के बीच कोई भेद नही माना गया। जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन भाव को साध्य मानकर लोक-मगल की कामना करता है, उसे हम 'सत' की श्रेणी मे रखते है।[3] सतो ने अपनी निर्गुण-ब्रह्म विषयक जिस अनुभूति की साहित्य मे अभिव्यक्ति की वह साहित्य निर्गुण-काव्य के

---

१ हिन्दी को मराठी सन्तो की देन
डा० विनय मोहन शर्मा, पृष्ठ ५५।

२ हिन्दी को मराठी सन्तो की देन
डा० विनय मोहन शर्मा, पृष्ठ ५५।

३ हिन्दी को मराठी सन्तो की देन
डा० विनय मोहन शर्मा, पृष्ठ ५५-५६

रूप मे प्रसिद्ध है। निर्गुण-काव्य मे निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अनन्त, अनादि ब्रह्म की महत्ता का वर्णन है। अत निर्गुण-काव्य पर विचार करने के पूर्व निर्गुण शब्द पर विचार कर लेना आवश्यक है।

निर्गुण

कोष के अनुसार 'निर्गुण' शब्द का अर्थ है, 'गुणो से रहित।' व्याकरण की दृष्टि से निर्गुण शब्द का व्युत्पन्नार्थ है 'निर्गुतोगुणेभ्य' अर्थात् 'गुणो से विहीन या शून्य।' साहित्य मे 'गुण' शब्द का प्रयोग अनेक दृष्टियो से होता है। प्रभाव, शील, धर्म, प्रत्यचा, दुर्गुण, सगुण, सद्गुण आदि के अर्थो मे इस शब्द का प्रयोग निरन्तर साहित्य मे मिलता है। दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र मे जब 'गुण' शब्द का प्रयोग ब्रह्म के सम्बन्ध मे होता है, तब इसका तात्पर्य प्रकृति के अथवा से सम्बन्धित तीन गुण रजस, तमस, एव सत्व से होता है। उपर्युक्त तीन शब्दो का प्रयोग वैदिक साहित्य से लेकर आज तक देश के धार्मिक साहित्य मे किसी न किसी रूप मे होता आ रहा है। केवल ऋग्वेद मे इसका प्रयोग चार प्रकार से हुआ है।

(१) सत् (२) असत्
(३) रजस (४) तमस[1]

इन उपर्युक्त चारो शब्दो की व्यवस्था सायणाचार्य ने अपने भाष्य मे निम्नलिखित प्रकार से की है

(१) सत्—आत्मवत् सत्वेन निर्वाच्यम् अर्थात सत्व के माध्यम से जिस आत्मतत्व का विवेचन किया जा सके वही सत् है।

---

१. नासादासीन्नोसदासीत्तदानी
नासीद्राजो नो व्योम परोयत्।
किमस्वरीव कुहकस्य शर्म
न्नम्म किमासीद् गहन गभीरम्।१।
तम आसीत्तमसा गूढमग्ने
ऽप्रकेत सलिल सर्वभा इदम।
तुच्छ्येनाम्वपिहित यदासी
त्तपसस्तन्महिना जायतेकम्।२।
कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेत प्रथम यदासीत।
सतो वन्धनमसति निरवन्दन्
हृदि प्रतिष्दा कवयो मनीषा।३।

ऋग्वेद (नासदीय सूक्त)

(२) असत्'—शशविषाणवन्निरूपाख्यम् अर्थात् खरगोश की सींग की भाँति जिसका निरूपण नही हो सकता है, वही 'असत्' है।

(३) रजस—लोका रजास्युच्यन्ते इति यास्क अर्थात यास्क मे रज का अर्थ लोका लिया गया है।

(४) तमस्—आत्मतत्वस्यावरकत्वान्माया परमज भाव रूपाज्ञान मत्र तम उच्युच्यते-अर्थात् आत्मतत्व के आच्छादन करने वाले तत्व को 'तम्' कहा गया है। इसी का पर्याय शब्द या दूसरा रूप है 'माया'। 'माया' ही भावात्मक 'अज्ञान' है। अथर्ववेद मे भी कई एक स्थानो पर त्रिगुणात्मिका प्रकृति का उल्लेख किया गया है, उदाहरणार्थ

पुण्डरीक नवद्वार त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यक्ष मात्मन्वत् तद्वैब्रह्मविदो विदु ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण मे स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य मे सत्, रजस् और तमस् तीनो गुणो की स्थिति निश्चित हो चुकी थी। ऋग्वेद मे निर्गुण तत्पुरुष की भावना का प्रतिपादन हुआ है। कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरउपनिषद् मे भी 'गुण' के सम्बन्ध मे अनेक बार उल्लेख हुये है। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे 'पुरुष' को गुणो से विहीन या रहित माना गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे 'पुरुष' मे सर्वात्मावाद की स्थापना 'सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा' कह कर की गई है। इस उपनिषद् मे यह 'पुरुष' सूक्ष्म ब्रह्म के रूप मे भी ग्रहण किया गया है, उदाहरणार्थ,

एको देवा सर्वभूतेषु गूढ,
सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष सर्व भूताधिवास.
साक्षी चेतो केवलो निर्गुणश्च ॥[2]

अर्थात् समस्त प्राणियो मे एक ही देव, शक्ति या ब्रह्म की स्थिति है, वह ब्रह्म सर्वव्यापक, समस्त भूतो का अन्तरात्मा, कर्मो का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियो मे बसा हुआ, सब का साक्षी, सबको चेतना का वरदान देने वाला, शुद्ध एव निर्गुण है। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे उस पुरुष को मूर्त, व्यक्त साकार रूप मे परे और पृथक माना गया है। वह चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नही है, वरन् ध्यान के द्वारा ग्रहण किया जाता है।[3]

---

१ अथर्ववेद १०।८।४३।

२ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११।

३ वेदाहमेत पुरुष महान्तमा दित्यवर्ण तमस परस्तति।
त मेव विदित्वाति मृत्युमेति, नान्य पन्था विधतेऽयनाय ॥
श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।८।

वृहदारण्यकोपनिपद् मे पुरुप को 'अक्षर' कहा गया है। प्रस्तुत उपनिपद् मे कहा गया है कि यह परम पुरुप न स्थूल हैं, न सूक्ष्म है, न वृहद है न अल्प, न रूप रग युक्त है, न वायु और न आकाश। वह अमर, अप्राण, अमुख, अतेज, अरूप, अनादि, अनन्त है।[1] गुणो के आधार पर सृष्टि के विकास का सिद्धान्त निर्धारित करते हुये, कठोपनिपद् मे कहा गया है कि इन्द्रियो की अपेक्षा अनेक विपय श्रेष्ठ हैं, विपयो मे मन उत्कृष्ट है, मन से वुद्धि पर है और वुद्धि से महान् आत्मा है।

इन्द्रियेभ्य पराह्यर्था अर्थभ्यश्च पर मन ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्पर ॥

गुण के आधार पर सृष्टि के विकास की भावना सास्य-दर्शन मे वडे व्यापक रूप मे प्रस्फुटित हुई है। प्रकृति की परिभापा निश्चित करते हुये साख्य-दर्शन मे कहा गया है कि

सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति ।

अर्थात सत्व, रज और तम की स्थिरावस्था ही अव्यक्त प्रकृति है। प्रकृति के विकास के यही तीन मूल गुण हैं। साख्य मे जिस पुरुप का चित्रण हुआ है, वह 'निर्गुण' है। 'प्रकृति एव पुरुप' भिन्न गुण वाले पदार्थ हैं। इन दोनो के साहचर्य मे सृष्टि की स्थिति है। 'साख्यकारिका' मे तीन गुणो का विश्लेपण निम्नलिखित शब्दो मे हुआ है

सत्व लघु प्रकाशक मिष्टमुपष्टम्भक चल च रज ।
गुरु वरण कमेवतम प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति. ॥[2]

अर्थात् सत्व गुण का धर्म प्रकाश, रजम् का प्रगति तथा तमम् का आवरेण गुण है।

इसी प्रकार गीता मे भी इन त्रियोगुणो का उल्लेख कई वार हुआ है। हिन्दी के निर्गुण-कवियो की विचारधारा उपनिपदो तथा गीता से वहुत अशो मे प्रभावित है। निर्गुण-कवि गुणातीत, सत् रज, तममयी प्रवृत्ति से परे, निर्विकार एव सर्वव्यापी ब्रह्म के उपासक थे। सन्तो का ब्रह्म निराकार होते हुये भी ससार के कण-कण मे परिव्याप्त और विद्यमान है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वात्मा, देश-काल की सीमा से परे और अजरामर है। ससार का वडे मे वडा और छोटे से छोटा कार्य उसी ब्रह्म की इच्छा से सचालित होता है।

रज, तम और सत गुणो से परे ब्रह्म का यशोगान, एव महत्ता वर्णन हिन्दी के सत कवियो ने वडे समादर के साथ किया है। निर्गुण-ब्रह्म की अनुभूति और उसकी दिव्यता का वर्णन भी हिन्दी के निर्गुण-सतो ने वडे विस्तार और मनोयोग से किया है। पीछे कहा गया है कि निर्गुण-ब्रह्म से सम्वन्धित भावो की जिस साहित्य मे

---

१. वृहदारण्यक ब्राह्मण ८।७।२।
२. साख्य कारिका—१३।

अभिव्यक्ति हुई है वह निर्गुण-काव्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस निर्गुण-काव्य रचना का श्रीगणेश हिन्दी के युग प्रवर्तक कवि कबीरदास से हुआ। तेरहवी शताब्दी से लेकर अठारहवी शताब्दी तक निर्गुण ब्रह्मोपासक अनेक कवि आविर्भूत हुये। जिनमे कबीर, रैदास दादू नानक, सुन्दरदास, मलूकदास, दरिया द्वै, गरीबदास, सहजोबाई, दयाबाई पलटू-साहब आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

निर्गुण-काव्य एव इनके रचयिताओ का उल्लेख करने के पश्चात् निर्गुण-मत के आविर्भाव, विकास, एव प्रसार के आधार भूत कारणो की ओर ध्यान देना आवश्यक है परन्तु इसके पूर्व हम भक्ति-सम्प्रदाय के विकास का अध्ययन करेगे।

भक्ति सम्प्रदाय का विकास उपशीर्षक के अन्तर्गत सन्त-मत के आविर्भाव पर भी विचार किया जायगा। सन्त-मत का विकास देश-काल की परिस्थितियो के अनुरूप हुआ। 'भक्ति-सम्प्रदाय का विकास' मे इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है।

भक्ति-सम्प्रदाय का विकास

भारतीय धर्म-साधना, उपासना अथवा भक्ति-भावना का चरम साध्य अथवा परम प्राप्य ब्रह्म है। साधना के विभिन्न मार्गो पर अग्रसर साधको की दृष्टि सतत् पारमार्थिक सत्ता पर ही केन्द्रीभूत रही है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य अथवा योग के पथ पर अग्रसर साधक अपनी दृष्टि सदैव परम प्राप्य पर ही केन्द्रित रखते आये है। स्वचित्त वृत्ति को सतत् अविच्छिन्न रूपेण स्व उपास्य परब्रह्म मे नियोजित एव संस्थापित कर देने एव उसमे अटल विश्वास स्थापित करने तथा अनन्य निष्काम प्रेम द्वारा उसी ब्रह्म मे चित्त वृत्ति को तल्लीन कर देने का ही नाम 'भक्ति' है। 'भक्ति' हृदय की उस दिव्य एव उदात्त भावना का नाम है, जिसमे मानव जहा एक ओर पूर्ण भाव से परब्रह्म मे अनुरक्त हो और सर्वतोभवेन अपने को ब्रह्मार्पण करने वाला है, वहा साथ ही ब्रह्म द्वारा विरचित इस समस्त सृष्टि के प्रति सेवा की भावना से सम्पन्न भी हो। इसी भाव से प्रेरित होकर ऋग्वेद मे कहा गया है कि

मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ॥[1]

ब्रह्म के चरणो मे पूर्णतया आत्म-समर्पण कर देने वाला वेद का भक्त कहता है कि मै सब प्राणियो को मित्र की दृष्टि से देखू और सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखने वाले हो।

भक्ति का वास्तविक अर्थ होता है, सेवा। यह सेवा अनेक प्रकार से सम्पन्न होती है। भक्ति का दूसरा अर्थ ईश्वर विषयक अनुरागी भी होता है। शुक्ल-यजुर्वेद मे

---

१ ऋग्वेद संग्रह—पृष्ठ ८०।

उल्लेख हुआ है कि जन्म मृत्यु रूप महा भयकर वन्धन मे सदैव के लिए छुटकारा या मुक्ति पाने के हेतु भगवन स्वरूप ज्ञान या भक्ति अत्यधिक आवश्यक है ।

तमेवविदित्वाति मृत्युमेति
नान्य पन्था विद्यते यनाय ।

तथा, (शुक्ल यजुर्वेद ३१।१८)

य इत तद्विदुस्ते अमृतत्वमानुश ।
(ऋग्वेद १।१६४।२३)

भारतीय साधको ने सदैव से अपने जीवन एव साधना को इतना अभिन्न या अपार्थक्य प्रदान किया कि उनको साधना के लक्ष्य और जीवन के उद्देश्य मे कभी कोई अन्तर अवशिष्ट न रह गया । वास्तव मे उनकी भावना और उनका जीवन एक दूसरे का पूरक बन कर उनके जीवन-पथ को सदैव से आलोकित करता रहा है। ससार के जितने भी सम्बन्ध होते है, उनमे उपासक एव उपास्य का सम्बन्ध सबसे मधुर तथा महत्व का होता है। कारण कि, इन दोनो के मध्य मे एक ऐसी पुनीत भावना विद्यमान रहती है, जो हृदय की सर्वोत्तम एव सर्वाधिक उदात्त प्रवृत्ति मानी जाती है। यह प्रवृत्ति भक्ति, श्रद्धा या प्रेम शब्दो के रूप मे अभिव्यक्त की जा सकती है । भक्ति का सूत्रपात वेदकाल मे हो चुका था । वेदो के निम्नलिखित मन्त्रो मे भक्त की तन्मयता अभिव्यक्त हुई है । कहना न होगा कि इनमे भक्ति के तत्व स्वत विद्यमान है ।

(क) यो भूत च भव्य च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवल तस्मै जेष्ठाय ब्रह्मणो नम ।।[1]

(ख) यस्य भूमि प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिव यश्चक्रे मूर्धानि तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणो नम ।।[2]

(ग) गूहता गुह्य तमो वियात विश्वमत्रिणाम् ।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ।।[3]।

उपर्युक्त उद्धरणो मे भक्त ने वडी ही तन्मयता के साथ विशाल प्रभु के चरणो मे अपने को नतमस्तक होकर समर्पित किया है । निम्नलिखित मन्त्र मे भक्त निवेदन करता है कि प्रभु अशरण-शरण हैं । उन्ही की असीम अनुकम्पा से साधक का उद्धार होता है।

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ।
त्व यज्ञेषु ईड्य ।।[4]

---

१ अथर्व० १०।८।१।
२ अथर्व० १०।७।३२।
३ ऋग्वेद १।८६।१०।
४ ऋग्वेद ८।११।१०।

एक मत्र का प्रतिपाद्य यह है कि जिस समय मानव जीवन नौका इस ससार रूपी भवसागर मे अस्थिर हो जाती है, उस समय, उस क्षण करुणागार परमात्मा ही आशा की प्रेरणा देते है।

उद्यान ते पुरुष नावयान जीवातु
ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृत सुख रथम्
अथ जिर्विविदथ मा वदासि ॥[1]

वेदो मे श्रद्धा और भक्ति-भावना का रूप बडा उदात्त है। वेदो का भक्त इस विश्व को दुःखदायक एव असम्पूर्ण नही समझता है। यदि मन भक्ति मे सदैव लीन रहे तो ससार बडा रमणीय है। इसी भाव की अभिव्यक्ति निम्नलिखित श्लोक मे हुई है।

वसन्त इन्नु रन्त्य ग्रीष्म इन्नु रन्त्य ।
वर्षाण्यनुशरदो हेमन्त शिशिर इन्नु रन्त्य ॥[2]

इन उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदो मे भक्ति के उदात्त और पुनीत उद्गार अनेक स्थलो मे अकित किये गये है। वास्तव मे वेद ही भक्ति के आदि स्रोत है। वेदो मे भक्ति और भक्त के रूप स्वरूप[3] पर बडे विस्तार के साथ विचार प्रकट किये गये है। यजुर्वेद मे एक भक्त के हृदय से प्रस्फुटित अत्यधिक भावुकता से सम्पन्न नमस्कारात्मक आत्म-निवेदन बडा रोचक है। प्रस्तुत भाव निम्नलिखित मत्र मे व्यक्त किया गया है

यस्येमेहिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र रसया सहाहु ।
यस्येमा दिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधम ॥[4]

अर्थात् जिसकी महिमा का गान हिमाच्छादि पर्वत पर कर रहे है, जिसकी भक्ति का गान समुद्र अपनी सहायक नदियो के साथ सुना रहा है और ये विशाल दिशाए जिनके बाहुओ के सदृश्य है, उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म को हमारा नमस्कार है।

सत्य यह है कि वेदो मे ईश्वर भक्ति के विषय मे जो मत्र उपलब्ध होते है वे इतने सारगर्भित तथा रस से ओत-प्रोत है कि उनसे बढकर भक्ति का सोपान अन्यत्र मिलना कठिन ही नही असम्भव है।

---

१ अथर्व० ८।१।६।

२ सामवेद ६।३।१३।२।

३ तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्य मयि धेहि,
बलमसि बल मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि,
महोऽसि महोमयि धेहि ॥
(यजुर्वेद)

४. यजु०, २५।१२।

वेदों को सहिताओ में भक्ति-तत्व

वेदो की भाति वेदो की सहिताओ मे भी भक्ति-तत्व उपलब्ध होते है। अथर्ववेद-सहिता मे कहा गया है कि जिससे मोक्ष सुख प्राप्त होते है तथा जिससे इस लोक एव परलोक के सुख प्राप्त होते है, उस ब्रह्म को प्रणाम है। जो महान् सुख पारमार्थिक अनन्त सुख प्राप्त कराता है, तथा जो सब प्रकार के सुखो का देने वाला है, उम दिव्य शक्ति परमात्मा को नमस्कार है। जो परमेश्वर कल्याण-स्वरूप है, तथा स्वभवतो का भी कल्याण कर होने के कारण परम कल्याण रूप है, उसे प्रणाम है। विश्व-रूप अविनाशी देव हमारे लिये प्रसन्न है। प्राणो का प्रेरक एवं शरीरो का अन्तर्यामी महादेव हमारे शाश्वत शान्ति सुख के अनुकूल हो

ऊ श नो अज एकपाद देवो अस्तु
श नोऽहिर्वुध्य श समुद्र ।
श नो अपानपात पेरूरस्तु
श नः पृश्निर्भवत देवगोपा ॥[1]

अथर्ववेद-संहिना मे एक स्थान पर उल्लेख हुआ है '

देव। सस्फान। सहस्त्रापोषथस्योशिपे। तस्य नो रास्व, तस्य नो धेहि, तस्य ते भक्तिवास स्याम।[2]

अर्थात् हे ब्रह्म ! हे देव ! तू आध्यात्मिकादि असख्य शाश्वत पुष्टियो का स्वामी है। अत हमे उन पुष्टियो का तू दान कर उनको हमारे में स्थापन कर। अत हम उस महान् अनन्त पुष्टि पति प्रभु की भक्ति से युक्त हो।

उपनिषदो मे भक्ति

उपनिपद् ज्ञान, भक्ति तथा कर्म विपयक चर्चा एव विवेचन के आगार एवं आधार है। भाति-भाति की अप्रस्तुत योजनाओ के द्वारा इन उपनिषदो मे विषय प्रतिपादन और भी रोचक बना दिया गया है। इन उपनिपदो मे भक्ति विषयक तत्व बडी प्रचुरता के साथ मिलते हैं। केनोपनिषद्[3], कठोपनिपद्[4]

---

१. अथर्व स०, १६।११।३।

२. अथर्व स०, ६।१६।३।

३. तद्वनमित्युपासितव्यम्। (केनोपनिषद् ४।६)

४. (क) ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयथत्यपान प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनभासीन विश्वेदेवा उपासते ॥
(कठोपनिषद् २।२।३)

(ख) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेध्या न वहुना श्रुतेन।
यमेवैप वृण तेन लभ्य, स्तस्यैप आत्माविवृणुते तनूं स्वाम् ॥
(कठोपनिषद् १।२।२३)

मुण्कोपनिषद्[1], छान्दोग्योपनिषद्[2], श्वेताश्वतर उपनिषद्[3] आदि मे भक्ति और भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले अनेक तत्वो का प्रमुख एव प्रासागिक रूप से उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् भक्ति-भावना और भक्ति के तत्वो से शून्य नही है।

कठोपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद रहस्यपूर्ण तथा भक्ति से ओत-प्रोत श्लोको के लिये प्रसिद्ध है। यहा पर इन दोनो ग्रन्थो मे एक एक श्लोक उद्धृत किया जाता है। प्रथम श्लोक कठोपनिषद् से ग्रहण किया गया है। इसमे कहा गया है कि ब्रह्म अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है। आत्मा प्राणी की हृदय-गुहा मे अवस्थान करती है। निष्काम-साधक ईश्वर की अनन्त कृपा से उस आत्मा के दर्शन करता है। उसके दर्शन करने पर साधक मे सर्वज्ञता का आविर्भाव होता है तथा वह साधक शोकादि भावो से उत्तीर्ण हो जाता है

अणोरणीयान् महतो महीया,
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको,
धातु प्रसादान्महिमानमात्मन ॥[4]

मुण्डकोपनिषद् मे उद्धृत प्रस्तुत श्लोक मे रहस्यवादी भावना प्रतिविम्वित होती है। प्रस्तुत श्लोक भक्ति के भाव एव तत्वो को भी स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

द्वा सुपर्णं सयुजा सखाया
समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्य
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥[5]

---

१ प्रणवोधनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
(मुण्डक० २।२।४)

२ छान्दोग्य उपनिषद् मे प्रतीक उपासना का भी उल्लेख मिलता है
मनो ब्रह्मेत्युपासीत।
(छान्दोग्य० ३।१८।१)
आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत।
(छान्दोग्य० ३।१९।१)
तथा,

३ तप प्रभावाद् देवप्रसादाच्च
ब्रह्म ह श्वेताश्वतोऽथ विद्वान।
(श्वेताश्वतार उ० ६।२१)

४ कठोपनिषद् १।२।२०।

५. मुण्डकोपनिषद् ३।१।१।

इस प्रकार इन उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदो मे उत्कृष्ट कोटि की भक्ति एव रहस्य भावना अभिव्यक्त हुई है।

पुराणों मे भक्ति

उपनिषदो के समान ही पुराण भी भक्ति के तत्वो से सम्पन्न हैं। 'पुराण' पचम वेद के नाम से प्रसिद्ध है। वेदो के गूढ अर्थ को समझने के लिये पुराणो की सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। वायु पुराण[1], पद्म पुराण[2], वृहन्नारदीय पुराण[3], देवी पुराण[4], विष्णु पुराण[5], कूर्म पुराण[6] तथा शिव पुराण[7] आदि ग्रन्थो मे भक्ति की महत्ता

१ यो विद्याच्यतुरो वेदान सागोपनिषदो द्विज ।
न चेत् पुराण सविद्यान्नेव स स्याद् विचक्षण ।।
इतिहास पुराणाभ्याम् वेद समुपवृ हयेत् ।
विभेत्यल्यश्रुताद् वेदो मामय प्रहरिष्यति ।।
(वायु पुराण)

२ वेदेभ्य उद्धृत्य समस्त धर्मान् यो य पुराणोषु जगाद देव ।
व्यासस्वरूप जगाद्धिताप वन्दे तमेन कमलासमेतम् ।।
(पद्मपुराण क्रिया योगसार—१।३)

३ चण्डालोऽपि मुनि श्रेष्ठ विष्णु भक्तो द्विजाधिक ।
विष्णु भक्ति विहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिक ।।
(वृहन्नारदीय पुराण—३२।३९)

४ यथा तु व्यज्यते वर्णोविचित्रैं स्फटिको मणि ।
तथा गुणवशाद् देवी नाना भावेषु वर्ण्यते ।।
ऐको भूत्वा यथा मेघ पृथक्त्वनावतिष्ठते ।
वर्णतो रूपतश्चैव तथा गुणवशाज्जया ।।
(देवी पुराण ३७।९४ ९५)

५. सृष्टिस्थि त्यन्तकारणाद ब्रह्म विष्णु शिवात्येकाम् ।
स सज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दना ।।
(विष्णु पुराण—१।२।६२)

६ सर्वेषामेव भक्ताना मिष्ठ प्रियतमो मम
योहि ज्ञानेन मा नित्यमाराधयति नान्यथा।
(कूर्म पुराण उतरार्ध–४।२५)

७ ज्ञान मूल तथाध्या तस्य भक्ति शिवस्य च ।
भक्तेश्च प्रेम सम्प्रोक्त प्रेम्णस्तु श्रवणमतम् ।।
श्रवणस्य सता सङ्ग सङ्गस्य सद्गुरु स्मृत ।
अम्पन्ने च तथा ज्ञाने मुक्तिर्भवतिनिश्चितम् ।।
(शिवपुराण, ज्ञान सहिता ७८।३०।३१)

का ग.न किसी न किसी रूप मे किया गया। तात्पर्य यह है, कि भक्ति का क्रमिक विकास आदि काल से होता आया है, और पुराण इसी विकास शृ खला की कडी है।

गीता मे भक्ति-तत्व

विद्वानो का मत है कि भगवन् गीता समस्त शास्त्रो का सार है। वेदव्यास जी ने स्वत महाभारत के 'भीष्म-पर्व' मे कहा है कि

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्ये' शास्त्र सग्रहे।
य स्वय पद्मनामस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता॥
सर्व शास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरि।
सर्व तीर्थ मयी गगा सर्ववेदमयो मनु।[1]

अर्थात् केवल गीता का ही भली भाति अध्ययन करना चाहिये। अन्य शास्त्रो के अध्ययन की क्या आवश्यकता है? गीता स्वय पद्मनाभ भगवान के साक्षात मुख कमल मे नि सृत हुई है। गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्री हरि सर्व देवमय है। स्पष्ट है कि सर्व शास्त्रो से सम्पन्न गीता भक्ति-भावना और तत्वो से शून्य नही है। गीता भक्ति मे ओतप्रोत है। स्वय गीता का एक अध्याय ही 'भक्ति-योग' के नाम से प्रसिद्ध है। उस अध्याय मे भक्ति के समस्त तत्वो, महत्वो और उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है। भक्ति-योग साधना के लिये परम आवश्यक है, और साधक के लिये अमृततत्य समान प्राणदायिनी शक्ति से सम्पन्न है। इस भक्ति-योग मे अनुरक्त साधक ब्रह्म के मधुर स्वरूप मे विलीन होकर अजरामर हो जाता है। गीता के चतुर्थ अध्याय के पूर्वार्थ में भगवान् ने भक्ति की महिमा का गान करते हुए कहा है, कि जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते है, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूं

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।[2]

उसी प्रकार भगवान ने कहा है कि भक्ति मे सलग्न तथा लगे हुये साधुओ का परित्राण करने के लिये मे युग-युग मे अवतार ग्रहण करता हूँ।

परित्राणाय साधूना विनाशायच दुष्कृताम्।
धर्म सस्थापनार्थाय सम्भावामि युगे युगे॥[3]

भगवान ने ज्ञान-योग प्रकरण मे भी भक्ति (उपासना) की आवश्यकता पर विचार प्रकट किये है

१ महाभारत, भीष्म पर्व—४३।१२।
२. गीता, ४।११ का पूर्वार्ध।
३. गीता, ४।८।

ध्यानयोगपरो नित्य वैराग्य समुपाश्रितः ।[1]

भगवान ने अनेक स्थलो पर शरणागति रूप भक्ति का माहात्म्य भी वतलाया है ।[2] इस प्रकार गीता मे भक्ति का वडा व्यापक तथा भव्य रूप वर्णित हुआ है ।

लक्षण और महत्व

भक्ति के माध्यम से भक्त या साधक भगवान के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं

सा परानुरक्तिरीश्वरे ।[3]

व्रह्म, परम-सत्ता या परमात्मा मे अनुराग ही भक्ति है । देवर्षि नारद के मत से हृदय मे ईश्वर के प्रति प्रेम स्थापित करने को ही भक्ति कहते हैं

सात्वास्मिन् परमप्रेम रूपा ।

(नारद—सूत्र-२)

इसी प्रकार अद्वैत शिरोमणि आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को मन की एक विशेष एव उदात्त वृत्ति मानी है "द्रवी भाव पूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्प वृत्ति रूपा भक्ति "

तथा,

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसा वृत्तिर्भक्त रित्यामिधीयते ।।[4]

निरतिशयत्व (या वह अनुराग जिससे अधिक अनुराग का नितान्त अभाव होता है) ही भक्ति के लिये सवसे अधिक आवश्यक माना गया है । भागवत पुराण मे प्रेम या भक्ति निरतिशय होने के साथ ही साथ निर्हेतुक, निष्काम, तथा निरतर भी मानी गई है ।

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति. पुरुषोत्तमे ।[5]

भक्ति या प्रेम मे पूर्ण निष्कामता अपेक्षित होती है । किसी विशेष अपेक्षा से

१ गीता १८।५२ ।

२ चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्पर ।
वुद्धियोग मुपाश्रित्य मच्चित सतत भव ।।
मच्चित सर्व दुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि
—गीता (१८।५७-५८ का पूर्वार्ध ।)

३. शाडिल्य-सूत्र, सख्या २ ।

४. मधुसूदन कृत— 'भक्ति रसायन' ।

५. भागवत ३।२९।१२ ।

सम्पादित भक्ति निकृष्ट कोटि की भक्ति होती है। वैदिक काम्य कर्मों के उपासक के तुल्य, ऐसा भक्त 'अर्थात्' अर्थात हीन कोटि का भक्त होता है। ज्ञान प्राप्त किये बिना निष्काम-भाव का उद्रेक नहीं हो सकता है। इसी कारण ज्ञान भक्ति के क्षेत्र मे अत्याधिक उपेक्षित है। ज्ञानी कर्त्तव्य बुद्धि से ब्रह्म के प्रति प्रेम स्थापित करता है

आत्मारामाश्च मुनयो निग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्य हैतुकीं भक्ति मित्या भूत गुणो हरि ॥[1]

सच्ची भक्ति का अधिकारी आत्माराम मुनि ही होता है। भक्त के आनन्द को भक्त ही जानता है

निष्किञ्चना मय्यनुरक्त-चेतस
शान्ता महान्तो खिल जीव वत्सला।
कामैर नालब्धियो जुषन्ति यत्
तनैरपेक्ष्य न विदु सुखम् मम ॥[2]

ब्रह्म की परानुरक्ति रूपा भक्ति साधना रूपा भी है और यह साध्य रूपा भी है। यह स्वय ही उपाय है और साध्य ही स्वय उपेय भी है। यह परानुरक्ति रूपा भक्ति प्राप्ति का साधन भी है, और यह स्वत प्राप्ति रूपा भी है। उसका महत्व ब्रह्म के महत्व के समान ही बडा विशाल एव व्यापक है।

उपाधियाँ

भक्ति की सम्यक् साधना के हेतु भक्ति की अनेक उपाधियो का उल्लेख हुआ है। सामान्यतया भक्ति की दो उपाधियाँ वर्णित हुई है

(१) अन्याभिलाषा
(२) कर्म-ज्ञान योगादि मिश्रण

प्रथम विचारणीय है "अन्याभिलाषा"। इस उपाधि का सम्बन्ध पूर्णतया निर्गुण शाखा तथा ज्ञान-मार्ग से सम्बन्धित है। ज्ञान-भक्ति एव योग के भेद से यह तीन प्रकार की होती है। ज्ञान के अन्तर्गत "अह ब्रह्मास्मि" की भावना बलवती रहती है। कर्म के अन्तर्गत भक्ति रहित कर्म-काड का वर्णन रहता है और योग के अन्तर्गत हठयोग का वर्णन होता है।

कर्मज्ञान योगादि मिश्रण का सम्बन्ध ब्रह्म के सगुण रूप मे है। ज्ञान के द्वारा भक्त को भगवान के रहस्यो का आभास मिलता है। योगाभ्यास के माध्यम से भक्त स्वचित्त वृत्तियो को ईश्वर मे पूर्ण रूपेण लय करता है और कर्म द्वारा वह अपने उपास्य देव की सेवा का पूर्णानन्द लेता है। इसके भी ज्ञान, कर्म तथा योग तीन अग माने

१ भागवत् १।७।१०।
२ भागवत ११।१४।१७।

गये है। इस उपाधि के अन्तर्गत सकाम-भक्ति तथा उपमा-भक्ति की गणना की जाती है।

सकाम-भक्ति का सम्बन्ध भोग कामना मे होता है। यह भक्ति विशेष प्रकार के फलो और मनोवाछाओ की पूर्ति के लिये होती है। इसके भी तीन भेद हैं, सात्वकी, राजसी तथा तामसी। अब उपमा भक्ति विचारणीय है। उपमा चित् स्वरूप है। इसमे अविद्या, वासना, मोक्ष अदि के रहस्यो पर विचार करके उनकी स्थिति को प्रकाश मे लाया गया है। इसका सम्बन्ध निर्गुण ब्रह्म मे है। इसके तीन मुख्य अग है—साधना, भाव तथा प्रेम। भाव तथा प्रेम साधना भक्ति द्वारा साध्य है। रागानुराग तथा वैधी दो प्रकार की भक्तिया इसके अन्तर्गत आती हैं। इसके निम्नलिखित नौ लक्षण है

(१) अव्यर्थ, (२) कालत्व, (३) विरक्ति, (४) मानशून्यता, (५) आशावध, (६) समुत्कठा, (७) नामगान मे अभिरुचि, (८) गुण-कथन मे आस्था तथा (९) उसके निवासस्थान से प्रेम।

भक्ति-रस की उद्भावना

भक्ति रस की शास्त्रीय एव साम्प्रदायिक व्याख्या एव विश्लेषण बडे विस्तार और गाम्भीर्य के साथ वैष्णव धर्म के अन्तर्गत सम्पन्न हुई है। भक्ति-भावना का पूर्णतया विकास वैष्णव-धर्म की बडी भारी विशिष्टता है। वैष्णव-धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थो मे 'भक्ति' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और विवेचन किया गया है। विद्वानो का मत है कि भक्ति-शास्त्र का जितना प्रामाणिक विवरण वैष्णव भक्तो एव लेखको द्वारा हुआ है, उतना किसी अन्य धर्मावलम्बी लेखको द्वारा नही सम्पन्न हुआ। वैष्णव-धर्म मे भक्ति-रस को सर्वाधिक प्रधानता दी गई है। उस सम्बन्ध मे कहा गया है कि अन्य रसो का विकास, इसी प्रकृति भूत रस की विभिन्न विकृतियो के रूप मे हुआ है। वैष्णव साधको और विचारको ने भक्ति की भावदशा से ऊपर उठाकर रस दशा मे स्थापित किया और भक्ति-रस को सर्वश्रेष्ठ रस निर्धारित किया। वैष्णव-भक्तो ने भक्ति-रस के आधार उत्कृष्ट भाव मधुर भाव की रचना की। भक्ति-रस एव मधुर-भाव के विवेचन के लिये श्री रूपेण स्वामी ने "हरि भक्तरसामृत सिन्धु" तथा "उज्ज्वल नील मणि" ग्रन्थो की रचना की जो पाडित्य और गम्भीर विवेचन से परिपूर्ण है।

कहना न होगा कि, वैष्णवो द्वारा प्रतिपादित यह विषय बडा व्यापक और पाडित्यपूर्ण है। उन्होने अपनी विद्वत्ता के माध्यम मे एक नवीन रस को लेकर उसमे इतनी प्रौढता उत्पन्न कर दी, उसे इतना व्यापक बना दिया कि आज भी सहस्रो भक्त एक साथ उससे अवगाहन करके माधुर्य के प्रतीक परब्रह्म मे लीन होकर एकाकार हो जाते है। वैष्णव-जनो को माधुर्य-भाव की भक्ति का अवसर भगवान श्री कृष्ण की मधुर मूर्ति को उपासना मे सम्प्राप्त हुआ। वैष्णव-शास्त्रो मे भक्ति के लिये जिस उदात्त, मजुल और हृदयग्राही रूप का विश्लेषण किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

वैष्णव ग्रन्थो मे भक्ति-रस का जितना सुन्दर परिपाक हुआ है, उतना सुन्दर परिपाक अन्यत्र असम्भव नही तो कठिन अवश्य है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भक्ति-आन्दोलन का विकास तीन उत्थानो मे हुआ

(१) प्रथम उत्थान १५०० ई० पूर्व से लेकर ५०० ई० तक।
(२) द्वितीय उत्थान ७०० ई० से लेकर १४०० ई० तक।
(३) तृतीय उत्थान १४०० ई० से लेकर १६०० ई० तक।

भक्ति का प्रथम-उत्थान

भक्ति का प्रथम-उत्थान १५०० ई० पूर्व से लेकर ५०० ई० तक माना जाता है। इस युग की विस्तार सीमा सात्वतो के विकास से लेकर गुप्त नरेशो के उदयकाल तक है। भागवत-धर्म का अभ्युदय केन्द्र स्थल मथुरा मडल है। भगवान श्रीकृष्ण का जन्म सात्वत वशीय (या यादव वशीय) क्षत्रियो मे हुआ था। भागवत-धर्म का विकास इसी क्षत्रिय वश द्वारा हुआ। कालान्तर मे इस सात्वत वश ने शूरसेन मडल से हटकर अपनी शक्ति का केन्द्र दक्षिण तथा पश्चिम मे बनाया। 'ऐतरेय ब्राह्मण' से पता चलता है, कि सात्वत लोग दक्षिण देश के निवासी थे। सात्वतो ने ही भागवत-धर्म का प्रचार उत्तर भारत से दक्षिण मे जाकर किया। इस प्रकार सात्वत ने भागवत-धर्म के सूत्र से उत्तर एव दक्षिण भारत को सदैव के लिये बाध दिया। महाभारत के नारायणीय-पर्व का सम्बन्ध इसी उत्थान के आरम्भिक के युग से है। शैशुनाग तथा मौर्यवशी शासको के पतन के अनन्तर शुगवशी राजवश भागवत-धर्म का बडा भारी प्रचारक और सहायक बना शुग वशी राजवश के राज्यकाल मे भागवत-धर्म का प्रचार मध्य भारत तथा पश्चिमी भारत मे हुआ। शुगवशी शासक भद्रक के राज्यकाल मे दूत बन कर आने वाले यूनानी राजदूत हेलियोकर परम भागवत था। चतुर्थ एव पचम ईसवी वैष्णव-धर्म का स्वर्ण-युग माना जाता है, कारण कि इसी समय परम भागवत गुप्त नरपतियो ने वैष्णव धर्म की ध्वजा दूर-दूर तक फहराई थी। गुप्त नरेशो के राज्यकाल मे वैष्णव-धर्म का बडा उत्थान हुआ। पाचरात्र सहिताओ उदाहरणार्थ 'अहिर्बुध्न्य', 'परम सहिता', 'सात्वत सहिता' आदि विद्वतापूर्ण ग्रन्थो की रचना भी इसी समय हुई। मध्य-युग मे भागवत-धर्म वैष्णव-धर्म का ही अग बन गया। अष्टम एव नवम् शताब्दियो मे वैष्णव-भक्ति के मार्ग मे दो जटिल समस्यायें उपस्थित हुई। जिनमे कुमारिल भट्ट का आन्दोलन था। उन्होने वैदिक याज्ञीय कर्मकाड को मुक्ति का साधन बताकर पुन उसे स्थापित करने की चेष्टा की। द्वितीय शकराचार्य का अद्वैतवाद था। इन दोनो ही मतो ने भक्ति के मूल उद्देश्य को हानि पहुचाई। भगवत-भक्ति के लिये उपास्य तथा उपासक दोनो ही परमावश्यक अग है। उपास्य के बिना उपासक की उपासना निर्मूल है तथा उपासक के बिना उपास्य देव की कोई भी सत्ता नही है। सच्चिदानन्द ब्रह्म के सत्, चित् एव आनन्द का यदि कोई अनुभव

करने वाला ही न होगा, तो उसकी सत्ता ही क्या ? किन्तु शकराचार्य के मिथ्यावाद के अन्तर्गत उपासक का कोई स्थान न था। इस मत से जनता मे वहुत असन्तोष फैला और इस समस्या का हल दसवी से चौदहवी शताब्दी तक होता रहा। इसी बीच मे रामानुजाचार्य, विष्णु स्वामी, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य आदि आचार्यो ने दक्षिण भारत से आकर उत्तरी भारत मे विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत आदि मतो का प्रचार जनता मे करके जीव और जगत की सत्यता स्थापित की।

वैष्णव-धर्म का प्राचीन नाम भागवत-धर्म तथा पाचरात्रमत है। विष्णु षट् ऐश्वर्यो के प्रतीक होने के कारण 'भगवत' शब्द के द्वारा अभिहित किये गये और उनकी भक्ति मे साधना करने वालो को 'भागवत' कहा गया। भागवत-सम्प्रदाय के आराध्य 'वासुदेव' का उल्लेख वैदिक-साहित्य मे सम्भवत प्रथम वार हुआ था। तैत्तरीय आरण्यक का दशम प्रपाठक इस दृष्टि से विचारणीय होगा।[1]

भागवत-धर्म के प्रमुख एव आधारभूत ग्रन्थ अहिर्बुध्न्य, परम सहिता, सात्वत सहिता हैं। इनके अतिरिक्त पाद्मतन्त्र, विष्णु सहिता, ईश्वर सहिता, कपिजल सहिता, शाडिल सहिता, नारद पाचरात्र, भारद्वाज सहिता, श्री प्रश्न सहिता आदि भी भागवतधर्म के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इस दृष्टि से भागवत भी महत्वपूर्ण रचना है। भागवत की भी अनेक टीकायें लिखी गई है। जिनमे से श्रीधर स्वामी कृत 'भावार्थ दीपिका' सुदर्शन सूरि कृत 'शुक पक्षीया' वीर राघव विरचित 'भागवत चन्द्रिका' विजय ध्वज पदरत्नावली, वल्लभाचार्य सुबोधिनी, शुकदेवाचार्य सिद्धान्त प्रदीप, सनातन गोस्वामी वृहद् वैष्णव तोषिणी, जीव गोस्वामी कमसन्दर्भ, विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत सारार्थदर्शिनी, श्री हरि कृत 'हरि भक्ति रसायन', विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भक्ति का द्वितीय-उत्थान (७०० ई० से १४०० ई० तक)

वैष्णव-भक्ति का द्वितीय-उत्थान तामिलनाड से हुआ। इस द्वितीय-उत्थान का श्रीगणेश आलवार सन्तो से हुआ और इसकी इति श्री वैष्णव आचार्यो मे हुई। आलवार तामिल भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है भगवत भक्ति-रस मे लीन व्यक्ति। द्वितीय उत्थान के अवधि काल मे द्रविड देश मे भक्ति का प्रचार और प्रसार वडे वेग से हो रहा था। द्रविड देश वैष्णव भक्ति का केन्द्र वन गया। समस्त भेद-भावो को परित्याग करके, मानव चाहे वह उच्च हो या नीच, धनी हो या निर्धन, वालक हो या वृद्ध, नारी हो या पुरुष, पूर्ण रूप से वैष्णव ब्रह्म की साधना मे सलग्न थे। आलवार भक्तो मे वारह साधको को विशेष ख्याति और प्रसिद्धि प्राप्त हुई। भक्ति भावना के प्रगाढ रग मे अनुरजित ये आलवार सत वेद मत्रो के समान पवित्र एव मधुर भावो से ओत

---

१ नारायण विदमहे, वासुदेव धीमहि।
तन्नो विष्णु प्रयोदयत ॥
—तैत्तरीय आरण्यक का दशम् प्रपाठक।

प्रोत सुन्दर अनुभूतियों को द्रविड भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करके जनता को भक्ति के महान् सरोवर मे अवगाहन कराया करते थे। आलवार-सत वडे भावुक और भावक थे। इस युग मे इन भक्तो के द्वारा चार सम्प्रदायो को जन्म प्राप्त हुआ

(१) निम्बार्क-सम्प्रदाय,
(२) श्री सम्प्रदाय,
(३) माध्व-सम्प्रदाय,
(४) रुद्र-सम्प्रदाय (विष्णु स्वामी)।

आलवार-सन्तो या भक्तो की दृष्टि मे आचार्य शकर का मायावाद भक्ति के मार्ग मे प्रतिबन्धक था। कारण कि भेद सिद्ध हो जाने के अनन्तर ही भक्ति का विकास या जन्म होता है। अद्वैत-दर्शन एव भावना भक्ति के मार्ग मे बडी बाधक है। इसी कारण इन आचार्यो ने बडी कुशलता और तर्क के साथ मायावाद की आलोचना और खण्डन किया।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के विद्वानो ने अपनी अनुभूतियो और भावो की अभिव्यक्ति देववाणी या सस्कृत के माध्यम से की। सस्कृत मे इन विद्वानो ने प्रस्थानत्रयी, उपनिषद् ब्रह्मसूत्र तथा भगवत गीता के प्रौढ भाष्यो की रचना करके दार्शनिक सिद्धान्तो को बल दिया और यह सिद्ध किया कि निम्बार्क-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो की वैदिक-सिद्धान्तो और परम्परा मे कोई भेद नही है वरन् निम्बार्कीय-सिद्धान्त-वैदिक परम्परा मे ही निर्मित हुए है। निम्बार्क-मत मे द्वैत एव अद्वैत दोनो ही के सिद्धान्तो को दशाभेद से स्वीकार किया गया है। इस मत के आचार्यो ने खण्डन-मण्डन की ओर उतना ध्यान नही दिया जितना उन्होने भजन-कीर्तन की ओर दिया था। ये राधा-कृष्ण के उपासक थे।

श्री वैष्णव तथा माध्व-सम्प्रदाय के आचार्य लक्ष्मी नारायण की आराधना मे विश्वास करते है। भक्ति की उपयोगिता और महत्व पर इनकी अपार श्रद्धा थी। दार्शनिक सिद्धान्तो की दृष्टि मे इनमे भेद था, परन्तु व्यावहारिक सिद्धान्तो मे कोई विशेष अन्तर नही था। वेदान्त के आचार्यो मे मध्वाचार्य का प्रमुख स्थान है। मध्वाचार्य ने सैंतीस ग्रन्थो की रचना की जिनमे 'ब्रह्मसूत्र भाष्य', 'अनुव्याख्यान', 'दशोपनिषद् भाष्य', 'गीता भाष्य' विशेष प्रसिद्ध है। इनके अनुसार रज्जु एव सर्प दोनो की पृथक् सत्ता है। इस प्रकार से इन्होने अद्वैतवाद का खण्डन किया। मध्वाचार्य ने सगुण ब्रह्म को स्वीकार किया और निर्गुण ब्रह्म का खण्डन किया। इन्होने सृष्टि को केवल निमित्त माना है। इनके मत से ससार मे पाँच भेद नित्य है

(क) ईश्वर तथा जीव भेद,
(ख) ईश्वर तथा जड जगत का भेद,
(ग) जीव तथा जगत का भेद,
(घ) जीव और जीव का भेद,
(ङ) जड और जड का भेद।

विष्णु स्वामी का रुद्र-सम्प्रदाय, उपर्युक्त तीनो सम्प्रदायो की तुलना मे उच्छिन्न

हो गया। परन्तु तृतीय उत्थान मे आचार्य वल्लभ ने इसे लोकप्रिय बनाकर इसका सम्यक् प्रचार किया।

दक्षिण भारत की इस धार्मिक जागृति की सबसे बडी विशेषता यह थी, कि भक्ति की यह लहर जनता मे भक्ति आन्दोलन के रूप मे प्रवाहित हुई। यहाँ तक कि उत्तर भारत को भी भक्ति की प्रेरणा देने का श्रेय भी दक्षिणी भारत के इसी आन्दोलन का है। दक्षिण भारत की श्रद्धालु जनता मे भक्ति की भावना एव ब्रह्म के प्रति आस्था स्थापित करने मे दो प्रकार के भक्तो का विशेष रूप से योगदान रहा है। इनमे से पहले कोटि के भक्त थे, शैव सन्त। इन शैव सन्तो की सख्या ६४ मानी जाती है, उपर्युक्त चौसठ सन्तो मे माणिक्क वचाक, सम्बन्ध, वागीश और सुन्दर के नाम विशेष समादर के साथ लिये जाते है। इनकी पीयूष-वर्षी, कल्याणकारी वाणी दो ग्रन्थ रत्नो मे सगृहीत है। इनमे से पृथक् का शीर्षक 'देवरम्' तथा द्वितीय का नाम है 'तिरुवाचकम्'।

आलवार सत ब्रह्म के सच्चे प्रेमी, उपासक, भावुक तथा ब्रह्म रूप मे निरन्तर अवगाहन करने वाले थे। 'अलवार' शब्द का अर्थ ही होता है 'आध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र मे गहरा गोता लगाने वाले भक्त-जन'। इन सन्तो या भक्तो की भाषा द्राविड या तामिल थी।

'आलवार युग' के पश्चात् 'आचार्य युग' का उल्लेख होना आवश्यक है। 'आचार्य युग' के भक्तो मे वैदिक कर्मकाड एव मीमासा के अनेक विद्वान थे। इन्होने तर्क तथा युक्ति के द्वारा भक्ति की महत्ता और जीवन के लिये उपयोगिता प्रमाणित की। इन्होने मायावाद का तीव्र खडन-मडन किया और यह प्रतिपादित किया कि ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का मार्ग जनता के लिये अधिक उपयोगी और सुगम है।

'आलवार भक्त' तथा 'आचाय भक्त' विष्णु-भक्ति के बडे ख्यातनाम एव प्रसिद्ध आचार्य थे, परन्तु दोनो मे किंचित् भेद या अन्तर भी विद्यमान था। आलवारो की साधना का आधार थी 'प्रपत्ति' या 'विशुद्ध भक्ति' परन्तु आचार्यों के जीवन का सार था, भक्ति एव कर्म का सुन्दर समन्वय। आलवार शास्त्रो के निष्णात विद्वान नही थे, वे भक्ति-रस मे आद्योपात डूबे हुये भावुक जन थे। परन्तु आचार्य वेदान्त के पारगत विद्वान होने के साथ ही तर्क एव युक्ति द्वारा अपने विषय का प्रतिपादन सुचारु रूप से करते रहते थे। सक्षेप मे आलवारो की भक्ति मे हृदय पक्ष की प्रबलता थी और आचार्यों मे बुद्धि पक्ष की दृढता थी। परन्तु दोनो का साध्य या गन्तव्य एक ही था।

आलवार भक्तो मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है, पोयगै आलवार भूतत्तालवार, पेयालवार भक्तिसार, शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णु चित्त, गोदा विप्रनारायण, मनिवाहन, तिरुप्पन तथा नीलन्। आचार्यो मे आद्याचार्य हुये रगनाथ मुनि। इनका समय सन् ८२४ ई० से ९२४ ई० तक है, इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'योगरहस्य' तथा 'न्यायतत्व'। इनके बाद यामुनाचार्य का उल्लेख आवश्यक है। इनके अनन्तर श्रीरगम् तथा राम मिश्र, उल्लेखनीय है।

आचार्य शिखामणि के प्रसिद्ध विद्वान थे श्री रामानुजाचार्य। रामानुज के प्रसिद्ध

ग्रन्थो के नाम है 'वेदार्थ सग्रह', 'वेदान्त सार', 'वेदान्त दीप', 'गद्यत्रय', 'गीता भाष्य', 'श्री भाष्य'।

भक्ति का तृतीय-उत्थान (सन् १४००-१६००)

भक्ति के तृतीय-उत्थान काल का प्रसार काल है, सन् १४०० से लेकर सन् १६०० ई० तक। यह आन्दोलन एकान्त जनान्दोलन के रूप मे भारतीय जनता के मध्य मे अभिव्यक्त हुआ। इस आन्दोलन का सम्बन्ध केवल तत्व-चिन्तको या शास्त्रचिन्तको तक ही सीमित नही रहा वरन् उसका प्रसार जनता के आन्दोलन के रूप मे हुआ। भक्ति के इस उत्थान का सम्बन्ध भारतीय जनता के उस स्तर से विशेष रूप से था जो युग-युग से अपेक्षित और अनादृत था। इस युग मे दो धाराओ मे भक्तिआन्दोलन का विकास हुआ। प्रथम धारा थी, राम-भक्ति-शाखा और द्वितीय कृष्ण-भक्ति-शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। राम-शाखा का विकास काशी मे हुआ, इनके प्रवर्त्तक स्वामी रामानन्द थे। स्वामी रामानन्द ने भक्ति का सरल मार्ग सभी वर्ण तथा वर्गों के लिये खोल दिया, उन्होंने सबसे पहली बार यह उद्घोषित किया कि जाति-पाति निस्सार है। जो हरि का भजन करता है वही हरि का प्रिय है।[1] मुसलमानो के भीषण अत्याचारो से पीडित भारतीय जनता को ब्रह्म की इतनी सहज तथा मधुर भक्ति इससे पूर्व किसी ने नही प्रदर्शित की थी। इस नवीन मार्ग पर चल कर भारतीय जनता को अपार आनन्द और ब्रह्मानुभूति का अनुभव हुआ।

स्वामी रामानन्द के द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तो से निर्गुण एव सगुण-ब्रह्म विषयक भक्ति की दो धारायें प्रस्फुटित हुई। निर्गुण तथा सगुण-धारा की कर्णधार दो महान् प्रतिभाएँ थी, जो भारतीय-धर्म-साधना एव साहित्य मे सत कबीर दास तथा महात्मा तुलसीदास के नाम से प्रख्यात हुई। युग प्रवर्त्तक रामानन्द ने भक्ति एव धर्म की धारा को तो व्यापक धरातल पर प्रवाहित किया ही साथ ही जाति-पाति के भेद-भाव को मिटाने के लिये अथक और महत्वपूर्ण परिश्रम किया। रामानन्द की यह देन स्वर्णाक्षरो मे लिखे जाने योग्य है और आने वाली पीढिया इस महत्वपूर्ण देन के कारण उनका स्मरण श्रद्धा के साथ सदैव करती रहेगी। रामनन्दी शिष्य बडे उदार होते है। इन शिष्यो मे अनेक क्रातिकारी एव प्रतिभावन कवियो का आविर्भाव हुआ, जिनमे सर्व प्रथम कबीरदास का नाम उल्लेखनीय है। कबीरदास के अतिरिक्त सेन नाई, सत रैदास, तथा पीपा का नाम बडे आदर के साथ लिया जाता है। नाभादास जी ने रामानन्द के जिन १२ प्रमुख शिष्यो का उल्लेख किया है, वे है अनन्त दास, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी।

युग-प्रवतक रामानन्द द्वारा सस्थापित आदर्शो को लेकर कबीर ने साधना, भक्ति

---

१. "जाति पाति पूछे ना कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।"

और साहित्य के क्षेत्र मे नवीन क्रान्ति उपस्थित कर दी। उस व्यक्तित्व ने प्राचीन मान्यताओं के प्रति बडा भारी विद्रोह किया। उसने युग-युग से चली आने वाली परम्पराओ, वाह्याचारो, उपासना-विधान का तिरस्कार करके नये-नये आदर्शों की स्थापना की। कबीर ने जाति-पाति को निस्सार बताया और मुक्तकठ से उद्‌घोषित किया कि 'जाति पाँति पूछे न कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।' कबीर ने अपनी पुण्य-वाणी द्वारा ऐसे उच्चादर्शों का उपदेश दिया, जो न केवल सत्य, चिरन्तन और शाश्वत है वरन् उनमे प्रभावित करने की अद्वितीय शक्ति है। कबीर से प्रभावित होकर रैदास, नानक, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास, रज्जब, गरीबदास चरनदास, दरिया द्वै, पलटू साहब, आदि ने भारतीय जनता को समय-समय पर ज्ञान का सन्देश दिया।[1]

डा० विनय मोहन शर्मा का मत है कि उत्तरी भारत मे निर्गुण-भक्ति के प्रथम उन्नायक नामदेव थे।[2] नामदेव ने भक्ति का प्रचार बडे सुलभ ढग से जनता के निम्न स्तर के लिये किया। कहना न होगा कि इस प्रकार के प्रयत्न या प्रयास का जनता पर बडा ही सुन्दर प्रभाव पडा। जनता ने इन उदारचेता मनस्वियो की वाणियों को हर प्रकार से हृदयगम किया और उसे जीवन मे कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया।

कृष्ण-भक्ति-धारा का उद्‌गम वृन्दावन मे हुआ। वृन्दावन भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र की अलौकिक लीलाओ का विख्यात केन्द्र स्थल है। यहाँ पर समय-समय पर चार सम्प्रदायो का विकास हुआ। ये सम्प्रदाय हैं

(क) निम्बार्क,
(ख) वल्लभ,
(ग) चैतन्य,
(घ) राधा वल्लभीय।

निम्बार्क का आविर्भाव काल अभी तक निश्चित नही है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि वैष्णव-सम्प्रदाय के समस्त प्रवर्तको मे ये प्राचीनतम हैं। चैतन्य तथा वल्लभ समकालीन थे। निम्बार्क, चैतन्य एव वल्लभ ने अपने-अपने सम्प्रदाय के सिद्धातो के निर्माण के लिये श्रीमद्‌भागवत से प्रचुर प्रेरणा और सकेत ग्रहण किये। अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाय कि भागवत से ही प्रेरणा ग्रहण करके इन समस्त सम्प्रदायो का विकास किया गया।

भक्ति के तृतीय उत्थान की एक और विशेषता है। इस युग मे वैष्णव-काव्य का उदय हुआ। वैष्णव कवियो ने अपने हृदय की अनुभूति भावना तथा उपदेशो को

---

१ सत-मत तथा निर्गुण-काव्य-धारा के अन्य कवियो और पथो के सम्बन्ध मे हम सविस्तार उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ के 'धार्मिक परिस्थितियाँ एव दर्शन' परिच्छेद मे करेंगे।

२. 'हिन्दी को मराठी सतो की देन'

डा० विनय मोहन शर्मा, पृष्ठ ५५-५७

जनता के हृदय तक पहुँचाने के लिये प्रादेशिक भाषाओ और बोलियो का सहारा लिया। इन आचार्यों ने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता की बोली के द्वारा जनता तक पहुँचाने मे अथक और सराहनीय परिश्रम किया। भक्ति-आन्दोलन ने अब जनता के आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया। रामानन्दी वैष्णव-भक्त-कवियो मे गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी तथा निर्गुणिया कबीरदास ने जनता की भाषा मे भोजपुरी मे अपने भावो की अभिव्यक्ति की। कृष्ण-धारा के कवियो मे विशेष उल्लेखनीय है, महात्मा सूरदास जिन्होंने ब्रज की बोली मे माधुर्य घोल कर कृष्ण के मृदुल चरित तथा हृदयग्राही लीलाओ की अभिव्यक्ति की। सूर की परम्परा मे उन्ही के समकालीन कवियो मे विशेषतया उल्लेखनीय है, नन्ददास, परमानन्द, कुम्भन दास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुज दास तथा कृष्ण दास। ये अष्टछाप के कवियो के रूप मे भी प्रसिद्ध है। इनकी स्थापना आचार्य वल्लभ ने की थी। निम्बार्काचार्य के सम्प्रदाय से प्रेरणा ग्रहण करके काव्य रचना करने वालो मे विशेष रूप से उल्लेखनीय बिहारी, घनानन्द, रसिक, गोविन्द स्वामी हरिदास तथा हित हरिवंश है। इन सभी कवियो ने ब्रज-भाषा मे काव्य की रचना की।

इस प्रकार पन्द्रहवी शताब्दी मे वैष्णव-भक्ति का प्रबल लहर ने पूरे देश-उत्तरी तथा दक्षिणी भारत को अपने रग मे अनुरंजित कर दिया। इस समय भक्ति के प्रचार के साथ साहित्य और ललित कलाओ का प्रचुर विकास हुआ।

निम्बार्क

वैष्णव-सम्प्रदायों मे निम्बार्क मत का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। ऊपर कहा जा चुका है, कि निम्बार्क मत, वैष्णव मतो मे सबसे प्राचीन है। दार्शनिकता की दृष्टि से भी इसका विपुल महत्व है। इस मत के ऐतिहासिक प्रतिनिधि आचार्य निम्बार्क है। इसके प्रथम उपदेष्टा हसावतार भगवान है। इन हसावतार के शिष्य सनत्कुमार है, जिन्होंने इसका उपदेश महर्षि को दिया। नारद जी से यह उपदेश निम्बार्क को प्राप्त हुआ। इन्ही परम्पराओं के कारण यह सम्प्रदाय, हस-सम्प्रदाय, सनकादि-सम्प्रदाय या सनातन-सम्प्रदाय, देवर्षि-सम्प्रदाय आदि नामो से प्रसिद्ध है। निम्बार्क का देश-काल अज्ञात है। किवदन्ती है कि निम्बार्क जात्या तेलग ब्राह्मण थे, और बेलारी जिला (दक्षिणी) के निवासी थे। निम्बार्क के चार शिष्य प्रसिद्ध हुये। ये है, श्री निवासाचार्य, ओदुम्बराचार्य, गौरमुखाचार्य तथा लक्ष्मण भट्ट। निम्बकाचार्य ने निम्नलिखित ग्रथो की रचना की

(१) पारिजात सौरभ, (२) दशश्लोकी, (३) श्रीकृष्णस्तवराज, (४) मत्ररहस्य षोडशी तथा (५) प्रपन्न कल्पवल्ली।

निम्बार्क मत के प्रसिद्ध आचार्य है पुरुषोत्तम, देवाचार्य, सुन्दर भट्टाचार्य, केशव काश्मीरी, श्री भट्ट, श्री हरिव्यास, परशुरामाचार्य।

श्री वल्लभ-मत

इस मत का विकास वृन्दावन की पवित्र भूमि मे हुआ परन्तु इसका प्रसार राजस्थान एव गुजरात मे भी समान रूप से हुआ। वैष्णव-सम्प्रदाय चतुष्टयी मे वल्लभ-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रमुख प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे, और इसके मध्ययुगी प्रतिनिधि थे, आचार्य वल्लभ। आचार्य वल्लभ ने विष्णु स्वामी की अच्छिन्न गद्दी पर बैठ कर उनके सिद्धान्तो का प्रचार किया। विष्णु स्वामी की जीवनी और व्यक्तित्व अज्ञान की गहन तमिस्रा मे पडा हुआ है, प्रसिद्ध है कि ये द्रविड देश के एक क्षत्रिय राजा के ब्राह्मण मत्री के पुत्र थे। कहा जाता है कि विल्वमगलचार्य ने स्वप्न मे वल्लभाचार्य को उपदेश दिया कि वे विश्णु स्वामी की शरण मे जाकर दीक्षा ग्रहण करें। इसी प्रेरणा के फल स्वरूप विष्णु-स्वामी मे इन्होने दीक्षा ली। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत मूलक पुष्टि मार्ग की स्थापना की। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के प्रचार के लिये अनेक ग्रन्थो की रचना की जिनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय है, 'अणुभाण्य', 'पूर्व मीमासा भाष्य', 'तत्व दीप निवन्ध', 'सुवोधिनी', 'षोडश ग्रन्थ श्रुति गीता', 'गायत्री भाष्य', 'भगवत् पीठिका', 'शिक्षा श्लोक' तथा 'सेवा विवरण'। श्री विट्ठलनाथ गोसाई जी आचार्य वल्लभ के छोटे भाई थे।

राधा वल्लभी-सम्प्रदाय

राधा वल्लभी-सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे दो मत है, कुछ लोग इसे निम्बार्क-सम्प्रदाय की वृन्दावनी शाखा मानते है, और कुछ लोग इसे चैतन्य मत की शाखा मानते हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि यह स्वतन्त्र वैष्णव-सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय की स्थापना व्रज-मडल मे हुई। इस सम्प्रदाय की साधना-पद्धति देख कर कहना पडता है कि यह एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है, इस सम्प्रदाय के जन्मदाता हित हरिवश जी थे।[१] वैष्णवो के मतानुसार यह श्री कृष्ण की मुरली के अवतार थे। इनके समय और जीवनी के सम्बन्ध मे अनेक मत हैं। मिश्रवन्धु इन्हे सहारनपुर जिले के देववन्द स्थान के निवासी मानते है। आचार्य वलदेव उपाध्याय के मतानुसार इनका जन्म मथुरा मे चार कोस की दूरी पर स्थित 'वाद' नामक ग्राम मे हुआ था। ये गौड ब्राह्मण थे और आज भी इनके सम्वन्धी देववन्द तथा वृन्दावन आदि स्थानो मे निवाम करते हैं। इनके पिता का नाम केशव दास मिश्र तथा माता का नाम तारावती था। हितहरिवश द्वारा लिखित दो ग्रन्थ वहुत प्रसिद्ध हैं, 'राधा सुधानिधि' तथा 'हित चौरासी'। राधावल्लभी-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य है, श्री व्यास जी तथा ध्रुव दास जी।

भक्ति-सम्प्रदाय के विकास पर विगत पृष्ठो मे विचार किया गया है। इन पृष्ठो से

---

१. हित हरिवश सम्प्रदाय—ललिता चरण गोस्वामी।

यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-मत का आविर्भाव देश-काल की अनिवार्य परिस्थितियो के फलस्वरूप हुआ। अब हम उन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एव धार्मिक परिस्थितियो पर विचार करेंगे जिनके कारण निर्गुण-सम्प्रदाय या सत-मत का विकास हुआ। सबसे पहले हम देश की राजनीतिक परिस्थितियो का अध्ययन करेंगे।

राजनीतिक परिस्थितिया

किसी देश के वातावरण, जलवायु एव परिस्थितियो का प्रभाव उस देश के निवासियो पर अनिवार्यतया पडता है। मानव-समाज अपने चतुर्दिक प्रसारित वातावरण से प्रभावित हुये बिना नही रह सकता है। वातावरण मानव के निर्माण एव विकास मे विशेष रूप से सहायक होता है। सत्य यह है कि सामयिक परिस्थितिया एव जलवायु मानव एव उसके समाज के जीवन-दर्शन के निर्माण और परिष्कार मे अत्यधिक सहायक होती है। घटनायें एव परिस्थितिया मानव एव उसके समाज की चिन्तन-पद्धति तथा दृष्टिकोण मे परिवर्तन उपस्थित कर देती है। कवि समाज का सर्वाधिक भावुक, जाग्रत एव चेतनशील प्राणी है। इसलिये अन्य प्राणियो की अपेक्षा वह अपने समय की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, एव सास्कृतिक परिस्थितियो से अधिक प्रभावित होता है। कवि समाज की प्रत्येक गति-विधि, प्रवृत्ति और परिस्थिति से प्रभावित होकर अपनी प्रतिक्रियाओ तथा अनुभूतियो को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। किसी साहित्यकार की रचनाओ और उसकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को समझने के लिये तत्कालीन प्रवृत्तियो एव परिस्थितियो का सम्यक्-रूपेण अध्ययन कर लेना नितान्त आवश्यक और उपादेय होता है।

तेरहवी शताब्दी से लेकर अठारहवी शताब्दी तक अनेक निर्गुण सत-कवियो का आविर्भाव हुआ। इन कवियो मे विशेष रूप से कबीर, दादू, नानक, सुन्दर दास, मलूक दास, जगजीवन साहब, भीखा साहब बुल्ला साहब, दरिया साहब, यारी साहब, तथा चरन दास उल्लेखनीय है। इन पाच सौ वर्षो मे आविर्भूत कवियो मे से कदाचित् ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जिसने अपने युग की परिस्थितियो से प्रभावित होकर जनता को ठीक मार्ग पर सचालित करने का प्रयत्न न किया हो। ये कवि इतिहासकार नही थे, न अपने युग की परिस्थितियो को व्यक्त करने के लिये इन्होने काव्य लिखा। इनकी काव्यधारा 'स्वान्त सुखाय' और 'बहुजनहिताय' प्रस्फुटित हुई। परन्तु बहिर्साक्ष्य प्रमाणो और इतिहासकारो की रचनाओ से इन पाच सौ वर्षों की विभिन्न परिस्थितियो का ज्ञान बडी सरलता के साथ हो जाता है। इतिहासकारो मे कुछ तो आधुनिक है और कुछ प्राचीन। इन कवियो के समय की स्थितियो का कुछ ज्ञान हमे मथुरादास, भूषण तथा हरिराय आदि कवियो की रचनाओ मे भी हो जाता है।

भारतीय राजनीति तेरहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक निरन्तर क्षुब्ध, अव्यवस्थित, अशान्त तथा असन्तुलित बनी रही। इसका प्रमुख कारण था बाहर से होने वाले आक्रमण। इन आक्रमणो के झोको के कारण भारतीय राजनीति रह-रह

कर अशान्त एव अस्थिर हो उठती थी। वास्तव मे भारतीय राजनीति विविध रगो मे इसलिये परिवर्तित होती रही कि प्रत्येक वार एक नई शक्ति ने उत्साह और नई अभिलाषाओ को कार्यान्वित करने तथा महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिये भारतवर्ष की जनता पर नये-नये प्रयोग किये और प्रत्येक वार भारतीय जनता को आक्रमणकारी शक्ति के समय नतमस्तक होकर सब कुछ स्वीकार करना पडा।

भारतवर्ष पर तेरहवी शताब्दी के पूर्व अनेक वार अरवो ने आक्रमण किया। खलीफा उमर ने सन् ६३६-३७ मे वम्बई के पास भारतीय सीमा के अन्दर आक्रमण करके लूट मार की। परन्तु खलीफा उमर का यह आक्रमण अधिक सफल न रहा। सन् ७१२ ई० में मुहम्मद विन कासिम ने आक्रमण किया। सन् ९७६ के लगभग अलप्तगीन के दामाद सुवुक्तगीन ने अफगानो को सगठित कर हमगान और सीम्नान पर आक्रमण किया। सन् ९८९ मे उसने भारत पर आक्रमण किया और जयपाल से सघर्ष हुआ। सुवुक्तगीन ने अतुल धन-राशि लूट कर पेशावर को अपनी सीमा मे सम्मिलित कर लिया। सुवुक्तगीन की विजय से तुर्को को यह भली-भाति ज्ञान हो गया कि भारतीय जनता के पास प्रचुर धन-राशि है, और वह युद्ध-कला मे अकुशल तथा वल में वडी हीन है। महमूद गजनवी अपने पिता सुवुक्तगीन की ही भाति वहुत साहसी और उद्यमी था। महमूद गजनवी ने भारत पर सत्रह आक्रमण किये। उसका प्रत्येक आक्रमण वडा प्रवल और प्रचड था, जिसने पूरी शक्ति के साथ भारतवासियो का विनाश समुत्पन्न कर दिया। महमूद का प्रथम आक्रमण १००० ई० मे सीमावर्ती नगरो पर हुआ, द्वितीय १००१ ई० में भटिंटा के राजा जयपाल पर हुआ। इस युद्ध मे जयपाल पराजित हुआ और भटिंडा के निकटवर्ती प्रदेश को लूट कर महमूद ने हिन्दू जाति और सस्कृति विनष्ट करने मे कोई प्रयत्न अवशेष न रखा। उसका तीसरा और चौथा आक्रमण भीरा और मुल्तान नगरो पर सन् १००६ ई० मे हुआ। महमूद का पाचवा आक्रमण सन् १००८ मे सेवक पाल पर हुआ। सेवक पाल को पराजित करके ४ लाख दिरम वसूल करके वह पुन स्वदेश विजय श्री से विभूषित होकर लौटा। उसका षष्ठ आक्रमण सन् १००९ ई० मे हुआ। यह भारत के इतिहास मे परिवर्तनकारी अभियान था। इस युद्ध के लिये आनन्दपाल को उज्जैन, दिल्ली, कालिंजर, कन्नौज, ग्वालियर तथा अजमेर के शासको से भी सहायता मिली इस युद्ध मे भारतीय वीरो की विजय निश्चित थी, परन्तु आनन्दपाल का हाथी युद्धस्थल पर ऐसा भागा कि शताब्दियो के लिये भारत पुन मुसलमानो के चरणो का दास वन गया। इस विजय मे उत्साहित होकर महमूद ने नगरकोट (१००९ ई०) का घेरा डाला। हिन्दुओ ने घवडाकर किले के द्वार खोल दिये। महमूद को किले की इस विजय के साथ अपार सम्पत्ति मिली। इसके अनन्तर सन् १०१४ तक वह छुटपुट आक्रमण करता रहा, परन्तु सन् १०१४ मे उसने थानेश्वर पर भीषण आक्रमण किया। सन् १०१८ मे कन्नौज पर विजय प्राप्त करने के लक्ष्य से उसने भारत पर आक्रमण किया। वुलन्दशहर के राजा को पराजित करके अपार सम्पत्ति लूटने के

वाद उसने दस हजार आदमियो को मुसलमान वना लिया। इसी प्रकार महावन, मथुरा, कन्नौज, कालिजर, ग्वालियर पर अनेक वार आक्रमण करके उसने धन, सम्पत्ति लूट ली और अपना एकाधिकार स्थापित करते हुये सहस्रो हिन्दुओ को मुसलमान वना दिया। सन् १०२५ मे उसने वडी भीषण शक्ति को सगहीत करके अजमेर होते हुए सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। अनेक दिनो तक युद्ध चलता रहा पर अन्ततोगत्वा मूर्ति उपासक हिन्दुओ की पराजय हुई और महमूद गजनवी को प्रचुर सम्पत्ति और धन प्राप्त हुआ। उस मन्दिर मे जितनी धनराशि महमूद को मिली उतनी सम्भवत कभी न मिली होगी। लाल, हीरे, और जवाहरातो के ढेर के ढेर उसके पैरो पर कण्डो के समान विखरे पडे थे। सोमनाथ को लूटने के वाद भट्टी के राजपूतो पर आक्रमण किया और अन्तिम रूप मे जाटो को पराजित किया। इस प्रकार महमूद ने सत्रह आक्रमणो के द्वारा भारतीय जनता के आर्थिक जीवन को खोखला, सामाजिक जीवन को चेतना विहीन, और राजनैतिक जीवन को निष्प्रभ वना दिया। महमूद प्रत्येक वार विनाश का सदेश लेकर देश के क्षितिज पर छा गया था, और प्रत्येक वार भीषण गर्जन के साथ उसने विनाशकारी तत्वो को देश पर मनमाने रूप मे वरसाने में कोई प्रयत्न अवशिष्ट न रखा।

महमूद गजनवी के अनन्तर मोहम्मद गोरी के रूप मे प्रचण्ड सूर्य भारतवर्ष के क्षितिज पर चमकने लगा। सन् ११७५ ई० मे उसने मुल्तान को जीत लिया। इसके वाद गुजरात पर आक्रमण किया। यद्यपि नेरहवाल के राजा भीमदेव के हाथों वह वुरी तरह पराजित हुआ, तथापि वह हतोत्साहित न हुआ। सन् ११८३ ई० मे उसने खुसरो को मार कर पजाव और सिन्ध पर अधिकार कर लिया। सन् ११९१ मे उसने सरहिन्द पर आक्रमण किया। सन ११९३ मे तराइन के द्वितीय युद्ध मे उसने महाराज पृथ्वीराज को पराजित किया। पृथ्वीराज की पराजय मे राजपूतो के हौसले पस्त हो गये। मुसलमानो ने अजमेर, दिल्ली और हासी पर भी सरलता के साथ विजय प्राप्त कर ली। सन् ११९४ मे कन्नौज भी उसके साम्राज्य मे सम्मिलित हो गया। कालान्तर मे उसने विहार, वगाल आदि पर भी अपना एकछत्र राज्य स्थापित कर लिया। मोहम्मद गोरी ने हर प्रकार से भारतीय जनता को निर्वल वनाने का प्रयत्न किया। मोहम्मद गोरी ने अपनी विनाशकारी प्रवृत्ति के द्वारा भारतवर्ष की विकासशील सस्कृति की उन्नति मे वाधा उपस्थित कर दी।

गोरी के अनन्तर गुलाम-वश का उदय होता है। कुतुवुद्दीन ने सन् १२०६ से १२१० तक राज्य किया। परन्तु इस अल्प समय मे ही उसे निरन्तर लडाइयाँ करनी पडी। गुलाम-वश के राज्य काल मे ही चगेज खा का भीषण आक्रमण सन् १२२० मे हुआ। चगेज खा अपनी क्रूरता, भीषणता और कठोरता के लिये इतिहास मे प्रसिद्ध है। उसने जिधर भी कूच किया, विनाश स्वत समुत्पन्न हो गया। जनता इतनी त्रस्त थी कि चगेज खा का नाम सुनते ही वच्चे भी रोना वन्द कर देते थे। इस समय जन-जीवन विषम वनता जा रहा था। उत्पीडन की कोई सीमा नही थी।

इस प्रकार इस्लामी पताका धीरे-धीरे पूर्व की ओर वढती गई, और हिन्दू-शक्ति की एकता अपनी अन्तिम चमक दिखाकर वुझ गई। अन्ततोगत्वा देश की फूट से लाभ उठाकर इस्लामी पताका ने अपना राज्य स्थापित कर लिया। सन् १२०६ से लेकर सन् १२९० तक गुलाम-वश ने भारत पर शासन किया। गुलाम-वश के शासको मे वलवन बहुत ही कठोर शासक था। उसने रक्त तथा तलवार के वल पर शासन किया। यथार्थवादी होने के कारण वह युग की आवश्यकताओ को भी भली प्रकार जानता था। गुलाम-वश के पश्चात् खिल्जी-वश की सल्तनत हुई। उसका प्रमुख शासक अलाउद्दीन बहुत ही अत्याचारी था, व्यक्तिगत समृद्धि को रोकने के लिये सुल्तान ने लोगो की शक्ति का अपहरण करने की नीति अपनाई तथा घोषणा करवाई कि "हिन्दू लोगो तब तक विनम्र और आज्ञाकारी नही होगे जब तक उन्हे पूर्णतया दरिद्र नही बना दिया जायगा।"[१] किन्तु इतिहास के पृष्ठो से यह ज्ञात हो जाता है कि उसकी सम्पूर्ण नीति ही इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि कोई भी अधिक धन एकत्र न कर सके। उस युग को देखते हुये, उसकी यह नीति साहसपूर्ण एव क्रान्तिकारी थी। यद्यपि हिन्दुओ के प्रति उसका व्यवहार धर्मान्धतापूर्ण ही था, तथापि उसने इस्लाम के धर्माधिकारियो के सामने सर नही झुकाया, उसने घोपणा की

"मैं यह नही जानता कि यह नियमानुकूल है, अथवा नियम विरुद्ध है, मैं जो कुछ राज्य के लिये हितकर तथा परिस्थिति विशेष के लिये उपयुक्त समझता हू, उसी के करने के लिये आज्ञा जारी करता हू, और आने वाले न्याय के दिन मेरा क्या होगा यह मैं नही जानता।"[२]

अलाउद्दीन ने धर्माधिकारियो के ऊपर जो प्रभुत्व स्थापित किया, उससे केवल मुस्लिम साम्राज्य की नीव ही न दृढ हुई वरन् वह इस बात का भी द्योतक है, कि सुल्तानो का राजनैतिक दृष्टिकोण दिन प्रति-दिन अधिक धर्म निरपेक्ष होता जा रहा था। अलाउद्दीन हिन्दुओं के उत्पीडक के रूप में प्रसिद्ध है। उसने देवगिरि तथा दौलतावाद पर मन् १२९६ मे आक्रमण किया और वेशुमार धन उसके हाथ लगा। अलाउद्दीन के राज्यकाल में मुगलो ने अनेक बार आक्रमण करके देश की शान्ति और व्यवस्था को भग किया। सन १२९८ में मुगलो के सरदार कुतुलुग ख्वाजा ने अनेक देश जीत कर दिल्ली पर आक्रमण किया। कहा जाता है कि मुगलो के इस आक्रमण के कारण दिल्ली शरणार्थियो से भर गई थी और देश में भुखमरी की परिस्थिति समुत्पन्न हो गई थी। सन् १३०३ ई० में उसने चित्तौड पर आक्रमण किया। इसके अनन्तर उसने दक्षिणी भारत के अनेक हिन्दू राज्यो पर आक्रमण किया। देवगिरी, वारगल, होयासेल, पाण्ड्य, तथा चेरवशीय राज्यो को पराजित करता हुआ उसने अपने वैभव का विस्तार किया।

---

१ भा० मे मु० शासन का इतिहास, एस० आर० शर्मा, पृष्ठ ११५।
२ भा० में मु० शामन का इतिहास, एस० आर० शर्मा, पृष्ठ २००।

खिल्जी वंश के पश्चात् तुगलक वंश के हाथों में दिल्ली की सत्ता आई। मुहम्मद तुगलक अलाउद्दीन से भी साहसी था, हृदय से बुद्धिवादी होने के कारण नवीन प्रयोगों में उसे रुचि थी। उसने हर ऐसी चीज की जड़ों पर प्रहार किया जो पुरातन होने के कारण सड़-गल चुकी थी। परन्तु हम देखते हैं, कि उसका शासन काल असफलताओं की एक करुण कहानी मात्र ही रह गया। मुहम्मद तुगलक के पश्चात् फिरोज तुगलक गद्दी पर बैठा। उसने हिन्दुओं तथा गैर सनातनी मुसलमानों के प्रति धार्मिक कट्टरता का व्यवहार किया। यद्यपि कि वह हिन्दू माता का पुत्र था।[1] वह उलमाओं के आदेशानुसार ही शासन व्यवस्था का सचालन करता था। उसने आत्मकथा में स्वय ही स्वीकार किया है

"मैंने काफिर प्रजा को पैगम्बर का धर्म अंगीकार करने के लिये प्रेरित किया और घोषणा की कि जो भी व्यक्ति कलमा पढ़ेगा, उसे जजिया से मुक्त कर दिया जायगा। यह समाचार सामान्य जनता के कानों में पहुँचा, बड़ी संख्या में हिन्दू एकत्र हुये और उन्हें मुसलमान होने का सम्मान प्रदान किया गया। इस प्रकार दिन प्रति दिन हर दिशा से हिन्दू आने लगे और इस्लाम अंगीकार कर लेने पर उन्हें जजिया से मुक्त कर दिया गया और भेंट तथा समान देकर अनुग्रहीत किया गया।"[2]

फिरोज के उत्तराधिकारी विलासी तथा अयोग्य निकले और तुगलक-वंश के अन्तिम तथा शक्तिहीन शासक महमूद के समय में तैमूरलंग ने भारत पर आक्रमण किया। तुगलक-वंश की रही-सही प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गई। तैमूर का भारत पर आक्रमण करने का लक्ष्य उसके निम्नलिखित कथन से प्रकट होता है। उसने कहा कि—

"भारत पर आक्रमण करने का मेरा उद्देश्य काफिरों के विरुद्ध युद्ध करना है, पैगम्बर की आज्ञानुसार उन्हें सच्चा धर्म (इस्लाम) स्वीकार करने के लिये बाध्य करना, बहुदेववाद तथा अन्ध-विश्वास से मुक्त करके पवित्र करना, तथा मन्दिरों और मूर्तियों का उन्मूलन करना जिससे हम धर्म तथा ईश्वर के समर्थक और सैनिक बन कर गाजी तथा मुजाहिद का पद प्राप्त करेंगे।"[3]

तैमूर ने अपने सैनिकों की बौछार उसी प्रकार भारत पर कर दी, जिस प्रकार मेघ जल बरसाते हैं। पंजाब प्रान्तों को दिल्ली तक उसने उजाड़ दिया। मार्ग में वह अटक, मुल्तान, दिपालपुर, भटनेर आदि स्थानों से होकर गुजरा और अपने पीछे अराजकता और दुर्भिक्ष को छोड़ता चला गया। एलफिन्सटन के मतानुसार पाच दिन तक भीषण नर-संहार होता रहा और तैमूर लूट तथा अग्निकांड का मूक दर्शक बना रहा।[4] जब सेनायें थक गई तथा लूट के लिये कुछ भी न बचा तब उसने कूच करने की आज्ञा दे दी। मार्ग में हजारों काफिरों को नरक की आग में झोंका गया।

---

१ भा० में मु० शासन का इतिहास, एस० आर० शर्मा, पृष्ठ १४८।
१ भा० मे मु० शासन का इतिहास, एस आर शर्मा, पृष्ठ २७२।
२ भा० मे मु० शासन का इतिहास, एस आर शर्मा, पृष्ठ १५८।
३ ए न्यू हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ३५८।

इतिहासकारो ने तैमूर के आक्रमण की भयानकता और विनाशकारिता का उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया है। कहा जाता है कि तैमूर के आक्रमण के अनन्तर देश मे चारो ओर विनाश, भुखमरी, अकाल और हाग के दृश्य समुपस्थित हो गये। भुखमरी और गरीबी के कारण लोगो को कई-कई दिन तक भूखे रह जाना पडता था। हजारो की सख्या मे लोग मरने लगे। खेती विनष्ट हो जाने के कारण जानवरो को भी चारा नसीब नही होता था।

इस 'ईश्वरीय-प्रकोप' के भारतीय क्षितिज के उस पार अन्तर्ध्यान हो जाने पर भी देश को धन, जन, मान तथा धर्म की अपार क्षति सहनी पडी। तुगलक-वश नष्ट हो गया पर मुस्लिम सत्ता का विकास नही रुका। चिरल के शब्दो मे 'परसत्ता अपहरण पर आधारित मुसलमानो की मौलिक नीति मे कोई रुकावट नही पडी।'[1]

कुछ वर्षो तक राजधानी पर वज़ीर इकबाल खाँ का अधिकार रहा, फिर सल्तनत लोदी वश के हाथ मे आई। बहलोल लोदी के पश्चात् उसका तीसरा पुत्र सिकन्दर शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। यह एक हिन्दू सुनार स्त्री का पुत्र था। परन्तु फिर भी उसे हिन्दुओ से घृणा थी।[2] इतिहासकार 'एलफिन्सटन' ने इसकी गणना इने गिने अन्य धार्मिको मे की है, जिन्होने मन्दिरो और हिन्दुओ मे विजित नगरो को ध्वस्त किया था। धर्म-यात्रा तथा व्यवहारो मे पवित्र नदियो मे स्नान तक का निषेध कर दिया। एक बार एक ब्राह्मण के यह कह देने पर कि 'सभी धर्म यदि सत्यतापूर्वक पालन किये जाये तो ईश्वर ग्राह्य है' मरवा डाला था।[3]

सत कबीर दास जी को सिकन्दर लोदी का समकालीन बताया जाता है।[4] कबीर के पदो मे भी दो स्थलो पर तत्कालीन शासक सिकन्दर लोदी के अत्याचारो का वर्णन है।[5] काज़ी द्वारा कबीर पर हाथी चलवाया गया था और जज़ीर मे बांध

---

१ इण्डिया ओल्ड ऐण्ड न्यू, पृष्ठ ५०।

२ भा० मे मु० शासन का इतिहास, एस आर शर्मा—पृष्ठ १६२।

३ ए न्यू हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ३६१।

४ रेवरेण्ड, ईश्वरी प्रसाद, तथा रामकुमार वर्मा भी इस मत से सहमत है।
(1) Kabir and his followers Rev Keay Page 1
(२) हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ २३५।
(३) सत-कबीर, पृष्ठ ३८।

५ सन्त-कबीर, डा० रामकुमार वर्मा
प्रथम सकेत राग गौड के चतुर्थ पद मे हुआ है, और द्वितीय राग भैरव के अठारहवें पद मे।

कर गगा मे डुवाने का प्रयत्न किया गया था।[1] यद्यपि इन पदो मे कही भी सिकन्दर का नाम नही है फिर भी अन्य ग्रन्थो मे इस घटना का उल्लेख है कि सिकन्दर ने कैसे कैसे अत्याचार किये थे। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि अन्ध धार्मिकता के कारण कबीर दास जी को भी सिकन्दर लोदी का शिकार बनना पडा।

सिकन्दर की शक्ति और महत्वाकाक्षा निःसीम थी। सम्पूर्ण देश का राज्य उसकी इच्छा पर निर्भर था। इसी कारण देश की जनता और विशेष रूप से हिन्दू उसकी कृपा के आकाक्षी बने रहे। इतिहासकार टिटस ने भी लिखा है कि इस्लाम के प्रसार के लिये सिकन्दर ने एक दिन मे १५०० हिन्दुओ की हत्या करवाई।[2] सिकन्दर की राजनीति पर भी धार्मिक आदर्शो का प्रभाव था। जहां भी हिन्दुओ का कोई विद्रोह होता वहां उन्हे दण्ड देने के साथ ही साथ वह उनके मन्दिरो को भी नष्ट करा देता था, और उनके स्थान पर मस्जिदो का निर्माण करवाता था।[3]

लोदी-वश के अन्तिम शासक इब्राहीम लोदी के साथ बाबर का प्रथम पानीपत का युद्ध हुआ और मुगलवश की स्थापना हुई। इस युद्ध मे बाबर ने भी काफिरो के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) की घोषणा की थी। अपने कट्टर अनुयायियो को प्रसन्न करने के लिए वह हिन्दुओ को मार डालता था और उनके सिरो के ढेर के ढेर लगा देता था।[4]

बाबर के पश्चात् हुमायू शासक हुआ, परन्तु शेरशाह ने युद्ध मे हुमायू को पराजित किया और स्वय शासक बन बैठा। शेरशाह की गणना भारतीय इतिहास के सबसे असाधारण शासको मे होती है। वह प्रथम मुसलमान शासक था जिसने अपनी प्रजा के हित का विचार किया। उसमे यह समझने की प्रतिभा थी कि सरकार को सर्वप्रिय बनाया जाय। राजा को प्रजा के कल्याण के लिए शासन करना चाहिये। इसी कारण उसने न्याय तथा सहिष्णुता की नीति द्वारा हिन्दुओ को प्रसन्न रखा।

---

१. (१) रे महावत तुमु डारउ काटि
इसहि तुरावहु घालहु साटि
हसती न तोरै धरै धिआनु
वाके रिदै बसै भगवानु।

(२) गग गुसाइनि गहरि गभीरा
जजीर बाधि करि खरे कबीरा
मनु न डिगै तनु काहे कउ डराइ
चरन कमल चित रहियो समाइ।

2. Indian Islam P 11-12

३. सत-दर्शन, डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृष्ठ १६७।

४. भा० मे मु० शासन का इतिहास, एस आर शर्मा, पृष्ठ १६२।

एच जी कीद का कथन है 'सच्चा मुसलमान होते हुये भी उसने अपनी हिन्दू प्रजा का कभी उत्पीडन नही किया।'[1]

शेरशाह का अल्पकालीन शासन सुख और शान्ति से पूर्ण था। उसकी शासन-व्यवस्था, न्याय-पद्धति एव राजनीति भी उच्च कोटि की थी। दीर्घकालीन अशान्ति के बाद शान्त एव किंचित सुख की स्थापना ने वैमनस्य को विस्मृत करने मे सहायता दी। जायसी इसी काल के प्रमुख सूफी कवि है। जिनके काव्य मे अत्यधिक सहृदयता का परिचय मिलता है।

शेरशाह के उत्तराधिकारी योग्य न थे। परिस्थितियो के फलस्वरूप हुमायूं फिर दिल्ली सल्तनत का शासक बन बैठा। हुमायू के पश्चात् उसका पुत्र अकबर शासक हुआ, उसने हिन्दू राजपूत स्त्रियो से विवाह किया और योग्य हिन्दू विद्वानो को भी राज्य मे उच्च पद देने प्रारम्भ किये। वह हिन्दू-धर्म का आदर करता था और हिन्दुओ के पौराणिक ग्रन्थो को फारसी मे अनूदित करने की आज्ञा भी दे दी थी।

मथुरादास ने अपने धार्मिक-ग्रन्थ 'परिचयी' मे अकबर की नीति का उल्लेख किया है

"तीस बरस तक अकबर रहा
तिन साधुन सो कुछ न कहा"[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अकबर ने उदारता की नीति का अनुसरण किया था। सन् १५६४ मे उसने हिन्दुओ से वसूल होने वाले कर बन्द कर दिये, जिससे हिन्दू और मुसलमान प्रजा मे कोई भेद नही रह गया। अन्त पुर मे हिन्दू रानियाँ मूर्ति-पूजा, व्रत तथा दान आदि करती थी। अपने-अपने धर्म मानने के लिए सभी स्वतत्र थे।"[3]

अकबर ने अपने साम्राज्य मे एक ऐसे शासन की नीव डाली, जो किसी सम्प्रदाय विशेष या किसी विशिष्ट वर्ग का न होकर सब जातियो व धर्मो का सम्मिलित शासन था।

इसके पश्चात् जहाँगीर शासक हुआ। जहाँगीर की धार्मिक-नीति अकबर के ही समान थी। परन्तु वह मुसलमानो के प्रति कुछ पक्षपात पूर्ण थी।[4] धर्म के ग्रहण व परित्याग के विषय मे वह अकबर के समान उदार न था। इस्लाम को स्वीकार करने

---

१ भा० मे मु० शासन का इतिहास, एम आर शर्मा, पृष्ठ ३१८।

2 "A study of the Philosophical views of, Malukdas, Sundar Das and Charan Das"
By—Dr T N Dikshit (D Litt Thesis)

३ भा० मे मु० शासन का इतिहास, एस० आर० शर्मा, पृष्ठ ४८१

4 Religious Policy of Moughal Emperors, Page 70
and
History of Jahangir —By Banarsi Prasad, Page 259

वाले को वह राज्य-कोष से आर्थिक वृत्तियाँ देता था, साथ ही उनका सम्मान भी अधिक होता था। परन्तु हिन्दू-मेले आदि पूर्ववत् ही मनाये जाते थे। यद्यपि जहाँगीर ने अपने पिता की नीति का अनुसरण किया तथापि उसकी नीति अपने पिता की अपेक्षा संकुचित हो थी।[1]

सन् १६२६ मे जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ सिंहासनारूढ़ हुआ। सिकन्दर लोदी तथा फिरोज तुगलक की भाँति यह भी हिन्दू-माता का पुत्र था, और उन्हीं के समान इस्लाम का पक्षपाती भी था। राजपूत स्त्री का पुत्र होते हुए भी वह हिन्दू-धर्म से किंचित मात्र भी प्रभावित नहीं था।[2] सन् १६३५ ई० मे शाहजहाँ ने अपने को इस्लाम के विरोधियों का विनाशकारी उद्घोषित किया।[3] उसने राज्य के उच्च-पद मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखे और हिन्दू-तीर्थ यात्रियों पर कर लगा दिये। उसकी यह नीति देख कर मुसलमान कर्मचारियों ने भी हिन्दुओं को उत्पीड़ित करना आरम्भ कर दिया।[4] उसने जुझार सिंह तथा उसके परिवार को मुसलमान बना लिया तथा हिन्दुओं के सामाजिक-जीवन मे नाना प्रकार के कष्ट उत्पन्न कर दिये।[5]

फिर भी शाहजहाँ गरीबों पर दया करता था।[6] शाहजहाँ और जहाँगीर की उदारता के ही कारण मुगल-साम्राज्य का वह राष्ट्रीय रूप जो कि अकबर ने बनाया था, स्थिर रह सका।

शाहजहाँ को कैद कर औरंगजेब दिल्ली सल्तनत का शासक बना तो उसकी नीति अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ से नितान्त भिन्न थी। वह इस्लाम का कट्टर

---

1 "In short Jahangir ordinarily continued Akbar's toleration. He experimented in simultaneous maintenance of several religions by the State with all this Jahangir sometime acted as protector of true faith, departures however slight from Akbar's wide outlook had thus begun."

—The Religious Policy of Moughal Emperors, Page 90

2 The Religious Policy of Moughal Emperors, Page 94

3. The Religious Policy of Moughal Emperors, Page 96–97

4. History of Shahjahan

—By Dr Banarsi Prasad, Page 89–90.

5 History of Shahjahan—By Dr. Banarsi Prasad, Page 89

६ "शाहजहाँ तिनके सुत राजा
तिन फिर बहुत गरीब नेवाजा।
"Philosophical views of Malukdas, Sundar Das and Gharan Das."—By Dr T N Dikshit

अनुयायी था, इस कारण इस्लाम के कथित विषयो के अनुसार ही आचरण करता था।[1] राजगद्दी पर बैठते ही उसने सर्वत्र हिन्दुओ का उत्पीडन आरम्भ कर दिया और विचार पूर्वक एक धार्मिक नीति बनाई।[2]

राज्य मे प्रचलित हिन्दू प्रथाओ और राज्यपदो पर हिन्दुओ की नियुक्ति ही बद कर दी। सन् १७०२ मे उसने फौज से भी हिन्दुओ को हटा दिया।[3]

साराश मे अब हम उन सचालन-सूत्रो को स्पष्ट करेंगे जो कि औरगज़ेब ने इस्लाम के सिद्धान्तो के अनुसार किये थे।

(१) हिन्दुओ पर फिर से जजिया कर लगाया गया।
(२) हिन्दू मन्दिरो को तोडने की आज्ञा दी गई।
(३) व्यापार व्यवसाय आदि मे हिन्दू मुसलमानो मे भेद किया गया।
(४) इस्लाम की दीक्षा लेने वालो को उच्च पद दिये जाते थे तथा सम्मान होता था।
(५) हिन्दू लोग सार्वजनिक रूप से त्योहार आदि नही मना सकते थे।
(६) उच्च पदो मे हिन्दुओ को हटा दिया गया।
(७) उन हिन्दू रीति रिवाजो को बन्द कर दिया जो कि दिल्ली दरबार मे प्रचलित हो गये थे।

औरगजेब की इस विरोधी नीति का परिणाम मुगल-साम्राज्य के लिये हानिकर हुआ। उसकी इस दमनकारी नीति की प्रतिक्रिया सिक्खो मे विशेष रूप से देखने मे

---

१ "शाहजहाँ सुत औरगजेबा,
चले स्वपथ कुरान कथा।" परिचयी, सथुरादास, पृष्ठ १६।
श्री राम शर्मा ने भी लिखा है —

"He was a Muslim King and it seemed to him unreasonable not to govern country according to his interpretations of injuctions of Quran and traditions "

The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 152

२. शाहजहाँ पातसाह जब मुआ
दड देस मे चहु दिस हुआ,
औरगजेब ताहि सुत एका
बैठ राज तिन कियो विवेका।
(परिचयी, सथुरादास—पृष्ठ १७)
—सुन्दर-दर्शन
डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
पी-एच० डी०, डी० लिट्०—पृष्ठ ७।

3 Religious Policy of Moughal Emperors—Page 135

मिलती है। गुरु तेगबहादुर को वन्दी बनाकर प्राणदड देना उसकी धार्मिक सकीर्णता का एक ज्वलत उदाहरण है।[1]

औरगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रो मे राज्य प्राप्ति के लिये गृह-कलह हुई और बहादुरशाह ने अपने पराक्रम से राजसत्ता प्राप्त कर ली। उनके राज्य-काल मे पाच वर्षो तक सिक्खो के साथ युद्ध ही चलता रहा।[2]

बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् सन् १७१२ से सात वर्ष तक निरतर सघर्ष होता रहा और बाद मे मुहम्मदशाह सिहासनारूढ हुआ। सन् १७३९ मे पर्शिया के शाह नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। मुहम्मदशाह नादिरशाह का मुकाबला करने मे असमर्थ रहा और मुगल सेना को परास्त कर नादिरशाह ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया और कत्लेआम का हुक्म दे दिया। उनके आक्रमण से मुगलो की रही-सही शक्ति भी क्षीण हो गई। मराठो, राजपूतो और सिक्खो ने उनको पहले ही खोखला बना दिया था, उसके पश्चात् जो मुगल बादशाह हुये वे केवल नाम मात्र के लिये ही थे।

सन् १७४३ मे मराठो ने मालवा पर विजय प्राप्त की और सन् १७५१ मे उडीसा और बगाल उनके आधीन हो गया। अहमदशाह दुर्रानी ने भी भारतवर्ष पर चार आक्रमण किये, और चतुर्थ आक्रमण मे मराठे पराजित हो गये।

उसी समय भारत मे एक अन्य विदेशी जाति, जो कि समुद्र के मार्ग से भारत मे आई थी, अपनी शक्ति का विस्तार कर रही थी। मुगल सल्तनत तो शनै -शनै समाप्त हो ही चुकी थी। मराठो के शक्तिहीन होने से ही अग्रेजी जाति की शक्ति धीरे-धीरे बढने लगी, और इधर मुगलो का नामनिशान भी मिटने लगा। अग्रेजो ने अपना राज्य धीरे-धीरे दृढ एव सुव्यवस्थित कर लिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार दृढता प्राप्त करते गये। पिसती हुई जनता को कुछ साग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु फिर भी दमन तो। हो ही रहा था राजा का कनिष्ठ रूप गवर्नर सुख-चैन छीनने का प्रयत्न करते ही रहे। सन् १७७४ से १७८५ तक गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिग्ज ने कम्पनी की नीति को कार्यान्वित किया।

इस प्रकार इन ५०० वर्षो मे भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थितियो का जो चित्राकन किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि यह समय भारतवर्ष के लिए सकट का समय था। राजनीतिक परिस्थितिया वडी तीव्रता के साथ बदलती जा रही थी। भविष्य के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक किसी प्रकार की धारणा स्थापित करना इस युग मे असम्भव था। दिल्ली के राजसिंहासन पर एक के बाद दूसरा राजपरिवार आया, किंचित बल, वैभव और ऐश्वर्य का प्रदर्शन करके वह भी अनिश्चित परिस्थितियो मे अपनी जीवन-लीला को समाप्त करके विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो गया और सिंहासन का रगमच दूसरे राजपरिवार के हेतु रिक्त कर गया। इन पाच सौ

---

1 Religious Policy of Moughal Emperors—Page 166,

2. Later Moughal-by william Horvin—Page 73-115.

वर्षो मे अनेक बार विभिन्न राजपरिवारो के ऐश्वय के सूर्य उदय और अस्त हुये परन्तु दुर्भाग्य यह कि उनमे से कोई भी चिरस्थायी न रहा। प्रत्येक राजपरिवार अपने प्रयोगो के माध्यम से नई-नई मान्यताओ को सस्थापित करता और पुन वे मान्यतायें उन्ही के जीवनकाल मे बालू की भीत्ति के समान स्वत ढह जाती। प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर इस युग के राजनैतिक महापुरुषो ने अपनी नीति को सचालित किया।

साराश मे, सन १३०० से १८०० की राजनीतिक परिस्थितियो को प्रतिहिंसा, प्रतिकार, प्रतिशोध, विश्वासघात, विघटन, विच्छेद, विनाश और अविश्वास आदि शब्दो माध्यम से व्यक्त किया जाय तो असगत न होगा।

हमारे निर्गुण-सन्त-कवियो के हृदय तथा मस्तिष्क पर इस अशान्ति तथा कोलाहल की छाप पडी। तत्कालीन चतुर्दिक अशान्ति से वे व्यथित हो चुके थे। इसी कारण निर्गुण-सन्त-कवियो ने यह आवश्यक समझा कि जातियो के भेदभाव को दूर कर दिया जाय, और मानव का मानव के प्रति क्या कर्तव्य है, इस ओर ध्यान दिया जाय। उन्होने, क्षमा, दया, सहनशीलता, विश्वबन्धुत्व एव प्रेम आदि के उपदेश देकर जनता को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा की।

सामाजिक परिस्थितियाँ

समाज जनता की समिष्ट का दूसरा नाम है। समाज जन-जीवन के व्यापक समूह का पर्याय है। समाज जन-जीवन के साथ उत्थान और विनाश के मार्ग पर अग्रसर होता है। जब जन-जीवन उन्नत होता है तो समाज स्वत उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर होता है, अन्यथा जन-जीवन की समस्त प्रतिक्रियाओ को वह आतम-सात करके तदनुसार रूप ग्रहण करता हैं। जन-जीवन को प्रभावित करने वाले अनेक तत्व होते हैं। जन-जीवन देश एव काल की परिस्थितियो मे बहुत अशो मे प्रभावित होता रहता है। जैसी देश और काल की परिस्थितिया होती है, तदनुकूल जन-जीवन का स्वरूप स्वत सवर जाता है और विकृत होता है। जन-जीवन की प्रतिछाया समाज पर अनिवार्य रूप से पडती है और पडनी भी चाहिये।

जन-जीवन, समाज और देश काल की परिस्थितियो मे बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। तीनो एक दूसरे पर निर्भर और आश्रित हैं। तेरहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक राजनैतिक परिस्थितियाँ कैसी थी, यह विगत पृष्ठो से स्पष्ट हो जायगा। सम्पूर्ण पाच सौ वर्षो तक देश की दशा अस्थिर बनी रही। उत्तर-पश्चिम से होने वाले आक्रमणो के कारण इन पाँच-सौ वर्षो मे जनता और देश की परिस्थितियाँ अनिश्चित बनी रही। इन-पाच सौ वर्षो मे जैसे राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितिया विकृत बनी रही, वैसे ही सामाजिक परिस्थितियाँ भी ह्रासमान रही। बाहर से होने वाले आक्रमणो के कारण समाज इन लम्बे पाच सौ-वर्षो मे अत्यधिक विकृत और विषम बनगया था। जन-जीवन उत्पीडित-व्यथाओ और शोपण की व्यापक करुण, गाथा बनगया था।

भारतवर्ष पर सर्वप्रथम मुहम्मद बिन कासिम ने भयानक आक्रमण किया था, जिसका उल्लेख राजनीतिक परिस्थितियों के साथ हो चुका है, तब से लेकर ईस्टइण्डिया कम्पनी के स्थापना काल तक भारतीय जनता उत्तर-पूर्व से होने वाले आक्रमणों से निरन्तर पीड़ित रही। इसीलिये इन पांच-सौ वर्षों में भारतीय-समाज की दशा बड़ी ही शोचनीय बनी रही।

मध्य-युग में भारतीय-समाज अनेक अभिशापों से ग्रस्त था। समाज के नैतिक नियन्त्रण ढीले पड़ चुके थे, जिससे उच्छृंखलता अधिक बढ़ गई थी। मुसलमानों ने धर्म और राज्य का प्रसार तलवार के बल पर किया था। अतः हिन्दुओं के हृदय में शासक वर्ग के प्रति डर भय की भावना सदैव बनी रहती थी। उनके मस्तिष्क में निरन्तर विरोधी भावनायें उठा करती थीं और साथ ही धर्म के प्रति विश्वास भी नहीं रह गया था। सल्तनत-काल के समाज में केवल राजाओं की इच्छा ही सब कुछ हो गया था। दंड का कोई विधान भी नहीं था। जो इच्छा उत्पन्न हुई वह पूर्ण होनी चाहिये। राज्य-प्राप्ति के लिये बुरे से बुरे कर्म करना भी उनकी दृष्टि में ठीक था। साथ ही धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों ने देश की दशा को और भी अधिक शोचनीय बना दी थी। राजशक्ति खो देने के कारण हिन्दू-जीवन में उत्साह और उमंग का सर्वथा लोप हो गया था, साथ ही धन, धर्म तथा सम्मान भी सुरक्षित न था।

मुसलमान हिन्दुओं को घृणा की दृष्टि से देखते थे। अपनी विरोधी प्रकृतियों के कारण हिन्दू और मुसलमान एक न हो सके। एक एकेश्वरवादी था, तो दूसरा मूर्ति पूजक। एक वर्णाश्रम के प्रति आस्था रखता था, तो दूसरा 'बिरादराने इस्लाम' का नारा लगाता था। एक सगुण ब्रह्म के मातृत्व रूप का उपासक था, तो दूसरा उसके अस्थि-चर्म का ग्राहक था। इस प्रकार मध्यकालीन समाज हिन्दू और मुसलमान दो वर्गों में विभाजित था। अब हम इन दोनों वर्गों का अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

मुसलमानी-समाज

मध्य-युग में बादशाह से लेकर सामन्तों तक का जीवन विलासिता तथा वासना से परिपूर्ण था। प्रजा की गाढ़ी कमाई का धन हजारों की संख्या में रहने वाली, रानियों की सन्तानों और राजदरबार में रहने वाले कलाकार कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, मूर्तिकार आदि पर व्यय किया जाता था। साथ ही भव्य भवन, क्रीडा-उपवन, सिंहासन, राज-महलों की सजावट आदि पर भी धन-व्यय किया जाता था। प्रजा की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया जाता था। जिसके फलस्वरूप साधारण सैनिक भी जीवन में विलास और वैभव की आकांक्षा रखता था।[1] सर्व-साधारण मुसलमानों के लिये खानकाह खुले थे। जिनमें भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का वितरण होता था। इस स्थिति में तो मुसलमानों को कृषि या शिल्प आदि करने

---

१ मध्य युग का संक्षिप्त इतिहास, डा० ईश्वरी प्रसाद, पृष्ठ २३६।

की भी आवश्यकता नही थी। योग्य मुसलमान शासक-वर्ग मे सम्मिलित हो जाता था और अयोग्य खानकाहो के सहारे जीवन व्यतीत कर लेता था। जीविका के लिये किसी भी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता न थी। इसी कारण विलासिता और आलस्य मुस्लिम समाज की प्रधान विशेषता बन गई।[1]

विश्व-बन्धुत्व व सामाजिक समता की ओर ध्यान दिलाने वाले मुसलमानो मे भी शेख, सैयद, मुगल और पठान आदि भिन्न-भिन्न वर्ग के लोग थे। साथ ही ऊँच-नीच भावना का लोप भी न हो सका था। शिया, सुन्नी का भेद-भाव बहुत ही गहरा था जिसके कारण कभी-कभी आपस मे सघर्ष भी हो जाता था। निम्न-वर्ग का मुसलमान भी उच्च वर्ग की अपेक्षा असम्मानित था।[2]

मुसलमानो मे दास-प्रथा का भी प्रचलन था, सहस्रो व्यक्ति दास बना कर बेच दिये जाते थे। मुसलमान धर्म स्वीकार कर लेने पर भी उनके साथ समानता और सौहार्द्र का व्यवहार नही होता था। यद्यपि कुछ दासो ने उन्नति भी की परन्तु सामान्यत दास के जीवन मे सहानुभूति और शुभ-कामना की प्राप्ति नही के बराबर थी। राजकीय दासो की सख्या प्राय अधिक हुआ करती थी।[3]

मध्य-युग मे सामन्तो, मसबदारो या धनी-मानी व्यक्तियो के वैभव का अनुमान दास-दासियो की सख्या पर निर्भर था। जिस व्यक्ति के पास जितने ही दास होते थे, वह उतना ही धनी समझा जाता था। इन दास-दासियो का जीवन बडा दु खमय और घृणित था। दासो को भाति-भाति से उत्पीडित किया जाता था। कठोर परिश्रम के अनन्तर उनको इतना भोजन दिया जाता था, जो उनको जीवित रखने मात्र के लिए पर्याप्त होता था। दासियो का जीवन दासो की तुलना मे और भी हीन था। वे काम-क्रीडा को शान्त करने की साधन भी मानी जाती थी। इस प्रकार इनके द्वारा व्यभिचार का प्रसार और प्रचार होता था।

मध्य-युग मे हरम को अधिक से अधिक सख्या मे दिव्यागनाओ मे सुशोभित रखने की प्रथा प्रचलित थी। ये दिव्यागनाए शासको, सम्राटो और श्रीमानो की काम-क्रीडा मे उसी समय तक भाग लेती थी, जब तक उससे अधिक सुन्दरी सम्राट या श्रीमान् को दृष्टिगत नही होती थी। 'आइन-ए-अकबरी' से प्रकट होता है कि अकबर के हरम मे ५,००० से अधिक सुन्दरिया विद्यमान थी। औरगजेब इसका अपवाद था। परन्तु परवर्ती मुगलो मे यह दोष व्यापक रूप से विद्यमान था। उच्च-वर्ग के लोग वेश्याओ और सुन्दर नर्तकियो द्वारा अपना मन-बहलाव करते थे।

मध्य-युग मे राजकुमारो को व्यवहार और अदब की शिक्षा वेश्याओ के घरो मे

१ भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास, श्री सत्यव्रत विद्यालकार, पृष्ठ ६०६।

२ मध्य युग का सक्षिप्त इतिहास, डा० ईश्वरी प्रसाद, पृष्ठ २३७।

3 An Advanced History of India –
By Dutta Chawdhari and others —Page 399

दी जाती थी। इतिहासकारों का कथन है कि इन दोष के कारण-मुगल वंश और उसके भावी कर्णधारों का नैतिक-बल और व्यवहार की दृढ़ता अत्यधिक दुर्बल और हीन हो गई थी।[1] मध्य-काल के मुसलमान-समाज में मांस-भक्षण की प्रथा प्रचलित थी। मांस के विविध प्रकारों से सजी हुई तश्तरियां भोजन की शोभा और भोजन खिलाने वाले के धनी होने की सूचना देती थीं।[2] मांस के साथ मदिरा-पान का भी प्रचलन था।[3] मध्यकालीन मुसलमान-समाज में वेश-भूषा और सजावट पर अधिक ध्यान दिया जाता था। रंग-बिरंगे आकर्षक कपड़े पहनने की रिवाज थी।[4] शान-शौकत का प्रचलन था, रेशम और मखमल पहनना फैशन था। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से आभूषण प्रिय थे।[5]"

मध्य-युगीन भारत में जनता का समाज तीन वर्गों में विभाजित था। प्रथम वर्ग वह था, जिसमें समाज के उच्च-वर्ग के लोग, मनसबदार तथा उच्च-राजकर्मचारी सम्मिलित थे। द्वितीय वर्ग में मध्यम श्रेणी के मनुष्यों की गणना होती थी। तृतीय वर्ग में उन लोगों की परिगणना होती थी, जो परिश्रम की कमाई पर जीवन के दिन और पेट को भरते रहते थे। उनमें से प्रथम वर्ग या श्रेणी के लोग तत्कालीन शासक धनी-मानी, ऐश्वर्य से मंडित, वैभव से परिवेष्ठित, सौभाग्यशाली व्यक्तियों का अनुकरण कर रहे थे। शराब, व्यसन, ऐयाशी, मांस आदि में पगा हुआ यह वर्ग वेश्याओं के नृत्य, तीतर एवं बटेरों की लड़ाई, हाथियों और भैंसों के संघर्ष में अपने मनोरंजन की दिशा खोजा करता था। यह वर्ग जीवन की कठिनाइयों से दूर, कल्पना-लोक के सुखों में विचरण करता हुआ, जीवन को रात्रि के स्वप्न के समान काट दिया करता था। मध्यवर्ती स्थिति के लोगों का वर्ग द्वितीय था। यह वर्ग न उच्च वर्ग के समान सौभाग्य के पालने पर सुख की नींद लेता था और न निम्न-वर्ग के समान दुर्भाग्य से अभिशप्त ही था। उसकी दशा त्रिशंकु की भांति थी। इस वर्ग में उच्च-वर्ग के सभी दोष विद्यमान थे। यह उच्च-वर्ग की नकल करने में ही जीवन को धन्य समझता था। मांस, मदिरा और महिला से अनुरक्त होने के कारण यह वर्ग निकम्मा हो गया था।

---

1 A Short History of Muslim Rule in India.
—By Dr Ishwari Prasad—Page 653

2 A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Ishwari Prasad—Page 649

3 A Short History of Muslim Rule in India.
—By Dr Ishwari Prasad—Page 649

4 A Short History of Muslim Rule in India.
—By Dr Ishwari Prasad—Page 649

5. A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Ishwari Prasad—Page 651

6 A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Ishwari Prasad—Page 449

इस वर्ग के मनोरथ निःसीम, अभिलाषाए अनन्त और अपेक्षाए वृहद थी। परन्तु इस वर्ग की आय अत्यल्प एव सीमित थी। अतः वह वर्ग घूसखोरी,[१] अनाचार, दुराचार एव भ्रष्टाचार के आधार पर अपने जीवन को व्यतीत कर रहा था। यह वर्ग उच्च-वर्ग की भाति विदेशो मे आया हुआ सामान प्रयोग करता था।[२] इसी मध्यम-श्रेणी मे निम्न-कोटि के राजकर्मचारी भी सम्मिलित थे। तृतीय वर्ग मे मजदूर, किसान, कारीगर, कलाकार तथा मेहनत-कश सम्मिलित थे। उस वर्ग का जीवन बडा दुःखमय, सघर्षमय और व्यथाओ मे ग्रसित था। इस वर्ग की दिन भर की आय इतनी पर्याप्त न होती थी, कि वह दोनो पहर भर-पेट खाना खा सकता। उस वर्ग के पास जाडे के लिये ऊनी वस्त्र न थे।[३] उस वर्ग मे बेगार ली जाती थी। यह वर्ग कच्चे छप्पर से ढके हुये मकानो मे जीवनयापन करता था।

हिन्दू-सामाजिक-जीवन

हिन्दुओ का समाज वर्णों मे विभाजित था, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसमें से प्रथम वर्ण की प्रतिष्ठा समाज मे युगो से होती चली आ रही थी, और वह वर्ग सम्मानित भी समझा जाता था। यह वर्ण एव धर्म के नाम पर निम्न-वर्णो का शोषण कर रहा था और स्वय कर्म एव चरित्र मे भ्रष्ट हो गया था। अध्ययन, अध्यापन, धर्म एव कर्म को छोडकर निम्न-प्रवृत्तियो मे ही सलग्न था। त्याग के ऊचे आदर्शो को छोडकर काम, क्रोध, मोह के वशीभूत हो वह नित्य ही नई आसक्तियों का चेरा बना रहता था।

बाह्य-परिस्थितियाँ तो हिन्दुओ के प्रतिकूल थी ही, साथ ही हिन्दुत्व की वे त्रुटिया जो कि परम्परा मे चली आ रही थी, हिन्दू-मान्यताओ के विपरीत पडती थी। जाति-व्यवस्था के कठोर बन्धनो मे हिन्दू-निम्न-वर्ग मुक्त होना चाहता था। हिन्दुत्व के पतन का एक बहुत बडा कारण यह जाति व्यवस्था ही हुई।

जाति-व्यवस्था के साथ-साथ मूर्ति-पूजा, अनुसन्धान का विरोध आदि भी हिन्दुत्व के मुख्य दोष थे।[४] सामाजिक जीवन मे जाति-पाति, बाल-विवाह, मूर्ति-पूजा, बाह्याडम्बर एव अन्धविश्वासो के कारण सभ्यता के सभी पहलुओ पर जीर्णता आ गई थी। जिसके कारण उस सभ्यता मे प्रगति एव प्रवाह नही था।[५]

---

1 A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Banarsi Prasad—Page 650

2 A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Banarsi Prasad—Page 651

3 A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Banarsi Prasad—Page 651

४ भारत मे मुस्लिम शासन का इतिहास, श्री राम शर्मा, पृष्ठ २१०।

५. इतिहास प्रवेश, जयचन्द्र विद्यालकार, पृष्ठ ६५-६६।

साधारणत हिन्दू-जनता मे मूर्ति-पूजा, जड-पूजा के रूप मे प्रचलित हो गई थी। साथ ही असाधारण और अलौकिक सिद्धियो की ओर जनता की लिप्सा बढती जा रही थी। पौराणिक ग्रन्थो मे अर्थहीन क्रियाकलाप बढ गया था। उस रूप मे उसका निर्वाह केवल निठल्ले व्यक्तियो के लिये ही रह गया था।[1] इसी प्रकार के ग्रन्थ शूलामणि उपाध्याय, कमलाकर भट्ट, नीलकठ भट्ट आदि ने भी लिखे, जिनमे कि हिन्दुत्व का जटिल रूप दिखाई पडता है।

परन्तु फिर भी हिन्दुओ ने मूक-समर्पण नही किया था, वे समय-समय पर विद्रोह करते ही थे। क्योकि हिन्दू एव मुसलमानो मे परस्पर मतभेद की जो खाई बन गई थी, उसे पाट देना सरल न था। उधर मुसलमान विजयी होने के कारण अत्याचार भी करते थे, जिसके कारण दोनो ही जातिया एक दूसरे के रक्त की प्यासी हो रही थी। धार्मिकता के नाम पर समाज के मस्तक पर कलक का टीका लगा हुआ था।

स्थूल-रूप मे हम तत्कालीन हिन्दू-समाज को तीन वर्गो मे विभाजित कर सकते है।

(१) राजा एव धनिक, जो अपने रहन-सहन मे सुल्तानो की जीवनचर्या से प्रभावित था और धीरे-धीरे वीरता के स्थान पर भोग-विलास, ऐश्वर्य मे ही मग्न था।[2] यह वर्ग चिन्तामुक्त था, और जीवन की विलासिता के लिए, पराधीन रहने मे भी सुख का अनुभव करता था।

(२) वह साधारण जनवर्ग था जो कि किन्ही कारणोवश मुस्लिम-समाज में मिलने को बाध्य हो रहा था। यह कारण था जजिया से मुक्त होना तथा समाज मे उच्च स्थान पाना या राजदड से मुक्त होना।

(३) तीसरे वर्ग मे वह पडित-वर्ग आता है जो समाज की विशृखलता से भली-भाँति परिचित हो चुका था और जाति-पाति कर्म-काड आदि की रूढिवादिता के परिणामो को समझ चुका था। इनका प्रयास एक ओर तो इस विशृखलता एव स्तर हीनता की निन्दा करके समाज को उधर से विमुख करना था, दूसरी ओर उपासना के क्षेत्र मे हरि-भक्त की कसौटी रख कर मनुष्य मे समानता स्थापित करना चाहता था।

---

१ हेमाद्रि (देवगिरि के अन्तिम राजा यादव का मत्री) ने वर्ष भर मे २,००० व्रतो और अनुष्ठानो का विधान किया है।

२ पद्माकर का यह छन्द इस राजवर्ग का यथार्थ-चित्र उपस्थित करता है —

"गुलगुनी गिलमे गलीचा है गुणीजन है,
चादनी है, चिक है, चिरागन की माला है।
कहे पद्माकर त्यो गजक गिजा है, सजी सेज है,
सुराही है, सुरा है, और प्याला है॥"

तत्कालीन समाज अन्ध-विश्वासो मे पूर्ण था। एक ओर देवताओ की प्रसन्नता के लिए वलि दी जाती थी और दूसरी ओर जन्नत प्राप्त करने के लिये काफिरो मे युद्ध किये जाते थे। तत्कालीन समाज अन्ध-विश्वासो मे अभिशप्त था। वह नरवलि, पशु वलि के द्वारा विपत्तियो को टालने मे विश्वास करता था।[१] युद्ध मे विजयी होने के पश्चात् हिन्दुओ के साथ वुरा व्यवहार भी किया जाता था। इतिहासकार श्रीराम शर्मा ने लिखा है "तुर्को ने हिन्दू-समाज के साथ यथा सामर्थ्य वुरा व्यवहार किया।"[२]

समाज असमान-वितरण, असमान सुविधा तथा असमान आर्थिक उपलब्धि के आधार पर निर्मित था। आर्थिक वैषम्य सर्वत्र विद्यमान थे। निम्नलिखित पक्तियो मे समाज की असगतियो तथा विषमताओ का चित्र स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाता है।

एक न पग पनही नहीं, एक चढै सुख पाल।
यही जो मोहि वताइये, एक सुखित को जाहि।
यही जो मोहि वताइये, एक सुखित को जाहि।
एक नरक को जाय करि, मार जमों की खाहि॥
एक दुखी एक अति सुखी, एक नृप इक रक।
एकन को विद्या वडी, एक पढ़े नहि अक॥
एकन को मेवा मिलै, एक चने भी नाहि।
कारन कौन दिखाइये करि चरनन की छाँहि॥
यही मोहि समझाइये, मन को धोखा जाय।
ह्वै करि निस्सन्देह मे, रहो चरन लिपटाय॥

सत कवि चरनदास, डॉ त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृष्ठ० २०

मानव-समाजहीन मनोवृत्तियो मे सलग्न था। चारित्रिक-पतन, धन-लिप्सा, प्रतिकार की भावना, दम्भ, मिथ्या-अहकार की भावना दिन प्रतिदिन वढती जा रही थी। शूद्र भी उच्च-पद पाने के अभिलाषी थे, दूसरी ओर स्त्रियो की अवस्था हीन होती जाती थी।

नारी की समस्या

मध्य-युगीन नारी का चित्र अत्यन्त हीनता मे सपन्न है। स्त्री की गणना भी सम्पत्ति के अन्तर्गत होने लगी थी, कारणकि चारित्रिक दृष्टि से मुसलमानो का स्तर गिरा हुआ था, जिसके फलस्वरूप नित्य ही सुन्दर दिव्यागनाओ की प्राप्ति के लिये युद्धो का आयोजन होता था।[३] अपनी स्त्रियो को अपमान से वचाने के लिये वाल-विवाह

---

१ A Short History of India
— By Dr Ishwari Prassad —Page 653
२ भा० में मु० शासन का इतिहास, श्री राम शर्मा, पृष्ठ २२२।
३ सुन्दर-दर्शन डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० १७-२०।

एव पर्दे की प्रथा प्रारम्भ हो गई थी। राजपूतो के यहां तो कन्या की हत्या तक कर दी जाती थी। मध्य-युग में नारी का चित्र कामुक वृत्तियो को उभारने वाला ही मिलता है। मद्यपान के साथ पायल की झकारो ने विलासी व्यक्तियो को और भी उत्साहित किया और नारी का भोगमय रूप सामने आया।

इन दोषो से मुक्ति प्राप्त कराने के लिये ही सत-कवियो ने काम, क्रोध से दूर रह कर दया तथा क्षमा को धारण करने का उपदेश दिया, और साथ ही कथनी तथा करनी के साम्य को हमारे सम्मुख लाये। उन्होंने चेतावनिया दी कि अहकारी वृत्तियो मे फसा मानव केवल मिथ्या बातें करना ही जानता है, वह ससार की क्षणभगुरता की ओर बिल्कुल ही ध्यान नही देता है। यह शरीर जो कि बालू की भित्ति के समान एक दिन ढह जायेगा, उससे अच्छे कर्म क्यो न किये जाय। वासना की तृप्ति का चेरा ही क्यो बना रहा जाय। इसी कारण सतो ने तत्कालीन जनता को भोग-लिप्सा से दूर रहने का उपदेश दिया अन्यथा मनुष्य की वही गति होगी जो दीपक पर अनुरक्त पतगे की होती है। इसी कारण मानव को समाज मे अपमानित होना पडता है। काम, मन को विचलित करता है और मन इन्द्रियों को। काम और साधना साथ-साथ नहीं चल सकते। इसी कारण उससे दूर रहने का उपदेश दिया। यो तो हमारे सत कवियों ने नारी के मातृ-रूप की एव पतिव्रत रूप की बारम्बार प्रशसा भी की है।

इसी प्रकार इन सतो ने यह भी बताया कि ब्राह्मण वही है जो कर्म से पवित्र हो और ब्रह्म के ध्यान मे सतत् सलग्न रहता हो, जो आतमविद्या का मनन करता हो, काम, क्रोध, मद, मोह आदि से परे हो तथा सत्य-प्रिय और मृदुभाषी हो और उसका हृदय दया से सभी शीतलता प्राप्त करें।[1]

निर्गुण सन्त-कवियो द्वारा किये गये उपदेशो की स्पष्ट रूप से व्याख्या हम दूसरे परिच्छेदो मे करेंगे। परन्तु यहाँ पर एक बात बता देना आवश्यक है, कि व्यापक और राष्ट्रीय-पैमाने पर सुधार करना किसी पथ के सस्थापक का कार्य न था। उसके लिए

---

१. ब्राम्हन सो जो ब्रह्म पिछाने
बाहर जाता भीतर जाने
पाचो बस करि झूठ न भाखै
दया जनेऊ हिरदै राखै
आतम विद्या पढै पढावै
परमातम का ध्यान लगावै
काम क्रोध मद लोभ न होई
चरन दास कहै ब्राह्मन सोई

'सत कवि चरनदास'—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित,
पी-एच० डी०, डी० लिट्०, पृ० १८

आवश्यक था कि भारत का सम्राट् ही प्रथम कदम उठाये। इस क्षेत्र मे प्रथम कदम अकबर ने ही उठाया, उसने भारत मे एक ऐसे नये-समाज की स्थापना का प्रयत्न किया जो न हिन्दू हो और न मुसलमान वरन् भारतीय हो। बटोर्ली के इन शब्दो मे देखिये

"जिस साम्राज्य का प्रमुख एक व्यक्ति था, उसके लिए यह बुरी बात थी कि उसके सदस्यो मे परस्पर फूट हो और वे एक दूसरे से ऐसे भिन्न हो कि आपस मे लडे-झगडे

इसलिए हमे चाहिए कि उन सबको एक सूत्र मे पिरोने का प्रयत्न करें, किन्तु इस ढग से कि वह सब एक तो हो जायें, लेकिन एक धर्म मे जो अच्छी चीजें है उन्हें न त्यागे और दूसरे मे जो अच्छी चीजें हैं उन्हे ग्रहण कर लें। इस प्रकार ईश्वर के प्रति सम्मान प्रगट होगा, जनता मे शान्ति स्थापित होगी और साम्राज्य सुरक्षित रहेगा।"[1]

सुधारक के लिए आवश्यक था कि वह पग-पग पर हिन्दू-मुस्लिम जनता की गहरी धार्मिक भावनाओ और विश्वासो का सामना करता रहे। अकबर तो विदेशी एव विजाती था। इस कारण उसके मार्ग मे बाधायें भयकर रूप से आई। परन्तु अकबर ने हिन्दू अथवा मुसलमान किसी एक सम्प्रदाय को सुधारने का प्रयत्न नही किया और न कोई सम्प्रदाय ही कायम किया। उसने सबको मिलाकर एक नवीन राष्ट्र बनाने का प्रयत्न किया, जो कि हिन्दू और मुसलमानो के सीमित दायरे मे बहुत दूर हो। इसी कारण उसका कार्य और भी दु साध्य हो गया। फिर भी उसने गोवध तथा सती-प्रथा का निषेध किया। विवाहावस्था की अवधि बढाई, मद्यपान तथा वेश्या वृत्ति पर सामाजिक नियन्त्रण लगाये। विभिन्न सम्प्रदायो के भेद-भाव मिटाने के लिए नवीन धर्म की स्थापना की, जजिया आदि धार्मिक करो को हटाया, सभी को समान रूप से सरकारी पद देने प्रारभ किये, हिन्दू-मुसलमानो मे अन्तर्जातीय विवाह प्रारम्भ किये। विभिन्न उपायो द्वारा उसने अपने स्वप्न[2] को पूरा करने की चेष्टा की।

परन्तु उसका यह स्वप्न पूर्ण न हो सका। कारण कि अकबर के बाद होने वाले शासको ने धीरे-धीरे इस नीति मे परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया और औरगजेब ने तो अकबर के किये हुए समस्त कार्यों पर पानी ही फेर दिया और फिर से सकुचित विचारो को लेकर इस्लाम के आधार पर शासन करना प्रारम्भ कर दिया।

धर्म, समाज एव राजनीति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसमे से एक का भी

---

१ भारत मे मुगल शासन का इतिहास, श्रीराम शर्मा, पृष्ठ ७३९।

२ उसका स्वप्न था—

> "सब धर्मो और नस्लो का सार खीचना सब सुन्दर पौधो से अच्छे से अच्छे पुष्प चुनना और फिर एक मुकुट ऐसा गूंथना जो केवल राजा के लिए ही नही बल्कि समय आने पर हर मुसलमान, ब्राह्मण, बौद्ध, इसाई और पारसी के लिए हो अपनी असख्यक प्रजा को अपनी अधीनता मे एकता के सूत्र मे पिरोना पुरानी घृणा को प्रेम के सोने मे परिवर्तित करना और फिर सर्वत्र उसका प्रचार करना।"

पतन होने पर दूसरे का पतन भी स्वत ही हो जाता है। इसी कारण देश की राजनीतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ समाज मे भी परिवर्तन होते गये और समाज के परिवर्तन के साथ-साथ धर्म मे भी परिवर्तन होते गये। मध्ययुगीन भारत भी किसी प्रकार इसका अपवाद नही कहा जा सकता है, क्योकि इस्लामी कट्टरता भी अन्ततोगत्वा दूर हो ही गई। अल्ताफ हुसैन के शब्दो मे "दीनें हिजाजी का वेवाक बेडा, गगा के दहाने मे आकर डूब गया" इधर हिन्दुओ की भी कठोरता दूर होती गई, जिनका कि प्रत्यक्ष प्रमाण हमे उस युग के समाज मे दिखाई पडता है।

सन् १३०० से १८०० तक राजनीतिक परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक परिस्थितियो मे भी परिवर्तन होते गये। यदि कोई दयालु शासक सामाजिक परिस्थितियो को सुधारने की चेष्टा भी करता, तो उसके बाद मे होने वाले अन्ध-विश्वासी शासक उसके किये हुए पर पानी फेर देते थे। इस प्रकार इन पाँच सौ वर्षो मे भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियाँ रही। कभी हिन्दू जजिया के कर से मुक्त हो जाते थे और कभी जजिया के साथ अन्य धार्मिक कर भी देने पडते थे। कभी राजदरबारो मे उच्च-पद प्राप्त करते थे, तो कभी राज दरबारो से निकाल भी दिये जाते थे। समाज को सघर्ष एव विद्रोही भावनाओ ने अभिशप्त कर रखा था। सामान्य जनता का विचार था, कोई भी राजा क्यो न हो हमे क्या करना।[1] क्योकि प्रजा को केवल अनीति और दण्ड राज्य-शासन की ओर से, अकाल,[2] महामारी तथा दुर्भिक्ष परमात्मा की ओर से प्राप्त था। किसान, मजदूरो एव शूद्रो की स्थिति शोचनीय थी। उच्च-वर्ग निम्न वर्ग को दबाने मे ही लगा हुआ था। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की स्थापना के पश्चात् अग्रेजो की शोषण-नीति प्रारम्भ हुई, यह दाँव-पेंच की चालें चल कर शोषण कर रहे थे, मुगल सम्राटो की भाँति बल एव वैभव का प्रदर्शन करके दमन नही कर रहे थे। परन्तु सामाजिक-जीवन तो छिन्न-भिन्न हो ही चुका था और हो रहा था। फिर भी जनता महत्वाकाक्षा के अभिशाप से उत्पीडित थी, फलत हम यह कह सकते है कि उन ५०० वर्षो का सामाजिक, जीवन एक ओर महत्वाकाक्षा की डोर पकडे हुए था और दूसरी ओर अपनी प्राचीन-काल से चली आई हुई रूढियो का। दोनो के बीच मे होने

---

१ गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति
"कोई नृप होय हमें का हानी,
चेरि छाँडि ना होउब रानी"
साधारण जनता द्वारा व्यक्त किये गये विचार ही है।

२ जहाँगीर के समय १६३० मे बहुत बडा अकाल पडा था।
(सुन्दर दास ने इसका वर्णन किया है)

३ कलि बारहि बार दुकाल परै,
बिन अन्न दुखी सब लोग मरै।
(गोस्वामी तुलसीदास)

वाले अन्तर्द्वन्द्व उसे बेचैन कर रहे थे । वह किधर जाय, क्या करे, क्या न करे, उसकी समझ मे कुछ भी नही आ रहा था । चारो तरफ अन्धकार ही अन्धकार था । नित्य कुचक्र रचे जाते थे ।

इन्ही परिस्थितियो ने हमारे निर्गुण-सन्त-कवियो की चिन्तन-पद्धति और दृष्टिकोण मे आवश्यक परिवर्तन उत्पन्न किये और उन्होने समाज को सुचारु रूप से चलाने के उपदेश दिये । काम, क्रोध, मोह, लोभ से दूर मानव को केवल कर्तव्य करने का उपदेश दिया । गृहस्थाश्रम के प्रति सन्तो का क्या दृष्टिकोण था ? यह हम आगे स्पष्ट करेंगे ।

सास्कृतिक-परिस्थितियाँ

'सस्कृति' शब्द बहुत व्यापक है । यह मानव की चिर-साधना, चिर-तपस्या और सयमशीलता की महती देन है । इसी कारण इसका प्रभाव धर्म एव साहित्य दोनो पर ही पडता है । स्थूलरूप से यह भी कहा जा सकता है कि 'सस्कृति' परिष्कृत विचार-धाराओ का वह समन्वय है, जिसमे आदर्श और उत्थान का मूलसूत्र विद्यमान रहता है । 'सस्कृति' एव समाज का बडा निकट सम्बन्ध रहता है । जब किसी देश का समाज विकृत हो जाता है, राजनीतिक-परिस्थितियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, आर्थिक एव धार्मिक स्थितियाँ बिगड जाती है, तो उस देश की सस्कृति स्वत ह्रासमान हो जाती है। जनता की विचारधारा और बाह्य-परिस्थितियो का सस्कृति के स्वरूप पर गम्भीर प्रभाव पडता है । सस्कृति का निर्माण और ह्रास वर्षों मे होता है । सस्कृति से ही जन-जीवन के सस्कारो का निर्माण और परिष्कार होता है ।

मुसलमानो के आगमन के पूर्व भारत मे एक ही प्रकार की सास्कृतिक एकता थी । यद्यपि धर्म, रीति-रिवाज और भाषाये पृथक्-पृथक् थी, फिर भी यह विविधता एक ही भाषा की अनेक बोलियो के समान एक दूसरे के समीप ही थी । किन्तु इस्लाम-धर्म के आगमन से भारत मे सस्कृति की दो धारायें बह चली । ये दोनो धाराये पर्याप्त समय तक समानान्तर रूप से चलती रही । किसी-किसी स्थान पर वे एक दूसरे का स्पर्श भी करती रही, परन्तु मिल कर एक नही हो पा रही थी । हमारे निर्गुण-सन्त-कवियो ने इन विभिन्न विषम सस्कृतियो मे एकता लाने का अथक प्रयास किया । सन्तो ने इस बात को स्थापित करने का प्रयत्न किया कि मानव मानव एक है । सब मनुष्य एक ही ब्रह्म की विभिन्न कृतियाँ है । केवल देशकाल की पृथकता से हमारे सस्कार भिन्न हो गये है । धर्म और अनेक परिस्थितियो ने हमारे बीच भेद की दीवालो को खडा कर रखा है । वस्तुत मनुष्य मनुष्य एक है और इसीलिये मानव कृत भेद-भाव को छोडकर हमे एक दूसरे के निकट आना चाहिये । हमे सवेदनाशील एव सहानुभूति से सम्पन्न होना चाहिये । अन्यथा हमारा जीवन कटुता के कारण विषम और विषाक्त बन जायगा ।

अब मध्य-युगीन भारत की सास्कृतिक-परिस्थितियाँ विचारणीय है । सन् १३०० से लेकर सन् १८०० तक देश की सास्कृतिक-पृष्ठभूमि यवन-सस्कृति से पूर्णतया प्रभावित

और सतप्त बनी रही। बहु-सख्यक हिन्दू पारस्परिक वैमनस्य और वैषम्य के कारण एक दूसरे के शत्रु हो रहे थे। उनकी सांस्कृतिक एकता नष्ट-प्राय थी। उनकी केन्द्रीभूत सत्ता पूर्णतया समाप्त हो गई थी। रहने मात्र के लिए हिन्दू और मुसलमान एक साथ रहते थे, पर वास्तव मे एक दूसरे के शत्रु बने हुये थे। हिन्दूओ मे भाई ने भाई के विरुद्ध मुसलमानो को युद्ध और अभियान करने के लिये आमन्त्रित किया।

बहुसख्यक हिन्दुओ पर अल्पसख्यक, शक्तिशाली एव क्रूर मुसलमान राज्य कर रहे थे। वे हिन्दुओ को हर प्रकार से उत्पीड़ित और व्यथित कर रहे थे। बहुत समय तक साथ-साथ रहने पर भी हिन्दू और मुसलमानो के मध्य भेद की खाई किसी प्रकार मिट न पाई। दोनो एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते रहे। इसका प्रमुख कारण यह था कि हिन्दू मूर्तिपूजक थे और उनके विरुद्ध मुसलमान मूर्तिभजक थे। सुविधा के लिये अब हम इस परिच्छेद की सामग्री को निम्नलिखित दो भागो मे विभाजित कर लेंगे।

(१) मध्य-युग मे हिन्दू-सस्कृति
(२) मध्य-युग मे मुस्लिम-सस्कृति

मध्य-युग मे हिन्दू-संस्कृति

मध्यकाल मे हिन्दू-जाति पारस्परिक वैमनस्य और फूट से अभिशप्त थी। पशु, पिशाचपूजा, टोना-टटका, अधविश्वास, पूजापाठ, उत्सव, समारोह ने हिन्दुओ के जीवन के विभिन्न चरणो मे सक्रिय और साहसिक कार्यों का स्थान ले लिया था। राजनीतिक-परिस्थितियों के साथ सास्कृतिक-जीवन भी शिथिल और विनष्ट हो गया था। हिन्दू विजेताओं के अधीन थे। उनमे रूढ़िवादिता और अनैक्य का प्रसार था।

साहित्य के क्षेत्र मे इस काल मे अनेक देशीय भाषाये विकसित हुई। इस काल मे विभिन्न अपभ्रशो का विकास हुआ और विशद साहित्य प्रस्तुत हुआ। इस समय जिन कवियो का अविर्भाव हुआ, वे सब सांस्कृतिक-एकता स्थापित करने वाले और धार्मिक-भावो से प्रधान कवि थे। विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, दादू, केशव, आदि उस समय के कवि थे। इसी समय कृत्तिवास ने (सन् १३७० मे) बगला मे रामायण की रचना की। सन् १४७३ तथा सन् १४८० मे मध्य मालाधार वसु ने 'भागवत पुराण' का बगला मे अनुवाद किया। सजय और काशीराम जैसे महान कवियो ने धार्मिक ग्रथो की रचना की। जयदेव ने 'गीत गोविन्द' की रचना की। जयदेव राजा लक्ष्मण सेन के दरबारी थे। उसी समय प्रसिद्ध कवि चडीदास ने बगला में काव्य रचना की। इस काल में मराठी का भी विकास हुआ, ज्ञानेश्वर ने सन् १२९० मे 'ज्ञानेश्वरी' की रचना की। इसी समय ज्ञानदेव (१२७०-१३५०) ने मराठी और हिन्दी में विपुल साहित्य की रचना की। मराठी के अन्य कवियो में जानबाई, तुकाराम (१६०८-१६४९ ई०), रामदास (१८०८ ई०) आदि उल्लेखनीय है। इस काल में राजस्थानी-भाषा की भी अच्छी उन्नति हुई। इस समय के ग्रन्थो मे चन्द्र बरदाई कृत 'पृथ्वीराजरासो' तथा जगनिक कृत 'आल्हा' विशेष प्रसिद्ध है। मध्य-काल मे सस्कृत

साहित्य की भी प्रगति हुई। व्याकरण पर इस युग में अनेक टिप्पणियां लिखी गईं। इनमें पाणिनि के सूत्रों का नया जन्म दिया गया। इनमें से 'जनिक सूत्र' नाम से प्रसिद्ध है। भर्तृहरि ने पातंजलि के महाभाष्य पर एक टिप्पणी लिखा। इसी समय सर्ववर्मन ने 'कातन्त्र' प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की थी। इस काल में अनेक न्याय-ग्रन्थों की रचना हुई। जिनमें उल्लेखनीय हैं, हेमचन्द्र धर्मकीर्ति, गंगेश, पुण्डरीकदास तथा यादव भट्ट। 'न्याय' पर उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य आदि ने प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की। हेमचन्द्र ने 'प्रमाणमीमांसा', 'धर्म कीर्ति' ने बौद्ध धर्म पर 'न्याय बिन्दु' तथा बंगाल में गणेश ने 'तत्व चिन्तामणि' की रचना की। इसके अतिरिक्त श्रीधर ने वैशेषिक दर्शन पर, वाचस्पति ने सांख्य योग और पूर्व-मीमांसा पर तथा शंकराचार्य ने वेदान्त-दर्शन पर ग्रन्थ लिखे।

काव्य-क्षेत्र में, इसी समय में कल्हण ने 'राजतरंगिणी' की रचना की। इस काल के 'अमरुशतक', 'भट्टि काव्य', 'शिशुपालवध', 'नलचम्पू', 'नागानन्द गीत' तथा 'पार्श्वभ्युदय' (जैन आचार्य जिनसेन कृत) प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे गये। भर्तृहरि ने शृंगार, नीति तथा वैराग्य शतकों की रचना की। काश्मीर के प्रसिद्ध कवि बिल्हण ने 'चौरसुरत पचासिका' की रचना की। इस काल के अन्य रचियताओं में दामोदर गुप्त 'समाधान मंजरी' 'भारत मंजरी' 'दशावतार' लेखक क्षेमेन्द्र कुमार तथा सेम चन्द्र थे। इस युग के प्रसिद्ध नाटककारों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं आनन्दवर्धन (प्रबोध चन्द्र के लेखक), 'वेणिसंहार' के लेखक भट्ट नारायण, 'मुद्राराक्षस' के लेखक विशाखदत्त, प्रबोध चन्द्रोदय के लेखक कृष्ण मिश्र। कथा-साहित्य के क्षेत्र में नारायण ने हितोपदेश, गुणाढ्य ने 'बृहत कथा' क्षेमेन्द्र ने 'बृहत कथा मंजरी', दण्डि ने 'दशकुमार चरित्र' सुबन्धु ने 'वासवदत्ता', बाण ने 'हर्ष चरित्र' तथा कादम्बरी तथा धनपाल ने 'तिलक मंजरी' जैसे ग्रंथों की रचना की।

इस काल में विज्ञान पर भी प्रचुर साहित्य लिखा गया। उदाहरणार्थ भास्कराचार्य ने खगोल विद्या पर 'सिद्धान्त शिरोमणि' लिखा। ब्रह्मगुप्त, मल्ला, श्रीधर, ब्रह्मदेव एवं उत्पल आदि इस विद्या के महान लेखक हुये। गणित शास्त्र में आर्य भट्ट, भास्कराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र विशेष प्रसिद्ध हुए। आयुर्वेद में वाग् भट्ट का 'अष्टाग सग्रह', माधवकर का 'माधव निदान', चक्रपाणि दत्त का 'चिकित्सा सार सग्रह,' शार्गधर का 'शार्गधर सहिता' इस युग के प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस समय शल्य-चिकित्सा, भाषा-विज्ञान (शब्द प्रदीप) तथा प्रेम पर अनेक ग्रन्थ विरचित हुये। अन्य ग्रन्थो मे कृषि-विज्ञान पर 'कृष्ण सग्रह', वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश' (प्राकृत भाषा का व्याकरण) मोगलायन तथा धनपाल के पाली एव प्राकृत शब्दकोष, इस युग की प्रसिद्ध रचनायें है।

दर्शन एव धर्म

मध्ययुगीन भारत मे विश्वविश्रुत दार्शनिक एव विचारको का भी आविर्भाव

हुआ। आचार्य शंकर ने इसी युग मे उत्पन्न होकर हिन्दू धर्म की आधारशिला को सुदृढ किया। वेदान्त पर उन्होंने प्रसिद्ध ग्रंथो की रचना की। रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, निम्बार्क आदि इस युग के प्रमुख विचारक थे। इस युग मे ब्रह्म की उपासना के लिये विविध रूप प्रचलित थे। जिसमे राम, कृष्ण, विष्णु तथा शिव जनता मे विशेष प्रिय थे। शक्ति रूप मे दुर्गा, चंडी, काली, उमा, लक्ष्मी के रूप अधिक पूजे जाते थे। मन्त्र-तन्त्र के उपासको का भी अभाव नही था। बलि प्रथा प्रचलित थी।

कलायें

इस समय कला के क्षेत्र मे अनेक प्रकार के परिवर्तन एव विकास हुये। इस समय निर्माण-कला (मूर्ति निर्माण तथा मन्दिरो के निर्माण के रूप मे) का अधिकतर विकास हुआ।

राजपूत-चित्रकारी

मुसलमानो के आक्रमणो के फलस्वरूप १५ वी शताब्दी मे पहाडी चित्रकारी एव राजपूत-चित्रकारी का जन्म हुआ। इस शताब्दी मे उत्तरी भारत मे चित्रकारी की दो दृष्टियो से प्रगति हुई। प्रथम थी भक्ति के विकास के द्वारा प्रान्तीय बोलियो की उन्नति एव विकास तथा दूसरी कागज का प्रचलन। कागज के व्यवहृत होते ही पत्थरो से हटकर चित्रकला कागज पर अंकित होने लगी। इस युग मे राजपूत-कला मे नवीन शैलियो और प्रसाधनो ने जन्म एव रूप ग्रहण किया। मुगलो के सरक्षण मे राजपूत शैली ने और भी उन्नति की। राजपूत-कला के पूर्व पतनोन्मुख उच्चकोटि की कला तथा गुजराती-कला का प्रचलन था। राजपूत-कला के विकास-क्षेत्र थे मालवा, मेवाड, उदयपुर, अजमेर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ, नाथद्वारा, कोटा, बाणपुर तथा दतिया। सत्रहवी शताब्दी तक यह कला उन्नति की चरम-सीमा पर पहुँच गयी थी। राजपूत-कला की प्रधान पृष्ठ-भूमि या विषय है, रागमाला। कृष्णलीला, नायिका भेद, दरबारो के दृश्य, शिकार के दृश्य, यात्रा, समारोह, ऋतु चित्रण आदि इस कला के अन्य विषय हैं।

राजपूत कला की मुख्य विशेषतायें हैं .

(१) मौलिक शक्ति एव वीरता।
(२) व्यक्त भावो की सरलता एव प्रत्यक्षता।
(३) परम्परागत तात्पर्य।
(४) आह्लाद एव चमत्कार।
(५) सजावट।

राजपूत-चित्रकला के साथ ही साथ 'कागडा' पहाडी या हिमालय चित्रकला का भी विकास हुआ। इस कला का विकास केन्द्र काश्मीर था। इसका विकास क्षेत्र जम्मू मे गढवाल और पठान कोट मे कुलू घाटी तक था। राजपूत-कला के समान

इसके भी रग चमत्कार और आन्तरिक भावनाएँ सजीव है। परन्तु १८ वी शताब्दी मे इन दोनो कलाओ का पतन हो गया।

नृत्य एव सगीत

मध्य-काल मे नृत्य-कला एव संगीत की प्रचुर उन्नति हुई। उत्तर-भारत में हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क के माध्यम से कथक-नृत्य का विकास हुआ। इसी प्रकार दक्षिण मे देव-दासियाँ 'भारत नाट्यम' नृत्य करती थी। राजदरबारो मे नृत्य की यह शैली बहुत प्रचलित थी। कथाकली तथा मणिपुरी नृत्यो का प्रदर्शन भी राजदरबारो तथा विशेष समारोहो पर होता था।

सगीत की इस समय विशेष उन्नति हुई, और प्रथम बार अनेक राग-रागनियो को सुना गया। तबला, सितार, सारगी तथा अन्य आधुनिक वाद्य-यन्त्रो की रचना भी इसी काल मे हुई। इसी काल मे सगीत के नियमो को लेकर सगीत-शास्त्र पर अनेक ग्रथ लिखे गये। कोहला, दत्तिल, सारगदेव, हरिदास स्वामी, दामोदर, आहोवाल, सोमनाथ पडित व्यकट मुखी तथा पुडरीक विट्ठल आदि इस युग के प्रमुख विद्वान है। जिन्होने सगीत-शास्त्र पर श्रेष्ठ ग्रथो की रचना की। गाने की विविध शैली, विधियाँ, स्वर-ताल आदि को लेकर नई-नई खोजें हुई। इसी समय हिन्दुओ के मुख्य वाद्य-यत्र वीणा के बोल के अनुकूल स्वर-ताल बनाये गये। हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क के कारण नवीन रागो की रचना हुई। इस काल मे अनेक प्रसिद्ध सगीतज्ञ हुये, जिसमे अलाउद्दीन खिल्जी के दरबार के गोपाल नायक, ग्वालियर के नायक बख्श, स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजू-बावरे, जगन्नाथ, लाला खाँ, आदरग तथा सदारग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सगीत-कला का पतन औरगजेब के काल मे प्रारभ हुआ और अठारहवी शताब्दी मे अन्य कलाओ की भाँति सगीत-कला का भी पतन हो गया।

निर्माण-कला

इस काल मे मन्दिर निर्माण-कला मे विशेष उन्नति हुई। इस समय मन्दिर या देवालय 'विमान' कहे जाते थे। उनके ऊपर का भाग स्तूपाकार होता था, जिसे शिखर, स्तम्भ या मीनार भी कहा जाता था। 'विमान' के अन्तर्गत एक छोटी अधेरी कोठरी भी होती थी, जिसे गर्भ-गृह कहते थे। इसके समक्ष एक मडप रहता था, जहाँ भक्त एकत्र होते थे। खजुराहो के मन्दिर इस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं इसका समय १० वी शताब्दी है। इस काल के उत्तरी एव दक्षिणी भारत के मन्दिर की निर्माण-कला मे प्रचुर भेद है। उत्तरी भारत के मन्दिरो के शिखर स्तम्भाकार तथा दक्षिण मन्दिर स्तूपाकार हैं। खजुराहो के मन्दिरो मे भारतीय निर्माण-कला के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते है। राजपूताना, मध्य-भारत, गुजरात, आबू पर्वत पर भी निर्मित मन्दिरो का कला की दृष्टि से उल्लेख होना आवश्यक है। कला की दृष्टि

से जोधपुर का 'महामन्दिर' तथा उदयपुर का एकलिंग मन्दिर उल्लेखनीय है। पाटन से १८ मील दूर पर स्थित मोधरा का 'सूर्य मन्दिर' भी कला की दृष्टि से दर्शनीय है। आबू पर्वत पर निर्मित 'विमला मन्दिर' कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका ग्यारह घेरे में निर्मित वृहद गुम्बज कलाकार की कल्पना और कौशल का परिचय देता है। सोमनाथ का मन्दिर भी कला की दृष्टि से यहाँ उल्लेखनीय है। इस काल में निर्मित मन्दिरों में बम्बई प्रान्त का 'अमरनाथ मन्दिर,' ग्वालियर का 'सासबहू मन्दिर', नासिक का 'गोंडेश्वर मन्दिर' कला के अनुपम उदाहरण हैं। इसी समय काठियावाड़, शत्रुंजय तथा गिरनार पहाड़ियों पर बने हुये जैन-मन्दिर की कला दर्शनीय है। काश्मीर के मन्दिरों की कला समस्त कलाओं से पूर्ण तथा भिन्न है। यह कला गान्धार तथा गुप्त-कला से साम्य रखती है।

जाति-प्रथा

मध्यकालीन हिन्दू-समाज में जाति-प्रथा का प्रचलन था। ब्राह्मणों का सर्वाधिकार सम्मान था। ये वेद और विद्या के विशेषज्ञ होते थे और ये सम्राटों के परामर्शदाता होते थे। ब्राह्मण कवि, ज्योतिषी, दार्शनिक या पुरोहित होते थे। ये संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का स्थान था। इनका मुख्य कार्य था शासन करना, युद्ध करना, यज्ञ करना तथा अध्ययन में संलग्न रहना। इस काल के क्षत्रियों में अनेक उपजातियाँ भी उत्पन्न हो गई थीं। इस समय तक मद्यपान आदि अनेक प्रकार की बुराइयाँ इस वर्ग में उत्पन्न हो गई थीं। क्षत्रियों के बाद वैश्य थे। कृषि, पशुपालन, दान, यज्ञ, सूद के द्वारा धन अर्जन करना, व्यापार, वाणिज्य और ऋण देना इनका व्यवसाय था। चतुर्थ जाति शूद्रों की थी। सेवा इनका परम-धर्म था। इनके अतिरिक्त कायस्थ नाम की एक विशेष जाति थी। इनका कार्य था लिखने-पढ़ने का। मध्यकाल में सब जातियों में मैत्रीपूर्ण व्यवहार था। उनमें विवाह सम्बन्ध भी हो जाता था। समाज में स्त्रियों का सम्मानपूर्ण स्थान था। वे वाद-विवाद में भाग लेती थीं। स्त्रियों में इन्दुलेखा, सुभद्रा, मदालसा, मरुला तथा लक्ष्मी जैसी कवयित्री हुई हैं।

मध्य-युग में मुस्लिम-संस्कृति

मध्य-युग में मुस्लिम संस्कृति की प्रधानता थी। इस्लाम की पताका के नीचे मुसलमान परस्पर सहोदर की एकता को अंगीकार किये हुये अनैक्य से अभिशप्त हिन्दुओं को पराजित करते फिरते थे। मुस्लिम-संस्कृति के प्रचार के कारण चतुर्दिक हिंसा, अत्याचार, अनाचार और भ्रष्टाचार का प्रचार था।

साहित्य

इस काल में फारसी-साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण विकास हुये। मध्य-काल में ही फारसी-साहित्य का जन्म एवं विकास हुआ। फारसी-साहित्य में धर्म-निरपेक्ष गद्य

की रचना प्रारम्भ हुई। इस भाषा मे विरचित साहित्य मे ऐतिहासिक साहित्य एवं कथाओ की अधिकता है। मुसलमानो के योगदान से साहित्य के ऐतिहासिक स्वरूप की उन्नति से भारतीय-सस्कृति और भी अधिक उर्वरा हुई। सुल्तान युद्धो एव शासन मे व्यस्त रहते थे, परन्तु फिर भी वे विद्वानो और साहित्यिक अभिरुचि के लोगो का समादर करते थे। एशिया के अनेक भागो से साहित्यिक एव विद्वान आकर दिल्ली मे बस गये थे। सुल्तान उनका स्वागत करते थे। दिल्ली शहर विद्वानो और फारसी साहित्य का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन गया था। इसी समय अनेक केन्द्रीय मकतबो, विद्यालयो और महाविद्यालयो की स्थापना की गई। राज्य की ओर से कुतुबखाना या पुस्तकालयो की स्थापना हुई। इस समय तीन प्रकार की शैक्षिक सस्थाएँ विद्यमान थी, प्रारम्भिक, माध्यमिक एव विश्वविद्यालय। विश्वविद्यालय मुख्य नगरो मे होते थे। ये नगर थे, जालधर, दिल्ली, फिरोजाबाद तथा जौनपुर। मस्जिद तथा खनका आध्यात्मिक-विद्या प्रचार के केन्द्र होते थे। लडकियो की भी शिक्षा का प्रबन्ध था। बलबन के सबसे बडे शाहजादे मुहम्मद ने सर्वप्रथम शिक्षा सस्थाओ का सगठन प्रारम्भ किया था।

कला-कौशल की शिक्षा कारखानो मे दी जाती थी। विभिन्न व्यापारी वर्गो ने अपने-अपने शैक्षिक कारखानो की स्थापना कर रखी थी। शिक्षा मे नैतिकता एव अनुशासन पर जोर दिया जाता था। सुल्तान-काल मे फारसी की विशेष उन्नति हुई।

इस समय उत्कृष्ट कोटि की कथा तथा ऐतिहासिक लेख प्रस्तुत हुये। जिनमे हसन निजामी की 'ताजुल मआसिर', मिहाजुद्दीन सिराज की 'तबकत-ई-नासीरी', नजियाउद्दीन बरानी की 'तारीख-ई-फिरोजशाही', शम्स-ई-सिराज अफीफ की 'तारीख-ई-फिरोजशाही', यहिया बिन अहमद की 'तारीख-ई-मुबारकशाही' तथा इसामी की 'फतह-अस-सलातीन' उल्लेखनीय हैं। इस समय कहानियाँ, लोकगीत, व्यावहारिक कलाओ तथा लघु कथाओ से सम्बन्धित ग्रन्थो की रचना भी हुई। इस कोटि के ग्रन्थो मे मुहम्मद औफी की 'जवामी उलहिकाया' खुसरो की 'मल्ला-उल-अनकर', यूसुफ गादा की 'तफायत-नसीह', 'किताब-ई-नि' मात खाना ई-नासिर शाही, बरानी की 'फतवा-ई-जहान्दारी' तथा याकूब करानी की 'फिग-इ-फिरोज शाही' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस समय आये हुये अनेक यात्रियो ने यात्रा-विवरण भी रोचक ढग से प्रस्तुत किये। इन यात्रियो मे मार्को पोलो, इब्नबतूता, फाह्यान, अब्दुर्रज्जाक, कोन्टी, स्टीफेन्स, वर्थमा, वर्बोसा तथा सिदी अली रईस प्रमुख है।

मध्य-काल मे ही देशी-साहित्यो का विकास तथा उर्दू का जन्म हुआ। प्रान्तीय भाषाओ मे प्रचुर साहित्य की रचना हुई। मुगल-काल मे पाठशाला या मकतबो के पाठ्यक्रम मे कुरान के पाच कलमो को कण्ठाग्र करना अनिवार्य था। माध्यमिक-शिक्षा सस्थाओ मे प्रशासन, कला, गणित, बीज-गणित, विज्ञान, हिसाब किताब, अर्थशास्त्र, इतिहास, कानून, नीति, साहित्य और दर्शन का अध्ययन होता था। धर्म समस्त अध्ययन का मूल था। प्रत्येक मदरसा मे एक मस्जिद होती थी। विश्वविद्यालयो

मे निवास का समुचित प्रबन्ध होता था। अकबर के राज्यकाल मे अनुवाद, इतिहास-ग्रन्थ और कविता की प्रचुर रचना हुई। अकबर और जहाँगीर के दरबारो मे विद्वानो की बडी कद्र थी। इन विद्वानो ने नई नई शैलियो को जन्म दिया और मौलिक साहित्य की रचना की। अकबर के दरबार मे अबुलफजल, मुल्ला दाऊद, फैजी सरहिंदी, अबुल बकी, अबलफैज, अब्दुर्रहीम, अब्दुल फतह, मुहम्मद हुसैन नाजरी तथा सिराज जैसे कवि एव विद्वान विद्यमान थे। जहागीर के दरबार के विद्वानो मे गयास बेग, नकीब खाँ, मुतामिद खाँ, नियमातुल्लाह, अब्दुल हक देहलवी, प्रमुख थे। औरगजेब के राज्य-काल मे साहित्य की धारा क्षीण पड गई थी, क्योकि उसे कविता मे प्रेम नही था। फिर भी ऐतिहासिक ग्रन्थो की रचना शायरी मे गुप्त रूप मे लिखी गई। मुहम्मद काजिम ने 'आलमगीरी' तथा खफीखाँ ने 'मुन्तखाबुल लुबाब' ग्रन्थो की रचना की थी।

औरगजेब की मृत्यु के समय और उसके बाद साहित्य-आन्दोलन बन्द नही हुआ, वरन् इस समय विरचित साहित्य में सास्कृतिक पतन के लक्षण दृष्टिगत होने लगे। यह वासनापूर्ण तथा सुकुमार नग्न युवतियो की रूप-रेखा का वर्णन करने वाला साहित्य था।

मुगल-काल मे कविता चरम-सीमा पर पहुच गई थी। बाबर और हुमायू स्वत कवि थे। अकबर भी शायरी करता था। अबुलफजल ने लिखा है कि दरबार मे ७० से अधिक उच्च कोटि के कवि विद्यमान थे। इन कवियो ने अनेक काव्य ग्रन्थो की रचना की। जहाँगीर साहित्यिक अभिरुचि का शासक था। बाबर के आत्म-चरित्र के समान जहागीर ने भी आत्म-चरित्र लिखा है। जहागीर के दरबार मे भी उच्चकोटि के कवि थे, जिनका वर्णन हम पीछे कर चुके है। शाहजहाँ ने कला और साहित्य को और भी सरक्षण दिया। अबुलफजल हिन्दी-फारसी के प्रमुख प्रतिनिधि थे। इस काल मे अब्दुल हमीद लाहौरी, मुहम्मद वारिस, मुहम्मद सलीह आदि प्रसिद्ध कवि हुये। फारसी शैली को विकसित करने वालो मे अमीन-ए-राज, बीनी, जलालुद्दीन, तबातबाई जैसे लोग उल्लेखनीय है। गजल, कसीदा तथा मसनवी शैली मे काव्य की रचना इस काल मे खूब हुई। ऐतिहासिक ग्रन्थो मे अब्दुल हमीद लाहौरी का 'पादशाहनामा', इनायत खाँ का 'शाहजहाँनामा' तथा मुहम्मद सलीह का 'अमल-ई-सलीह' प्रमुख है।

नृत्य एव संगीत

इस समय 'उत्तर' एव 'दक्षिण' मे प्राचीन नृत्य की परम्परा तथा प्रणाली जारी थी। नर्तकियो और वेश्याओ के प्रसार तथा पनपने के कारण नृत्यकला कला के उच्च सिहासन मे गिरकर भ्रष्ट हो रही थी। शासक-वर्ग विलासी हो रहा था अत वे इस कला की ओर से विमुख थे। फलत यह कला पेशेवर लोगो तक ही सीमित रह गई। नृत्य की जो दशा हुई, उसमे विभिन्न स्थिति सगीत की थी। सन्तानो के दरबारोमे

सगीतज्ञो और सगीत-यन्त्र-वादक कुशल कलाकार आश्रय तथा प्रोत्साहन पाते थे। सुल्तान अलाउद्दीन असाधारण सगीत प्रेमी था। जलालुद्दीन फिरोज खिल्जी प्रसिद्ध सगीतज्ञ था, और अपने साथियो के साथ वह नृत्य भी करता था। राजा मानसिह के राज्यकाल (१४८६–१५१८) मे ग्वालियर, सगीत-कला का प्रसिद्ध केन्द्र था। राजा मानसिह स्वत ध्रुपद सगीत के रचयिता माने जाते है। वेजू पाण्डवी, लोहाग, इस समय के प्रसिद्ध सगीतज्ञ और आचार्य थे। मुगल भी सगीत के सरक्षक और प्रेमी थे। बाबर इस कला मे निपुण था। हुमायू तथा अकबर भी इसी प्रकार सगीत के प्रेमी थे। तानसेन अकबर के ही आश्रय में रहता था। अकबर के दरबार मे तीस से अधिक श्रेष्ठ सगीतज्ञ रहते थे। मालवा के बाजबहादुर, लालकलवन्त, हरिदास, रामदास, सुमान खाँ, दाऊद धारी, मिया नानक, अकबर के समकालीन प्रसिद्ध सगीतज्ञ थे। जहागीर के शासन-काल मे जहागीर दाद, खुर्रम, दाद मखान तथा छत्तर खाँ आदि प्रसिद्ध सगीतज्ञ थे। शाहजहा के दरबार मे रामदास, महायान, लाल खा, गुण समुद्र तथा जगन्नाथ जैसे प्रसिद्ध गायक थे। औरगजेब के राज्य-काल मे सगीत पर पूर्ण नियत्रण लगा दिया गया था। परन्तु बाद के मुगलो ने इसे फिर सरक्षण और प्रश्रय प्रदान किया।

निर्माण-कला

निर्माण-कला की दृष्टि से मध्य-युग का विशेष स्थान है। मुस्लिम शासक शानशौकत प्रिय व्यक्ति थे। इस काल मे शतश ऐसी इमारते बनी जिनमे हिन्दू तथा मुसलमान-कला का सुन्दर समन्वय है। मुस्लिम-निर्माण-कला मेहराबो, गुफाओ तथा गुम्बजो पर आधारित थी, और हिन्दू कला खम्भे, शहतीरो तथा स्तूपाकार खम्भो अथवा सकीर्ण शिखरो पर आधारित थी। मुगल-काल मे निर्माण कला की विशेष उन्नति हुई। अकबर को हिन्दू निर्माण-शैली बहुत प्रिय थी। सन् १५५६-१६०५ ई० के मध्य निर्मित इमारतो मे हिन्दू-निर्माण शैली की प्रधानता है। आगरा के किले मे जहागीर-महल इस निर्माण शैली का सुन्दर उदाहरण है। इसका केन्द्रीय भवन, चौकोर स्तम्भ, छोटे मेहराब आदि हिन्दू-निर्माण-शैली के उदाहरण है। दीवान-आम, पचमहल, सिकदरा (अकबर की समाधि), आगरा मे स्थित इतमादुद्दौला की कब्र, जोधाबाई का राजमहल (फतेहपुर सीकरी) हिन्दू-निर्माण-शैली के उत्कृष्ट उदाहरण है। मुस्लिम निर्माण-कला का प्रतीक ताजमहल है। शाहजहाँ के अनन्तर मुगलो की इमारतो मे यूरोपीय प्रभाव परिलक्षित होने लगा।

चित्रकला

मुसलमान बादशाहो ने चित्र-कला पर उतना ध्यान नही दिया, जितना अन्य कलाओ की ओर ध्यान दिया था। कारण कि चित्र-कला का घनिष्ठ सम्बन्ध वे मूर्ति-पूजा से मानते थे। जिन हिन्दुओ ने इस्लाम ग्रहण कर लिया, उन्होने इस कला का

प्रचार किया। मुगल इस कला को फारस से लाये थे। कहा जाता है कि जलालुद्दीन खिल्जी ने अपने सुईजी के किले में चित्रकारी बनवाई थी। बाबर अपने पूर्वजों के पुस्तकालयों से इस कला के सुन्दर नमूने ले आया था। हुमायूं ईरान में नवीन फारसी कला के प्रसिद्ध दो चित्रकारों को ले आया था। अकबर ने राजकीय चित्रशाला की स्थापना की थी। जहांगीर तो कलाकारों का राजा प्रसिद्ध ही है। शाहजहां भी चित्रकला प्रेमी था। परन्तु औरंगजेब के राज्य काल में समस्त कलायें ह्रासमान हो गई थी। मुगल चित्र रचना में पुस्तकों के चित्र भी सम्मिलित है। यह धर्म-निरपेक्ष कला थी।

अन्त में हम यही कहेंगे कि दो विभिन्न धाराओं में बहती हुई हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियों के सामञ्जस्य का प्रचार हमारे निर्गुण सन्त कवियों ने किया।

आर्थिक-परिस्थितियां

मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष के लिये अर्थ या धन की अत्यधिक आवश्यकता होती है। किसी भी देश में समाज के समस्त प्रकार के आदान प्रदानों का एक मात्र आधार धन होता है। देश की आर्थिक परिस्थितियों का राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों से अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। कारण कि राजनीति, समाज, संस्कृति तथा धर्म के मूल में धन या अर्थ महत्वपूर्ण कार्य करता है। जीवित रहने के लिये, राजनीति का सचालन करने के लिये, सांस्कृतिक वातावरण के सृजन के लिये तथा धर्म साधना के हेतु उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करने के लिये धन तथा अर्थ की बड़ी आवश्यकता होती है। इसीलिये यह कहना असम्भव न होगा कि किसी देश की आर्थिक परिस्थिति का उस देश की चतुर्दिक उन्नति और आशातीत सफलता के लिये सुदृढ़ होना परमावश्यक है। इतना ही नहीं देश के विकास और जय के लिये उसकी आर्थिक-सत्ता की पुष्टता बहुत आवश्यक है।

भारतवर्ष के तेरहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी, पांच-सौ वर्षों के इतिहास को जब हम ध्यानपूर्वक देखते हैं तो ज्ञात होता है कि यह समय इस देश का सबसे अभिशप्त युग था। जीवन का चतुर्दिक वातावरण क्षुब्ध और विषाक्त था। उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों के कारण देश की राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ क्षुब्ध और हीन तो बनी ही थी, साथ ही इस समय की आर्थिक परिस्थितियाँ बडी शोचनीय और चिन्तनीय थी। उत्तर-पश्चिम से होने वाले आक्रमणों के कारण इन पांच सौ वर्षों की कृषि, वाणिज्य, दस्तकारी और धनार्जन के अन्याय उपाय नष्ट हो गये थे। इन पांच सौ वर्षों में जनता इतनी त्रस्त और प्रताडित, क्षुब्ध और विचलित, अशान्त और धैर्यविहीन हो गई थी, कि उसका मन धनोपार्जन और वाणिज्य से विलग हो गया था। अकाल और आक्रमणों की इतनी अधिकता एवं प्रबलता रही कि जनता का जीवन हर ओर से संकटपूर्ण बन गया।

था। इन पांच सौ वर्षों मे सैकड़ो अकाल, सैकड़ो अभियान और सैकड़ो विनाशकारी युद्ध हुये फिर भला देश की आर्थिक स्थिति कैसे अक्षुण्ण बनी रह सकती थी।[1]

मुसलमानो के आगमन से पूर्व हमारा देश सम्पन्नता और समृद्धि का केन्द्र था। प्रसिद्ध है कि इस देश मे दूध-घी, धन-धान्य की नदियाँ बहती थीं। मानव-जीवन सम्पन्नता का प्रतीक था। समाज सब ओर से संतुष्ट होकर उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर था। देश की सम्पन्नता और समृद्धि मे आकर्षित होकर महमूद गजनवी के आक्रमणो से देश की आर्थिक स्थिति की विकृति का प्रारम्भ हुआ। देश की शस्य-श्यामला भूमि विनाश, रक्तपात, सहार तथा पिशाचों की क्रूर-लीलाओं की क्रीडास्थली बन गई।

महमूद गजनवी ने प्रथम बार १००० ई० मे भारत पर आक्रमण किया, और सीमावर्ती नगरो पर विजय प्राप्त की, इस आक्रमण से उसे अतुल धनराशि प्राप्त हुई। इस आक्रमण के एक वर्ष बाद उसने भटिण्डा के राजा जयपाल पर आक्रमण किया। उसे पराभूत करके उसकी अपार सम्पत्ति को अपने अधिकार मे कर लिया। सन् १००६ मे उसने भारत पर अपना तृतीय व चतुर्थ आक्रमण किया। इस आक्रमण मे उसने भीरा तथा मुल्तान नगरो को अपने अधिकार मे किया। मुल्तान के शासक से २० हजार सोने की दिरम लेकर यह गजनी लौट गया। सन् १००८ मे उसका पाँचवां आक्रमण हुआ और सेवक पाल को पराजित करके उसने चार लाख दिरम हर्जाने मे वसूल किये। सन् १००६ मे महमूद ने भारत पर छठा आक्रमण किया। यह भारत मे परिवर्तन करने वाला युद्ध था। इस युद्ध मे उसने आनन्दपाल को पराजित करके नगर कोट के किले पर अधिकार कर लिया और किले की अपार सम्पत्ति का अधिकारी बना। सन् १०१४ मे थानेश्वर पर उसका भयानक आक्रमण हुआ और घोर सग्राम के अनन्तर विजय और अपार सम्पत्ति महमूद के हाथ लगी। सन् १०१८ मे जमुना पार करके कन्नौज पर आक्रमण किया। महावन के शासक को लूटकर उसने मथुरा मे प्रवेश किया और प्रचुर धन राशि लूटी। सन् १०१९ मे कन्नौज के प्रतिहारो ने बिना युद्ध किये अधीनता स्वीकार करके, उसे प्रचुर सोना देकर गजनी विदा किया। सन् १०२५ मे उसने सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। इस अभियान मे उसे अपार धनराशि मिली। प्रसिद्ध है कि सोमनाथ के मन्दिर को लूट कर, प्राप्त धन और सामग्री को ८० हजार ऊँटो पर लाद कर वह गजनी गया। इस प्रकार केवल एक आक्रमणकारी ने भारतवर्ष पर सत्रह प्रहार किये, और अपार असख्य, धनराशि लूट कर इस देश की आर्थिक-स्थिति को विकृत बना गया।

महमूद गजनवी के अनन्तर भारतवर्ष की भूमि पर प्रबल आघात और लूट-मार करके यहाँ की जनता को शोषित करने वाला व्यक्ति था मोहम्मद गोरी। मोहम्मद गोरी ने ११९३ ई० मे आक्रमण किया और वीर राजपूतो को पराजित किया, इसी

---

१ सुन्दर-दर्शन, डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृष्ठ १३, १४, १५।

युद्ध मे महाराजा पृथ्वीराज बन्दी बनाये गये । ११९४ ई० मे उसने कन्नौज पर आक्रमण किया, इस युद्ध मे जयचन्द पराजित हुआ । इन दोनो युद्धो के बाद उसे विपुल धन सम्पत्ति और वैभव प्राप्त हुआ । इतिहासकारो ने महमूद गजनवी और मोहम्मद गोरी को समान रूप से भयकर लुटेरा सिद्ध किया है ।[१] उन्होने देश की आर्थिक स्थिति को हर प्रकार से नष्ट किया ।

मोहम्मद गोरी के पश्चात् गुलाम-वश का राज्य स्थापित हुआ । सन् १२२० ई० मे इल्तुतमिश के राज्यकाल मे मगोल सरदार चगेज खाँ ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया । अपनी तलवार की झनकार से उसने समस्त एशिया को कँपा दिया । चगेज खाँ का अभियान विनाश का सन्देश बन कर आया, परन्तु वह शीघ्र ही टल गया । चगेज खाँ के आक्रमण के फलस्वरूप कृषि की दशा बहुत विकृत हो गई थी । फौजें लहलहाती हुई कृषि को कुचलती चली जाती थी ।

गुलाम-वश के अनन्तर खिल्जी-वश का राज्यकाल सन् १२९० ई० मे प्रारम्भ होता है । खिल्जी नरेशो के राज्यकाल मे अनेक युद्ध हुए जिनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय है, देवगिरि की चढाई । इसमे युद्ध नही हुआ, राजा रामचन्द्र ने हार स्वीकार करके अतुल सोना, हीरे, जवाहरात और हाथी भेंट किये । इस चढाई मे कृषि की अत्यधिक हानि हुई ।[२] अलाउद्दीन के राज्यकाल मे मुगलो के आक्रमण और भय के कारण बडी अराजकता फैल गई थी । सरदार कुतुलग ख्वाजा के भय से दिल्ली मे इतने शरणार्थी आ गये थे कि भुखमरी की हालत उत्पन्न हो गई थी ।[३] इसके अनन्तर रणथम्भौर और चित्तौड गढ के युद्धो मे देश की विपुल सम्पत्ति विनष्ट हुई । अलाउद्दीन के राज्यकाल मे वस्तुओ का बाजार भाव इतना चढ गया था कि उसे नियत करने के लिए राज्य की ओर से मूल्य निर्धारित कर दिये जाते थे । भाव-तौल का निरीक्षण स्वय बादशाह ही करता था । इसी समय भूमि-कर का भी नया बन्दोबस्त किया गया ।[४] अलाउद्दीन के राज्यकाल मे जनता की आर्थिक स्थिति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि दुधारू गाय का दाम तीन टका और खूबसूरत स्त्री का दाम ३० टका हुआ करता था । स्मरण रखना चाहिए कि टके का मूल्य लगभग रुपये के बराबर ही हुआ करता था ।

इस युग में भारत को अनेक दुर्भिक्षो का भी सामना करना पडा । जलालुद्दीन फिरोज खिल्जी के शासन काल में (सन् १२९०–,९६) अनाज की बहुत ही अधिक कमी हो गई थी । दिल्ली में अन्नका भाव ७॥ जीतल प्रति मन से बढ कर ४० जीतल प्रति मन हो गया था । शिवालक की उपत्यका तक के लोग दुर्भिक्ष से पीडित होकर अन्न

---

१ भारत का चित्रमय इतिहास, महावीर अधिकारी, पृष्ठ २४०-२४१ ।

२ भारत का चित्रमय इतिहास, महावीर अधिकारी, पृष्ठ २६३ ।

३ भारत का चित्रमय इतिहास, महावीर अधिकारी, पृष्ठ २६५ ।

४ भारत का चित्रमय इतिहास, महावीर अधिकारी, पृष्ठ २७१ ।

की खोज में दिल्ली आने लगे थे और वहाँ भी भोजन न प्राप्त होने पर आत्म-हत्या कर लेते थे, जिससे जीवन का ही अन्त हो जाय। मुहम्मद तुगलक के समय में भी इसी प्रकार का अकाल गगा-यमुना के दोआवे मे पडा और वहुत से नर-नारी भूख से तडप-तडप कर प्राण देने के लिए विवश हुए, लेकिन सुल्तान की आज्ञा से अधिकारियो ने कोडे मार कर कर वसूला।[1] अलाउद्दीन खिल्जी ऐसे वैभवशाली सुल्तान ने जनता की दुर्भिक्ष से रक्षा करने की चेष्टा भी की, परन्तु उसे सफलता न प्राप्त हुई, क्योंकि अराजकता के कारण किसानो के लिए कृषि पर ध्यान देना असम्भव सा हो गया था, और अनाज के अभाव में जनता की भूख मिटा देने का कोई उपाय उस समय था नही। आवागमन के साधन भी इतने सुलभ न थे कि वाहर के प्रदेशो से अन्न मँगवाया जा सके।

अकाल के समय में अन्न का मूल्य वहुत ही वढ जाता था। फिरोज शाह तुगलक के समय के दुर्भिक्ष में तो ६४० जीतल प्रति मन के भाव मे भी जनता को अन्न प्राप्त कर सकना सम्भव नही था। परन्तु यह ऊँचे भाव दुर्भिक्ष के समय ही होते थे। जव अनाज पर्याप्त मात्रा में होता था तो कीमतें गिर जाती थी। प्रसिद्ध यात्री इब्नवतूता के कथनानुसार वगाल में वस्तुओ की कीमतें जितनी कम थी, उतनी ससार के किसी अन्य देश में नही थी।

अलाउद्दीन खिल्जी, मुहम्मद तुगलक और फिरोज शाह तुगलक के समय दुर्भिक्ष काल को छोडकर वैसे वस्तुओ की कीमते ठीक ही रहती थी। अलाउद्दीन का वाजार-सम्वन्धी नियम इतिहास में प्रसिद्ध है, परन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त नियम ढीले पड गये और उसकी कडियाँ टूट टूट कर गिरने लगी। मुहम्मद तुगलक मे व्यावहारिकता का अभाव था, उसने ताँवे का सिक्का चलाया परन्तु व्यावहारिक पक्ष की शून्यता के कारण देश और भी खोखला हो गया। फिरोज़ ने देश-सुधार की चेष्टा भी की परन्तु मृत्यु के वाद और भी कुव्यवस्था फैल गई।

परन्तु इस युग मे विदेशी व्यापार भी होता था। समुद्र-मार्ग द्वारा चीन, मलाया, ईरान, अरव और योरप के साथ भारत का व्यापारिक सम्वन्ध था। इब्नवतूता और मार्कोपोलो ने भारत में अनेक वन्दरगाहो का उल्लेख किया है, जिनमें विदेशो के व्यापारी अपना माल वेचने व भारतीय माल का क्रय करने लिए एकत्र हुआ करते थे।

स्थल-मार्ग द्वारा मध्य-एशिया, ईरान, तिव्वत और भूटान के साथ व्यापारिक-सम्वन्ध था। घोडो, खच्चरो व ऊँटो के काफिलो से भारत एव विदेशो के व्यापारी आदान-प्रदान किया करते थे। परन्तु हिन्दू-जनता का क्या स्थान था, इस उद्धरण द्वारा स्पष्ट हो जाता है :

"यद्यपि उत्पादन और व्यापार अपनी पूरी गति के साथ देश के भीतर और वाहर चलता रहा, फिर भी वडे-वडे व्यापारी और मुसलमान अमीर ही उसका लाभ उठा

---

१. भारत का चित्रमय इतिहास, महावीर अधिकारी, पृष्ठ २८४।

सके, निम्न श्रेणी की हिन्दू जनता केवल उत्पादक भर थी, उपभोग से उसका कोई अर्थ न था।"[1]

सन् १३६८ ई० मे क्रूरता की प्रतिमूर्ति तैमूर का प्रसिद्ध एव भयानक आक्रमण हुआ। इस आक्रमण का वर्णन बडा लोमहर्षक है। हिन्दुओ द्वारा पराजय स्वीकार कर ली जाने पर भी उन्हे हर प्रकार से लूटा गया, उनकी सम्पत्ति को नष्ट किया गया[2], और खेत-खलिहान जला दिये गये। तैमूर की सामान्य आज्ञा से उसके सैनिक धन, धान्य, अनाज, जानवरो के लिए चारा बलात् घरो मे घुसकर लूट लाते थे।[3] जब तक तैमूर रहा तब तक ही जनता के प्राण सकटो मे पडे ही रहते थे उसके प्रत्यागमन के अन्तर देश-व्यापी अकाल, दुर्भिक्ष, भुखमरी ने जनता के जीवन को ग्रस्त कर लिया। खेती-बारी पूर्णतया नष्ट हो गई थी।[4] तैमूर के आक्रमण ने देश को और भी अधिक बर्बाद कर दिया।

बाबर और हुमायू के समय की आर्थिक-दशा के सम्बन्ध मे अधिक ज्ञात नही हो सका, क्योकि 'बाबरनामा' मे जो आर्थिक-स्थिति दिखाई गई है, उससे अनेक इतिहासकार सहमत नही है। इसी प्रकार 'हुमायू नामा' (गुलबदन बेगम) मे जो आर्थिक-स्थिति का उल्लेख किया गया है, उससे भी इतिहासकार सहमत नही है। अकबर के समय की आर्थिक दशा अच्छी थी[5] इसका प्रमाण योरपीय यात्रियो के विवरण मे भी प्राप्त हो जाता है। साथ ही उनके तथ्यों का प्रमाण 'आइन-ए-अकबरी' मे भी मिलता है। बाद के मुगल-शासकों के समय की आर्थिक-स्थिति का ज्ञान भी इतिहासो से प्राप्त हो जाता था। इस काल मे यूरोपीय व्यापारियो ने अपनी कोठिया समुद्र-तट के नगरो मे स्थापित कर दी थी और उनके लेखा-जोखा से मुगल-युग के आर्थिक-जीवन की जानकारी प्राप्त हो जाती है। ये विवरण साथ ही साथ प्रामाणिक भी है।

---

१ भारत का वृहद् इतिहास, पृष्ठ ३३२।

2 The Rai submitted but the Amir inflicted heavy punishments upon the inhabitants of Bhatnir Men and Women were slain, and their food were forcibly seized, and the buildings and the fort were raized to the Ground

—A Short History of Muslim Rule in India—page 165

3 A Short History of Muslim Rule in India—page 165

4. To the sufferings consequent upon a war, conducted by heartless ruffians, fired by a fantastic thirst of bloodshed and plunder, were added the horrors of famine and pestilence which destroyed men and cattle, and caused suspension of agriculture.

—A Short History of Muslim Rule in India—Page 166.

5. A Short History of Muslim Rule in India—Page 636

मुगल-युग मे भारत के अनेक नगर बहुत ही समृद्ध थे।[1] आगरा, फतेहपुर-सीकरी, लाहौर, बुरहानपुर, अहमदाबाद, बनारस, पटना, राजमहल, बर्दवान, हुगली चटगाँव ढाका आदि इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

अकबर ने १५७७ ई० मे अब्दुस्समद शिराजी को दिल्ली टकसाल का दारोगा बनाया और मुगल-युग की मुद्रा-पद्धति को स्थायी व नियमित रूप देने की चेष्टा की। इसी प्रकार अन्य शहरो के टकसालो के भी दारोगा नियुक्त किये गये। यह व्यवस्था की गई कि इन विभिन्न टकसालो मे जिन सिक्को का निर्माण हो वह तौल, आकार व धातु-शुद्धता की दृष्टि से एक सदृश हो। वस्तुओ की कीमतें भी निर्धारित की गईं।[2] जिससे जनता सुगमतापूर्वक वस्तुओ को प्राप्त कर ले।

मुगल-काल मे बहुसख्यक लोग खेती ही करते थे, परन्तु व्यवसाय एव शिल्प भी इस युग मे विकसित हो चुके थे। भारत के सूती व रेशमी कपडो की माग अन्य देशो मे थी। यदि अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध तक व्यावसायिक जीवन को ध्यान में रखा जाय तो भारत भी व्यावसायिक दृष्टि से उच्च स्तर पर था।

वस्त्र-व्यवसाय भारत का सर्व प्रधान व्यवसाय था। गुजरात, खानदेश, बनारस, पटना आदि इस व्यवसाय के केन्द्र थे, परन्तु मुगल-युग मे भी भारत को अनेक दुर्भिक्षो का सामना करना पडा। सन् १५५५ व १५५६ में बियाना के समीपवर्ती प्रदेशो में भयकर दुर्भिक्ष पडा। इस दुर्भिक्ष का वर्णन करते हुये बदायूनी ने लिखा है

"लोग मानव मास को खाने में तत्पर हो गये और दुर्भिक्ष पीडित नर-नारियो की दशा को आँख से देखना सम्भव नही रहा। यह सम्पूर्ण प्रदेश एक रेगिस्तान की भाति दिखाई देने लगा।[3] १५७३-७४ में गुजरात में दुर्भिक्ष पडा, जिसके साथ भयकर महामारी भी फैल गई। अनाज के अभाव मे कीमत बढने लगी और लोग अनेक कष्ट भोगने लगे। सन् १५९५ से १५९८ तक भारत को फिर एक बार दुर्भिक्ष का सामना करना पडा और नर-मास भक्षण तक में लोगो ने सकोच न किया। ये तीन दुर्भिक्ष क्रमश बाबर, हुमायू व अकबर के समय में हुए।[4] जहाँगीर के

---

१ १५८५ मे फिच नामक यूरोपियन यात्री ने लिखा है

"आगरा और फतेहपुर दो बहुत बडे-बडे नगर है। इन दो मे से प्रत्येक विशालता और जनसख्या की दृष्टि से लदन की अपेक्षा बहुत बडा है। आगरा और फतेहपुर के बीच का अन्तर १२ मील है। इस सुदीर्घ मार्ग के दोनो ओर बडी-बडी दुकानें हैं, इस पर चलते हुये इतने मनुष्य मार्ग मे मिलते हैं मानो हम बाजार मे घूम रहे हैं।"

२. आइन-ए-अकबरी मे वस्तुओ की कीमतें दी है।

३ ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृष्ठ ६५६।

४ गोस्वामी तुलसी दास ने भी लिखा है।

कलि बारहि बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।

शासन काल में भारत को किसी दुर्भिक्ष का सामना न करना पड़ा। परन्तु सन् १६३० में शाहजहाँ के शासनकाल में दक्षिण और गुजरात मे फिर एक बार भयकर दुर्भिक्ष पड़ा।[1] सन् १६३५ से १६४३ के मध्य में देश में अनेक बार दुर्भिक्ष पड़े। सन् १६४५ से ४६ का दुर्भिक्ष बड़ा ही भयकर था। देश में त्राहि-त्राहि मच गई। लोग नर-भक्षक बन गये। सन् १६५० और १६५८ में सूरत मे व्यापक दुर्भिक्ष पड़े। वस्तुओ के मूल्य बहुत बढ़ गये। सन् १६५६ तथा सन् १६६० में भी देश के विभिन्न स्थानो में दुर्भिक्ष पड़े, जिनके कारण मानवता अत्यधिक दुःखी और पीडित रही।[2]

मुगल शासको ने दुर्भिक्ष के अवसरो पर जनता की, सहायता की परन्तु उनके द्वारा की गई व्यवस्थाओं से जनता को लाभ न हो सका क्योंकि उसमे भी लाभ उठाने वाला उच्च वर्ग ही था। मुगल-काल मे अन्न की समस्या ही मुख्य समस्या थी। तुलसीदास का रोटी के लिए "बारे ते ललात बिललात" प्रसिद्ध ही है। इस अन्न की समस्या ने समाज में विषमता ला दी थी

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिक न चाकर को चाकरी
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सो कहा जाइ काकरी"
(गोस्वामी तुलसीदास)

रोटी के ही प्रश्न ने भारतीयो के सम्मिलित परिवार की भावना को भी ठेस पहुँचाई।[3] दासता की भावना जागृत हुई

मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं।
उदर भरइ सोइ पाठ पढ़ावहिं ॥[4]

शासको द्वारा सतत्-शोषित और भगवान द्वारा दिये गये दुर्भिक्षो की ज्वाला से पीडित प्रजा की आर्थिक-दशा शोचनीय थी।

---

१ डच व्यापारी ने इसका वर्णन इस प्रकार दिया है
"गलियो में अर्ध मृत दशा में पड़े हुये लोगो को दूसरे लोग मार डालते थे और मनुष्य-मनुष्य का भक्षण करने के लिये तत्पर हो गये थे।"

२ रीति-कालीन हिन्दी-साहित्य (लेख)—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित।

३ मात पिता सुत जिउ सो पालैं,
करैं पियार भया सब कालै।
जब वह पुत्र सयाना होई,
निसरि जात अग्या सो सोइ ॥
। नूर मुहम्मद इन्द्रवाती। उत्तरार्द्ध।

४. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरित मानस, उत्तरकाड

"ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेट की ।"[१]

आर्थिक-कष्ट से समाज की सुख शान्ति विनष्ट हो गई थी । परस्पर घृणा, ईर्ष्या, लोभ का ताडव समाज मे दिखाई पडता था । जनता की गाढी कमाई का धन राज-वर्ग की विलासिता की पूर्तियो मे व्यय होता था । हिन्दू जनता की आय से अर्ध-भाग के करीब केवल हिन्दू होने के नाते ही करो में देना पड जाता था । औरंगजेब ने तो कर और भी बढा दिये थे और युद्ध के लिये जाने वाली फौजो के कारण खेती भी ठीक से नही हो पाती थी

"चाकरी न आकरी न खेती न बनिज भीख"[२]

आर्थिक दृष्टि से मुगल-काल में जनता तीन भागो में विभाजित थी । प्रथम मनसवदार थे, राजकर्मचारी द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत आते थे और तृतीय श्रेणी मे उनकी गणना होती थी जो अपने परिश्रम के आधार पर जीवन के दिवस पूरे करते थे । प्रथम वर्ग सम्राट का पूर्णतया अनुकरण करता था । यह मास, मदिरा और कामिनी में अनुरक्त रहता था । यह वर्ग अधिक से अधिक व्यय करके आराम की वस्तुओ का सग्रह करता था । आराम और वैभव के लिये ये सब कुछ व्यय करने को उद्यत रहते थे ।[३] इसी श्रेणी के द्वारा विदेशी सामान खरीदा जाता था ।[४] मध्यवर्ग का जीवन सुखमय था । इसी श्रेणी में निम्न कोटि के राजकर्मचारी भी थे जो औरंगजेब के राज्य-काल में विशेष सुखी थे ।[५] तृतीय श्रेणी या निम्न-वर्ग के लोगो का जीवन बडा दु खमय और सघर्ष प्रधान था । उनकी आय उनके खाने भर के लिये पर्याप्त नही थी । उनके पास ऊनी वस्त्रो का अभाव था ।[६] अकबर के राज्य-काल में निम्नवर्ग भी सुखी था ।[७] जहागीर के समय मजदूरो की दशा-हीन थी, उन्हे पूरा वेतन नही मिलता था ।[८] मजदूरो से बेगार ली जाती थी ।[९] इस श्रेणी के लोग दिन

---

१ तुलसी-ग्रथावली, दूसरा खड (कवितावली), पृष्ठ १८५ ।

२. तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खड (कवितावली), पृष्ठ १७९ ।

३ ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृष्ठ ४८६ ।

४ ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृष्ठ ६४८ ।

5 A Short History of Muslim Rule in India—Page 680

6 A Short History of Muslim Rule in India—Page 651

7 A Short History of Muslim Rule in India—Page 657

8 A Short History of Muslim Rule in India—Page 651.
"The workmen were not paid adequate wages"

9 "They were seized by force and made to work in the house of a noble or officer who paid them what he liked

Ibid—By Dr Ishwari Prasad—Page 651

भर में एक बार खिचडी का भोजन करते थे।[1] औरगजेब के राज्य-काल मे निम्न-वर्ग की बडी दुर्दशा थी। इतिहासकार सरकार ने इस वर्ग की आर्थिक दशा का सविस्तार वर्णन किया है।[2]

मुगल-साम्राज्य में भारतीय-जनता की आर्थिक-दशा निरन्तर शोचनीय बनी रही। इतिहासकार स्मिथ का मत है[3] कि अकबर के राज्यकाल मे जनता की आर्थिक दशा आज की तुलना में अच्छी थी। यही दशा शाहजहा के समय मे भी रही। शाहजहां अर्थ-विषयक विभाग का निरीक्षण स्वत करता था। वह स्वय विषम समस्याओ पर विचार करके उनका हल निकालता रहता था। जनता की आर्थिक-स्थिति का ह्रास औरगजेब के समय मे प्रारम्भ हुआ।[4] इस ह्रास की स्थिति के कई कारण थे। हिन्दुओ की आय और कमाई का आधे मे अधिक भाग जजिया मे निकल जाता था। उसके अतिरिक्त उन्हे तीर्थ-यात्रा-कर, दड तथा अन्य सामाजिक कर समय समय पर देने पडते थे। औरगजेब की फौजें खेतो को नष्ट करती हुई जाती थी। दक्षिण के दीर्घ और व्यापक युद्धो के कारण जनता की दशा आर्थिक दृष्टि से और भी हीन होती गई। औरगजेब की अदूरदर्शिता, धार्मिकता तथा दक्षिण के व्यापक और दीर्घकालीन युद्धो के कारण किसानो और व्यापारियो की दशा विकृत बनी रही।[5] देश में चारो ओर लूट-मार का बाहुल्य था। जनता लुटेरो के कारण त्रस्त आर्थिक विषमताओ के कारण घूसखोरी का दोष सर्वत्र व्याप्त था।[6]

औरगजेब के राज्य-काल में वाणिज्य या व्यापार क्षीण हो चुका था। अकबर की दूर-दर्शिता और व्यापार कुशलता के कारण देश मे व्यापार की वृद्धि हुई थी।[7] जहागीर के समय में जनता के मध्य नई बाजारे, दूकानें और मेले आदि लगवाये

---

1 "They took one meal a day and this consisted of Khichri . their houses were built of mud with thatched roof"
Ibid—By Dr Ishwari Prasad—Page 651

2 History of Aurangzeba—by Sarkar, Vol V, Ch 62, Page—489, 441, 443-145 and 445-447

3 The ordinary labourer in Akbars days had more to eat than he has now and was happier than his compatriot today
A Short History of Muslim Rule in India—Page 636

4 History of Aurangzeb—by Sarkar
Vol. V, Cha 62, P 439-44

5 History of Aurangzeb—by Sarkar
Vol, III, Ch. 62, P 439-41

6 History of Aurangzeb—by Sarkar.
Vol III, Ch 62, P. 461.

7. Akbar the great Moughal—By Smith—P. 411

गये ।[1] शाहजहा के समय मे विदेशो से सम्बन्ध स्थापित किये गये ।[2] इतिहासकार इस बात से पूर्णतया सहमत है कि शाहजहा के शासन काल मे व्यापार की अच्छी उन्नति हुई ।[3] औरगजेब ने अपने पूर्वजो द्वारा स्थापित समस्त व्यापारिक सम्बन्धो को सदैव के लिये समाप्त कर दिया । व्यापारियो पर नये नये कर और नियम लगा कर उन्हे अपने राज्य से हटाने का प्रयत्न किया ।[4] औरगजेब के राज्य-काल मे विदेशी व्यापारियो को बडी कठिनाइयो का सामना करना पडा ।[5] व्यापारियो की सुरक्षा का प्रबन्ध अच्छा नही था ।[6] औरगजेब की मृत्यु-काल तक भारत का व्यापार

---

1 "Trade in Jahangir's time was brisk and market had firmer tone Distant markets were tapped and new markets opened because of the increased demands of the Portuguese, the Dutch and the English"

—"The Commercial policy of Moughal"
—By Dr D. Pant —Page 146

2. "Shahjahan was a good trader"

—"The Commercial Policy of Moughal"
—By Dr D pant —Page 210.

3 "The Commercial Policy of Moughal"
—By Dr D pant —Page 201

4 "Aurangzeb was not a trader He was anhilator of trade The various monopolies in salts, wax, silk, and other were the creation of his . governors All trade regulations violated and various interference in trade amounted to a policy of abstruction."

"The Commercial Policy of Moughal."
—By Dr D Pant —Page 242.

5 The Portugues trade was completely Smashed by Aurangzeb The English suffered much . English trade had considerably decreased during Aurangzed's reign

"The Commercial Policy of Moughal"
—By Dr D. Pant —Page 240

6 "Trade in the latter part of Aurangzed's reign followed arung in the other parts of Empire for safety to life and presperity was very little"

"The Commercial Policy of Moughal"
—By Dr D Pant —Page 240

प्राय समाप्त और नष्ट हो चुका था ।[1] वास्तव मे यह सब औरंगजेब की कट्टरता एव धार्मिकता का फल था । औरंगजेब के राज्य मे बढी हुई चुंगी की दर और करो ने व्यापार की स्थिति को और भी क्षीण कर दिया था । हिन्दू व्यापारियो को मिटाने के लिये औरंगजेब ने कोई प्रयत्न अवशेष नही रक्खा ।[2]

औरंगजेब से लेकर ईस्ट-इन्डिया कम्पनी की स्थापना तक देश की आर्थिक-स्थिति बहुत विकृत बनी रही । औरंगजेब की मृत्यु-तिथि सन् १७०७ से लेकर शाहआलम के राज्यकाल सन् १७५९ तक देश के सिंहासन पर कोई शासक स्थिर होकर बहुत समय तक राज्य न कर सका । प्रत्येक शासक राज्य-सिंहासन के मंच पर आता और दुर्भाग्य तथा परिस्थितियो से अपमानित होकर राजनीति के पर्दे के पीछे अन्तर्हित हो जाता था । इस अवधि मे बहादुरशाह, जहांदार, फर्रुखसियर, मुहम्मदशाह, मुहम्मदशाह, अहमदशाह, आलमगीर सानी, शाह आलम आदि शासको ने भारतवर्ष के सिंहासन पर राज्य किया । परन्तु इन सभी का राज्यकाल अनिश्चित एव अशांति से पूर्ण था । इनमे से कोई इतना शक्तिशाली न था, जो देश की ह्रासमान परिस्थितियो को समाप्त करके, उसे उन्नति की ओर अग्रसर कर सकता । भारतीय शासन क्रमश शिथिल और शक्तिहीन होता गया और दूसरी ओर ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी का राज्य और अधिकार सुदृढ होता गया । सन् १७७४ से सन् १७८५ तक लार्ड हेस्टिंग्ज ने कम्पनी सरकार की नीति को गवर्नर-जनरल पद से कार्यान्वित किया था ।

सन् १७०७ से लेकर सन् १७५९ तक राजनीतिक एव सामाजिक स्थिति के साथ ही साथ देश की आर्थिक स्थिति भी विकृत होती गई । नित्य नये उत्पात, गृहयुद्ध, आक्रमण और पारस्परिक कलह के कारण देश की व्यापारिक तथा आर्थिक परिस्थिति ह्रासमान होती गई । बहादुरशाह को राजपूतो से युद्ध करने पडे ।[3] इसके अनन्तर फर्रुखसियर के राज्य-काल की अवधि छ वर्षो तक चलती रही । इस काल मे देश की सभी प्रकार की परिस्थितिया मरहठो,[4] सिक्खो,[5] तथा सैयदो[6] के कारण

---

1 India at the death of Aurangzeb was like a cripple needing the support of others She leaned more and more on the English From the prowed position of great manufacturing country sending her goods far wide She became a heiver of wood and drawer of mater. All this followed from the neferious activities of Aurangzeb who inforcing his faith last this throne "

The Commercial Policy of Moughal

—By Dr. D Pant.—Page 241-242.

2 A Short History of Muslim Rule in India—Page 605.

३ लेटर मुगल्स, विलियम इर्विन, पृष्ठ ६६ ।

४ लेटर मुगल्स, विलियम इर्विन, पृष्ठ ३८२ ।

५ लेटर मुगल्स, विलियम इर्विन, पृष्ठ ३०७ ।

६ लेटर मुगल्स, विलियम इर्विन, पृष्ठ ३२७, ३४३ ।

निरन्तर क्षुब्ध बनी रही। सन् १७३९ मे भारत ने नादिरशाह के आक्रमण को झेला। इस आक्रमण मे देश की रही-सही आर्थिक परिस्थिति और भी हीन हो गई। लोग भूखो मरने लगे।। सन् १७४७, १७५१, १७५६, १७५७ ई० मे अहमदशाह दुर्रानी के चार भयानक और विपत्ति बरसानेवाले आक्रमण हुये। उन युद्धो और आक्रमणो के कारण नयी विपत्ति उपस्थित रहती थी। खेती-बारी उन युद्धो और अभियानो के कारण कभी पनपने नही पाती थी। व्यापार मे हर प्रकार की हानि की सम्भावना बनी रहने के कारण कोई व्यापारी निश्चित होकर पूरा समय और ध्यान नहीं दे पाता था। इस समय हर प्रकार की असगति या विषमताएँ तथा विभीषिकाएँ समाज को अभिशप्त कर रही थी। इस समय की आर्थिक-परिस्थितियो का चित्रण सत-कवि चरण दास ने बडे ही रोचक ढग मे सक्षेप मे किया है

एकन पग पनही नहीं, एक चढ़ै सुख पाल ।।
यही जो मोहि बताइये, एक मुक्ति को जाहि।
एक नरक को जाय कर, मार जमो की खाहि।।
एक दुखी इक अति सुखी, एक भूप एक रक।
एकन को विद्या बडी, एक पढे नहि अक।।
एकन को मेवा मिलै, एक चने भी नाहि।
कारन कौन दिखाइये, करि चरनन की छाहि।।
यही मोहि समझाइये, मन को धोखा जाय।
ह्वै करि निस्सन्देह मै, रहो चरन लिपटाय।।

मुगल-काल मे धन, वैभव, सत्ता और ऐश्वर्य केवल कुछ व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रित था। उच्च-वर्ग तथा शासक-वर्ग प्रासाद-निर्माण, नृत्य एव सुरापान मे सहस्रो रुपये व्यय करता था, परन्तु जनता की भलाई और उन्नति के लिए उनके पास अवकाश नही था। यह वर्ग अपने स्वार्थो मे सदैव सलग्न रहता था। समाज की आर्थिक विषमताओ ने देश की सस्कृति को असतुलित कर दिया था। आर्थिक असमानता ने भारतीय-जनता की एकरूपता को नष्ट कर दिया और जनता मे भाति-भाति का भेद-भाव समुत्पन्न हो गया।

इन आर्थिक परिस्थितियो ने भारतीय जनता को कगाल बना दिया था। इसका प्रभाव मध्य-वर्ग व निम्नवर्ग पर ही अधिक पडा। हमारे निर्गुण सत-कवियो ने जनता के इस वर्ग का ध्यान ईश्वर की ओर लाने की चेष्टा की, क्योकि इसके अतिरिक्त और कोई भी सहारा न था। सत कबीरदास ने तो स्पष्ट शब्दो मे जनता को सतोष धारण करने का उपदेश दिया। उन्होने सतोष-धन को ही श्रेष्ठ बताया ·

गोधन गजधन बाज धन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान।।

जीवन की विषमता को पूर्णरूपेण समझने वाले निर्गुण सत-कवियो ने मानव सुलभ तृष्णा की भी कडी आलोचना की, क्योकि तृष्णा के ही कारण मानव मे सतोष नही आने पाता है। तृष्णावान् मानव कही भी शान्ति नही प्राप्त कर सकता है। इस कारण तृष्णा से दूर ही रहना चाहिए।[1] शोषण के विरुद्ध भी हमारे सत कवियो ने कहा

कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय।।

कितनी सुन्दर भावना है, स्वय ठगे जाओ परन्तु किसी दूसरे को न ठगो। इस प्रकार इन सन्त-कवियो ने धन को अभिशाप बतलाकर दीनता मे ही सुख का अनुभव करना सिखलाया

सब ते लघुताई भली लघुता ते सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा सीस नवै सब कोय।।
(कबीर)

अन्त मे हम यही कहेंगे कि उन पाच-सौ वर्षो मे जनता का एक ओर तो शासक वर्ग शोषण कर ही रहा था। दूसरी ओर दुर्भिक्ष के कारण और भी स्थिति खराब हो गई थी। ऐसे आर्थिक कष्ट के युग मे हमारे सत-कवियो ने जो सन्तोष और दीनता का महत्व प्रदर्शित किया उसने निश्चय ही जनता को अपनी स्थिति मे स्थिर रहने और ईश्वर प्रेम मे रत रहने का उपदेश दिया।

धार्मिक परिस्थितियाँ

समाज, धर्म और साहित्य का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये तीनो किसी न किसी रूप मे एक दूसरे के विकास मे सहायक होते हैं। साथ ही यह भी निश्चित है कि एक के भ्रष्ट होने पर शेष दो भी किसी न किसी रूप मे भ्रष्ट और उद्देश्यविहीन बन जाते हैं। उदाहरणार्थ समाज के पतित हो जाने पर धर्म और साहित्य स्वत हीन भावनाओ से सम्पन्न हो जाते हैं। जब साहित्य सक्रिय और सदभावनाओ से सम्पन्न होता है, तो समाज और साहित्य स्वत समुन्नत बन जाते है। समाज, धर्म और साहित्य तीनो का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। तीनो का विकास और ह्रास एक दूसरे पर निर्भर है। तेरहवी शताब्दी से लेकर अठारहवी शताब्दी तक के समाज, साहित्य और धर्म की यही दशा थी। उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियो

---

१ की त्रिस्ना है डाकिनी, की जीवन का काल।
और और निस दिन करै, जीवन करै विहाल।।
—कबीर

ने भारतीय-समाज और धर्म को इतना पद-दलित किया कि भारतीय-जनता अपनी समस्त मौलिकता, स्वातन्त्र्य और प्रगतिशीलता को भूलकर जीवन के दिनो को पूरा करते रहने मे ही अपने जीवन की कुशलता समझती रही। तेरहवी शताब्दी मे अठारहवी शताब्दी तक बराबर भारतीय-जनता मुसलमान विजेताओ की तलवारो से इतनी आतंकित रही कि लाखो हिन्दुओ ने नारकीय कीडे का सा जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा "स्वधर्मे निधन श्रेय" को भूलकर इस्लाम-धर्म को हर प्रकार से अगीकार कर लिया।

तेरहवी से अठारहवी शताब्दी तक का समय भारतीय-संस्कृति के लिये बडा ही भयकर और भयावह था। मुसलमानो के रूप मे विनाश के बादल हिन्दू-जाति के मस्तक और क्षितिज पर सदैव छाये ही रहते थे। हिन्दुओ की जीवन-नौका इन पाच सौ-वर्षों मे राजनीतिक उत्पातो, वात्याचक्रो, उत्पीडनो के कारण निरन्तर अस्थिर ही बनी रहती थी। इस मध्य मे न जाने कितनी ही बार भारत की पवित्र शस्य-श्यामला उर्वरा भूमि हिन्दुओ के रक्त से नहलाकर अपवित्र की गई। सिकन्दर लोदी, महमूद गज़नवी, मुहम्मद गोरी, बाबर, हुमायूं, शाहजहा, औरगजेब, जैसी अनेक शक्तियो ने अपनी कठोरता के माध्यम से सहस्रो प्रकार से हिन्दुओ के दिल को दहलाकर, उन पर धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एव सास्कृतिक प्रतिबन्ध लगाकर, उनके जीवन को नारकीय बना दिया। इन पाँच-सौ वर्षों की राजनैतिक दशा सक्षेप मे तीन शब्दो—दमन, शोषण और उत्पीडन मे व्यक्त की जा सकती है। विनाश का अकाड-ताडव सर्वत्र विद्यमान था। इस समय का समाज हर प्रकार से ग्रस्त था। जब समाज की यह दशा थी, तो देश की धार्मिक एव साहित्यिक परिस्थितियाँ क्या हो सकती हैं, इसका अनुमान सरलता के साथ लगाया जा सकता है।

सन् १३२० से लेकर १४१२ ई० तक भारत के सिंहासन पर तुगलक-वश राज्य करता रहा। इन लगभग ६० वर्षों का इतिहास बडा अनिश्चित रहा। तुगलक-शासक अस्थिर स्वभाव के थे। उनकी योजनाए अत्यधिक महत्वाकाक्षाओ से अभिशप्त थी। इब्नबतूता जैसे निष्पक्ष यात्रियो ने मुहम्मद तुगलक के व्यक्तित्व का बडा रोचक मूल्याकन किया है।[1] मुहम्मद तुगलक के व्यक्तित्व का चित्रण करते हुये

---

1 "Muhammad is a man who, above all others, is fond of making presents and shedding blood There may always be seen at his gate some poor person becoming rich, or some loving one condemned to death His generous and brave action and his cruel and violent deeds, have obtained notorcity among the people Sultan seems to be an amazing compound of contradictions It is true, he was, like all medieval desposts, subject to great paraxysms of rage and inflicted the most brutal punishment upon those who offended against his will irrespective of the rank or order to which they belonged "
A Short History of the Muslim Rule in India—by
Dr Ishwari Pd —Page 133.

डा० ईश्वरी प्रसाद ने कहा है "मुहम्मद कमजोर दिमाग का शासक था, जो सदैव मुफ्ती और मौलवियो द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने के लिये अभिलाषी बना रहता था।"[१]

सन १३९८ मे विनाश, विपत्ति और विघटन का सन्देश लेकर तैमूर ने भारत-वर्ष पर आक्रमण किया। तैमूर के आक्रमण का हिन्दू-धर्म तथा संस्कृति पर बडा दूषित और भयंकर प्रभाव पडा। उसके आक्रमण का लक्ष्य था, काफिरो से इस देश को खाली कराके, मुसलमान बना देना।[२] तैमूर की क्रूरता का विवरण बडा लोमहर्षक है।[३] तैमूर के आक्रमण से देश मे अराजकता तथा अशान्ति का हृदय-विदारक साम्राज्य चारो ओर प्रसारित हो गया।[४] तैमूर के आक्रमण के अनन्तर भारतीय राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक-जगत के नियामक खिज्रखां, मुबारकशाह, बहलोल लोदी, तथा सिकन्दर लोदी बने। इतिहासकारो ने खिज्रखां की प्रशंसा की

---

1 He was weak minded man who listened too much to the advice of muftis and maulvies, the results of this policy were seen after a generation in the complete disintegration of the Sultanat of Delhi

2 His motive in doing so was to purify the land itself from the filth of infidelity and polytheism

A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Ishwari Prasad—Page 166

3 Men and women were slain, their goods were forcibly seized, and the buildings and the fort were razed to the ground when Timur reached near Delhi ordered that the 100,000 Hindus who were in his campus should be put to death, for he thought that on the great day of battle, they might break their bonds and go over to the enemy Even such a pious man as Maulana Nasir-ud-din Omar, who had never killed a sparrow in his life, slew 15 Hindus who happened to be his prisoners

A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Ishwari Prasad—Page 165

4 Timur's invasion caused wide spread anarchy in Hindustan The Government of Delhi was completely paralysed and greatest confusion prevailed. To the sufferings consequent upon a war conducted by heartless ruffians, fired by a fantastic thirst for blood shed and plunder, were added the horrors of famine and which distroyed men and cattle, and caused suspension of agriculture

—A Short History of Muslim Rule in India—
—By Dr. Ishwari Pd.—Page 166

है[1] पर मुबारकशाह् कमजोर और अनिश्चित स्वभाव का व्यक्ति था।[2] वहलोल लोदी के अनन्तर उसका पुत्र सिकन्दर लोदी गद्दी पर बैठा। इतिहासकारो का कथन है, कि सिकन्दर लोदी अत्यधिक सकीर्ण और हिन्दुत्व का विरोधी था। न जाने कितने हिन्दुओ को उसकी आज्ञा के परिपालन के लिये वध कर दिया गया। सिकन्दर लोदी की सकीर्णता का विवरण वडा व्यापक और घृणा उत्पन्न करने वाला है।[3] इस प्रकार के राजनैतिक उत्पीडन से भरे हुये युग मे देश की धार्मिक परिस्थितियो का महज रूप मे अनुमान लगाया जा सकता है। कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन साधक थे। कबीर न केवल साधक थे वरन् वे युग-दृष्टा और सृष्टा भी थे। उन्होने बहुत ही उदार दृष्टि से अपनी समकालीन परिस्थितियो का अध्ययन किया और वडे ही कटु अनुभव किये। उन्होने देखा कि तत्कालीन देश की धार्मिक और सामाजिक स्थितिया वडी विकृत है। जनता की आस्था सत्य से हटकर असत्य मे सलग्न है। मानवता पथभ्रष्ट हो चुकी है और मानव जीवन का कोई मूल्य नही है। राजनीति के झिलमिले आवरण मे मानव आमूल परिवर्तित होकर दानव हो गया है। मानव समाज द्वैत के सकल्प-विकल्प मे पडा हुआ वाह्याचारो मे सलग्न है। वह भक्ति के पथ से विचलित होकर माया-काया के मोह मे पडा हुआ था।[4] मनुष्य रग-रास,

---

1 A Short History of Muslim Rule in India—
—By Dr Ishwari Pd —Page 212.

2 A Short History of Muslim Rule in India—
—By Dr Ishwari Pd —Page 213

३ He was intencely religious, and allowed himself to be guided and dominated by 'ulmas' in every detail of government. He persecuted the Hindus and desired to banish idolatory from the land So great was his zeal for faith that he once ordered the temples of Mathura to be destroyed, and sorais and Mosques to be built in their stead The Hindus were noc allowed to bathe at the ghats on the bank of the Jamuna and an order was passed prohibiting barbers from shaving the heads and the beards of the Hindu in accordance with their religious customs
A Short History of Mushun Rule in India—Page 221

४. छाडि दे मन बौरा डगमग ॥

अबतो जरे मरे वनि आवै, लीन्हो हाथ सिंधौरा।
प्रीति प्रतीति करो दृढ गुरु की, सुनौ सवद घनघोरा ॥
होइ निसक मगन ह्वै नाचे, लोभ मोह भ्रम छाडे।
सूरा कहा मरन से डरपै, सती न सचय माडे ॥
लोक लाज कुल की मरजादा, यही गले की फासी।
आगे ह्वै पग पाछे धरिहो, होय जक्त मे हासी ॥
यह ससार सकल जग मैला, नाम गहे तेहि सूँचा।
कहै कबीर भक्ति मत छोडो, गिरत परत चढु ऊँचा ॥

स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ २०।

वैभव, कनक-कामिनी के लोभ में पड़कर पथ-भ्रष्ट हो गया था।[१] जैसे अबोध बालक-बालिका गुड़ियों-गुड्डों में अपने मन को बहलाते रहते हैं उसी प्रकार तत्कालीन मानव समाज देवता, द्विज, भुइयाँ, भवानी की उपासना में अपने कष्टों का परिष्कार करने की योजना बना रहा था। वास्तव में सत्-भक्ति या सत्-धर्म उस समय विलीन हो गया था। जीवन असत्, तम और कृत्रिमता से आवृत हो गया था,[२] तीर्थ, व्रत जप-तप आदि क्रियाओं में भटकता हुआ मानव अद्वैत ब्रह्म को बिसर गया था।[३] समाज झूठे सुख को वास्तविक सुख मानकर उसी में रमा हुआ था।[४] बाह्याचारों में उलझे हुये समाज को देखकर कबीर ने कहा है।

पिय का मारग सुगम है, तेरा चलन अबेढा।
नाच न जाने बापुरो, कहै आँगना टेढा॥[५]

तीर्थों में भटकते हुये,[६] पत्थरों की पूजा करते हुये, मानव दुष्कर्म कटु तथा क्रूरता से भरे हुये कार्यों में लगे हुये थे।[७] कबीर के युग में हिन्दू-धर्म बाह्य प्रभावों और दोषों से तो अभिशप्त था ही, साथ-साथ आभ्यन्तरिक दोष भी उसे खोखला बनाये डाल रहे थे। धर्म के पवित्र रूप को बाह्याचारों और असत्य ने इस प्रकार आच्छादित कर लिया था कि असत्य ही सत्य के रूप में प्रतिभासित या प्रतीत होने

---

१ इतना कियो करार काढ़ि गुरु बाहर कीन्हा।
भूलि गयो वह बात, भयो माया आधीना॥
विषया बान समान, देह जोवन मद माती।
चलत निहारत छाह, तमक के बोलत बाती॥
चोवा चन्दन लाइ के, पहिरे बसन रंगाय।
गलिया-गलिया झाकी मारै, पर तिरिया लख मुसकाय॥
स० बा० स०, भाग २, पृष्ठ २१।

२. करी जतन सखि साईं मिलन की॥
गुड़िया गुड़वा सूप सुपलिया।
तजि दे बुधि लरिकैंया खेलन की॥
देवता पितर भुइया भवानी।
यह मारग चौरासी चलन की॥
स० बा० स०, भाग २, पृष्ठ २२।

३. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५।

४. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ६।

५. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २१, ३०।

६. स० बा०, भाग त० १, पृष्ठ ६२ १।

७. स० बा० स०, भाग १ पृष्ठ ६२ ४।

लगा। अंध-विश्वासों ने सद्विश्वासों का स्थान ग्रहण कर लिया था। अहिंसा, त्याग और सत्य का स्थान पशुबलि, नर-बलि और हिंसा ने ग्रहण कर लिया था। साधन के स्थान पर वाह्याचारों की प्रतिष्ठा हो रही थी। कबीर ने इस प्रवृत्ति की कटु आलोचना की। कबीर के समय ब्राह्मण बहुपठित तो थे, पर उन्हें तत्व-ज्ञान नहीं था। योगी माया में लिप्त तथा धूर्त, साधक-जन, निद्रा, मैथुन और नारी में लिप्त थे। मंत्र देने वाले गुरु अहंकारी थे। कबीर के समय तक जनता नितान्त पथ-भ्रष्ट हो चुकी थी। बड़े-बड़े योगी माया में लिप्त रहते थे। हिन्दू और मुसलमान धर्म के वास्तविक रूप को भूलकर हिंसा में प्रवृत्त थे। दोनों वर्ग एक दूसरे से ब्रह्म विषयक भेद मान कर हिंसा में रत हो रहे थे। हिन्दू पत्थरों की पूजा कर रहे थे और मुसलमान पीर-औलियों द्वारा प्रदर्शित पथ पर अग्रसर थे। साधु लोग वाह्याचारों के दास बने हुये धन एकत्र करते फिरते रहते थे। और सोने चांदी के आभूषण पहनते थे। घोड़ा-घोड़ियों पर चढ़ कर आनन्दपूर्वक विचरते रहते थे।[1] उनकी विवेक बुद्धि को असत्य ने आच्छादित कर रखा था। हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने धार्मिक नेताओं का अन्धानुकरण कर रहे थे। धर्म के नाम पर अधर्म, आचार के नाम पर अनाचार, कबीर जैसे उदार दृष्टिकोण वाले सुधारक के लिये असह्य था। धर्म और साधना के क्षेत्र में खींचातानी कबीर को पसंद नहीं थी। इसलिये हिंसा में रत, कुटिलता में पगे हुये, और वाह्याचारों में संलग्न मानव को उन्होंने सहज ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया।[2] कबीर के युग में धर्म के वास्तविक रूप को वेद, कुरान, पुरान ने आच्छादित कर रक्खा था। अतः उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक ग्रंथों की कटु आलोचना की।[3] कबीर ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध भी बहुत

---

१ साधु भया तो क्या भया माला पहिरी चारी।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भगारि॥

भक्त विरक्त लोभ मन ठाना, सोना पहिर लजावै बाना।
घोरी घोरा कीन्ह बरोरा, गाव पाय जस चले करोरा॥

२ सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोई।
जिन्ह सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोई॥

सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्है कोई॥
पांचू राखै परसतो, सहज कहीजै सोई॥
सहजै सहजै सब गये, सुत वित कामिणि काम।
एकमेव ह्वै मिलि रह्या, दास कबीरा राम॥

३ वेद किताब दोय फंद सवारा।
ते फंदे पर आप विचारा॥

बीजक पृष्ठ २६६

कुछ लिखा ।[१] वे तो मन्दिर-मस्जिद की नीव को ही अस्थिर मानते हैं ।[२] कबीर ने बाग, रोजा, नमाज आदि की व्यर्थता पर भी बहुत कुछ कहा है ।[३] हिन्दुओ की एकादशी और मुसलमानो के तीस रोजो की कबीर ने कटु आलोचना की है,[४] और वेष बनाने, माला, तिलक, छाप, गेरुआ वस्त्रो और बाह्याचारो की निस्सारता पर बारम्बार जोर दिया ।[५]

कबीर के युग मे राम-रहीम सम्बन्धी भेद-भावना बड़ी उग्र और तीव्र हो गई थी । इसी समस्या को लेकर अनेक निरीह व्यक्तियो का वध होता था । राम-रहीम की एकता प्रतिपादित करते हुये कबीर ने कहा कि

"साहेब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय"[६]

इतना ही नही 'साहब' को द्वैत बताने वालों को कबीर 'दूजा कुल को होय' भी साहस रखते हैं ।[७] कबीर ने बताया कि हिन्दू और तुरको की एक ही राह है ।[८] कबीर की धार्मिक-परिस्थितियो पर विचार प्रकट करते हुए डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने लिखा है कि

---

१ पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार ।
ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार ।।

२. नींव विहूणा देहुरा देह विणा देव ।
कबीर तहां बिलम्बिया करे अलख की सेव ।।

३ कांकर पाथर जोरि के मसजिद लई चुनाय ।
ता चढ़ि मुल्ला बाग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय ।।

४. हिन्दु एकादसि चौबिस रोजा, मुसलिम तीस बनाये ।
ग्यारह कहो किन टारो, येकहि माहि समाये ।।
बीजक, पृष्ठ ३८८ ।

५ कर सेती माला जपै हिरदै वहै डडूल ।
पग तो पाला मे गिल्या, भाजण लागी सूल ।।
कर पकरै अगुरी गिनै मन धावै चहु ओर ।
जाहि फिराया हरि मिलै सो भया काठकी ठौर ।।
मूड मुडावत दिन गया अजहू न मिलिया राम ।
राम नाम कहु क्या करै, जे मन के औरे काम ।।
कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ ४५-४६ ।

६ कबीर-वचनावली, पृष्ठ १ ।

७. जो साहब दूजा कहै दूजा कुल का होय ।

८. हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई ।
कहहि कबीर सुनहुहो सन्तो राम न कहेउ खुदाई ।।
बीजक, शब्द १० ।

"सन् १२०० से १५०० तक देश की दशा निरन्तर विषम बनी रही। हिन्दू समाज, हिन्दू संस्कृति पर निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। हिन्दू धर्म को नष्ट कर देने के लिये साम, दाम, दण्ड और भेद आदि सभी उपायों से प्रयत्न किया गया। इस गम्भीर, विषम, शोचनीय और नित्य ही परिवर्तनशील दशा में हिन्दुओं का धर्म संकट में पड़ चुका था। उनके राम जनता के हृदय और मस्तिष्क से विलग हो चले थे। परिस्थिति इस बात की द्योतक थी। कि मूर्ति उपासक कितने निर्बल, अशक्त और संकट में थे, और दूसरी ओर मूर्ति-भंजक कितने बलवान और कितने ऐश्वर्यवान थे। मूर्ति भंजकोंको सुख और ऐश्वर्य के पालने में झूलते हुये देख कर हिन्दुओं का मूर्ति-पूजा से भी विश्वास उठ रहा था। वे इसकी निःसारता पूर्णरूपेण समझ चुके थे। फलतः महान् संघर्ष और क्रांति के इस युग में एक ऐसे धार्मिक-आन्दोलन की आवश्यकता थी, जो देश के निवासियों को अंधकार में प्रकाश दिखा सके, निराशा में आशा का संचार कर सके, इस आवश्यकता की पूर्ति वैष्णव आन्दोलनों ने की। इसी परम्परा में सन्तों ने उपासना के लिये निर्गुण ब्रह्म का आश्रय ग्रहण किया, और इस भावना ने जातीय, सांस्कृतिक तथा धार्मिक मतभेदों के लिये शेष अवसर भी समाप्त कर दिये।"[१]

बाबर और हुमायूं के राज्य काल में भारतवर्ष की धार्मिक स्थिति और भी विकृत हो गई थी। हिन्दू जनता को धार्मिकता का दंड भोगने के लिये भांति-भांति के कर या टैक्स देने पड़ते थे। इतिहासकारों का मत है कि हिन्दू-जनता पर लगे हुये जज़िया की दर बहुत अधिक थी।[२] हिन्दुओं को देवोपासना करने की स्वतन्त्रता नहीं थी।[३] उन्हें अपने प्राचीन मन्दिरों का पुनरुद्धार कराने का भी अधिकार नहीं प्राप्त था।[४]

---

१ संत-दर्शन—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृष्ठ १६९—१७०।

2. The Jaziya was a very heavy burden to the masses. But it was not its, burden alone which was irksome It was a badge of inferiority round the neck of the unfaithful remining them constantly that they formed a subject people under an alien rule. The Jaziya was not the only additional tax imposed on the non-muslims Most of Muslim rulers collected a pilgrimage tax at the Hindu places of religions fairs

The Religious Policy of Mughal Emperors

—By S R Sharma—page 2

3. Public worship of Hindn idols was forbidden

The Short History of Muslim Rule in India

—Dr Ishwari Parsad—Page 3

4 Thus it was held that the Hindus should not be allowed to build new Public temples or to repair old ones,

—Ibid, Dr Ishwari Parsad—Page 4

हिन्दुओं और मुसलमानो के मध्य स्थिति भेद इस बातमे स्पष्ट हो जाता है कि सरकारी नौकरी केवल मुसलमानो को ही दी जाती थी।[१] बाबर की आज्ञा मे मीरबाकी ने हिन्दुओ और जैनियो के अनेक प्रसिद्ध मन्दिरो को ध्वस करके उनके स्थान पर मस्जिदो का निर्माण कराया था।[२] बाबर अपनी धार्मिक-नीति मे बडा अनुदार था।[३] हुमायू मे वह एक बार इसलिये असतुष्ट हो गया था कि हुमायू ने कारणो से प्रेरित हो कर एक मामले मे हिन्दुओ के प्रति दया प्रदर्शित दी थी।[४] बाबर और हुमायू के राज्य-काल मे हिन्दू-जनता बराबर यह अनुभव करती रही कि उसका जीवन दु खमय है।।

हुमायू के अनन्तर भारतवर्ष के सिंहासन पर अकबर आसीन हुआ। अकबर के समकालीन सत-कवि मलूकदास ने बहुत सक्षेप मे अकबर की धार्मिक-नीति और देश की धार्मिक-परिस्थिति का उल्लेख निम्नलिखित शब्दो मे किया है

तीस बरस तक अकबर रहा।
तिन साधुन सो कछु न कहा॥[५]

स्पष्ट है कि अपने तीस वर्ष के राज्य काल मे अकबर ने हिन्दुओ के धार्मिक जीवन मे किंचित मात्र हस्तक्षेप नही किया। इस नीति के फलस्वरूप देश मे पूर्ण शांति और स्वातन्त्र्य रहा। अकबर की धार्मिक-नीति और औदार्य को प्रभावित करने का बहुत कुछ श्रेय उसकी हिन्दू-रानियों को था। उसके अत पुर मे हिन्दू-रानिया मूर्ति-पूजा, व्रत, जप, दान स्वतन्त्रतापूर्वक किया करती थी।[६] अकबर के उपासना

---

1. The third distinction between the Hindus and the muslims appeared in the public service

—Ibid, Dr Ishwari Prasad—Page 5

They were certanly deviced and share in the higher appointment in the state

—Ibid, Dr Ishwari Parsad—Page 7

2 By Baber's order, Mir Baqi destroyed the temple at Ayodhya Commemorating Rama's birth place and built a Mosque in its place in (1528 29) He nestroved jain idols at urva near Gwalior"

—Ibid, Dr Ishwari Prasad—Page 9

3 Ibid, Dr Iswari Prasad—Page 9

4 Ibid, Dr Ishwari Prasad—8

५ मलूक-परिचयी, पृष्ठ १६।

६ अकबर-नामा, भाग दो, पृष्ठ १५६।
तथा, तजकिरात उल मुल्क—
रफीउद्दीन शीराजी, पृष्ठ ५६६—५६७।

ग्रह मे सभी लोग स्वतन्यतापूर्वक अपने मतों को प्रकट कर सकते थे ।[१] अकबर ने अपने पूर्वजो द्वारा निर्धारित जजिया[२], तीर्थ-यात्रा-कर[३] तथा मंदिरों के पुनरुद्धार के विरुद्ध लगे हुये प्रतिबन्धों को हटा लिया[४] अकबर की गुणग्राहिता और उदारता का एक उल्लेखनीय उदाहरण यह है कि उसने अथर्ववेद, महाभारत तथा रामायण जैसे हिन्दुओ के उत्कृष्ट ग्रंथो का स्वपठनार्थ अनुवाद कराया ।[५] अकबर ने अपने राज्य मे शुद्धि की भी आज्ञा दे दी थी ।[६] सन १५६२ ई० मे उसने हिन्दू बन्दियों को बलात् मुसलमान बनाने की पूर्व प्रचलित प्रथा को भी विशेष उद्घोषणा के द्वारा रद्द कर दिया ।[७] अकबर ने गोवध का निषेध कर दिया[८] और हिन्दुओं को उच्च-पदों पर नियुक्त किया ।[९] अकबर के अंतःपुर और राज-प्रासाद के बाहर सबको सभी हिन्दू-त्यौहारो को मनाने की पूर्ण स्वच्छन्दता थी । अकबर का हृदय बड़ा उदार एव विशाल था । वह हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-भाषा का प्रेमी था । बीरबल तथा गग जैसे उच्च-कोटि के हिन्दी के कवि उसके दरबार में सम्मान के अधिकारी थे । अकबर ने अपने राज्य काल मे 'पारसीक प्रकाश' ग्रन्थ की रचना श्री कृष्ण दास द्वारा करवाई ।[१०] सक्षेप मे अकबर के तीस वर्ष के राज्य-काल मे धार्मिक-नीति की दृष्टि से हिन्दू-जाति को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने पाया ।

अकबर के बाद जहांगीर राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ । जहांगीर के समकालीन सथुरादास के शब्दो मे

तिनके पीछे भा जहगीरा ।
करता अदल हरै सब पीरा ॥[११]

जहांगीर की धार्मिक नीति के सम्बन्ध मे वर्तमान लेखको का सथुरादास से

---

१. रेलिजस पालिसी आफ मुगुल इम्परस, पृष्ठ १६ ।
२ अकबर-नामा पृष्ठ २०३—२०४।
तथा रेलिजस पालिसी आफ मुगुल इम्परर्स, पृष्ठ २३ ।
३ अकबर-नामा भाग २ पृष्ठ १६० ।
४ डा० जेरिक, पृष्ठ ७५ ।
५ रेलिजस पालिसी आफ मुगुल इम्परर्स, पृष्ठ २५ ।
६ मुन्त-खिब-उल-तवारीख, भाग २, बदायूनी, पृष्ठ ३६१ ।
७ अकबर-नामा, भाग २, पृष्ठ १५९ ।
८ मुन्तखिब-उल-तवारीख, भाग २, पृष्ठ २६१ ।
९ रेलिजस पालिसी आफ मुगुल इम्परर्स, पृष्ठ २६, २७ ।
१० 'हिन्दुस्तानी', अप्रैल १९४५ मे डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित का लेख 'पारसीक प्रकाश' ।
११ मलूक-परिचयी, पृष्ठ १६ ।

पूर्णतया साम्य है। जहांगीर ने अपनी धार्मिक-नीति में पिता का ही अनुसरण किया[१] किन्तु वह मुसलमानों के प्रति कुछ पक्षपातपूर्ण था।[२] इस्लाम के प्रति उसकी रुचि अधिक थी।[३] अकबर की भांति वह धर्म के ग्रहण और परित्याग के सम्बन्ध में पूर्ण उदार नहीं था।[४] वह इस्लाम को अंगीकार करने वालों को अपने कोष से वृत्तियां देता था[५] और उनका विशेष आदर होता था।[६] इन अपवादों के अतिरिक्त वह प्रायः उदार ही बना रहा।[७] अनेक बार युद्ध के अवसरों पर उसने हिन्दुओं के मन्दिरों को नष्ट करवा दिया था।[८] वह हिन्दू यात्रियों के प्रति उदार था।[९] संक्षेप में अकबर की तुलना में जहांगीर की नीति कुछ संकुचित ही थी।[१०]

सन् १६२७ में जहांगीर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र शाहजहां सिंहासन पर बैठा। मथुरादास ने शाहजहां के विषय में लिखा है

---

१. रेलिजन पालिसी-आफ मुगल इम्परर्स, पृष्ठ ७०।
तथा, दि हिस्ट्री आफ जहांगीर, डा० बनारसी प्रसाद, पृष्ठ २५६।

2 He was characterized being less favourably inclined to Hindus
The Religous Policy of Moughal Emperors–Page 70

3 Jahangir would not go back on the path of tolerance which his father had opened but without embanking on active persecution the newly acquired status of Hindus He began to take interest in fortures of Islam in his own territories
The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 72

4 A short History of Muslim Rule in India
Dr Ishwari Prasad—Page 72

5 The Memories of the Asiatic Society of Bengal
Part V, Page 154

६. तुजक-ए-जहांगीरी, पृष्ठ १४६।

7 Oxford History of India, By Smith, Page 397

8 Jahangir—R and B
Pages, 254, 255, and 225

9 The Religious of Moughal Emperors—Page 74

10 In short Jahangir ordinarily continued Akbar's toleration. He experimented in simultaneous maintenance of several religions by the state with all this Jahangir sometimes acted as protector of true faith than asking of vast magority of non-muslims Departures however slight from Akbar's wide outlook had thus began
The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 90

शाहजहां तिनके सुन राज।।
तिन पर बहुत गरीब नेवाजा ॥[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शाहजहा गरीबो पर दयालु था। परन्तु इस उद्धरण मे "फिर" शब्द ध्यान देने योग्य है। यह 'फिर' शब्द दो बातो को स्पष्ट करता है। "फिर" से यह आभास मिलता है कि यद्यपि वह जहांगीर की भांति उदार नही था फिर भी गनीमत था। 'फिर' से एक और ध्वनि प्रस्फुटित होती है और वह है भविष्य मे घटित होने वाली औरंगजेब की दुर्धर्ष नीति, जिसकी तुलना मे शाहजहा की नीति फिर भी अच्छी थी। शाहजहा की नीति कट्टरता के रंग मे अनुरंजित थी। यद्यपि शाहजहा एक राजपूत नारी का पुत्र था जिसके पिता की माता स्वयं राजपूत स्त्री थी, तथापि उसमे मातृ-पक्ष के इन स्वाभाविक गुणो का लेश-मात्र प्रभाव नही दृष्टिगत होता है।[2] सन् १६३५ ई० मे उसने अपने को इस्लाम विरोधी शक्तियो का विनाशकारी शत्रु उद्घोषित किया।[3] उसकी आज्ञा से उच्च पद केवल मुसलमानो के लिये ही सुरक्षित कर दिये गये[4] और हिन्दू तीर्थयात्रियो पर कर लगा दिये गये।[5] सन् १६३२ मे प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार और नवीन का निर्माण रुकवा दिया गया।[6] उसकी नीति देख कर मुसलमान अधिकारी हिन्दुओ को और भी पीडित करते थे।[7] जुझार सिंह उसके परिवार और पत्नी के प्रति उसका जो व्यवहार था, वह हिन्दुत्व विरोधी

---

१. मलूक-परिचयी, पृष्ठ १६।

2 If Akbar was liberal in his religious views and Jahangir indifferent to nicer questions of theology, Shahjahan was an orthodox muslim Although born of a Rajput mother to a father whose mother was also Rajput princess Shahajahan does not seem to have much been much influenced, by these factors He was thirtysix at the time of accession and thus old enough to chalk out a policy for himself

The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 94.

3 In 1635 he definitely proclaimed himself a distroyed of all those who did not conform to his ideas of Islam
S H M R I—By Dr Ishwari Prasad–Page 96- 97

4 Ibid, Dr Ishwari Prasad–Page 98

5 Ibid, Dr Ishwari Prasad–Page 92

6 In 1032 Shahjahan had prohibited the creation of new temples No important Hindu building religious or secular dates from his reign
Oxford History of India—By Smith—Page 421

7 History of Shahjahan —
--By Banarsi prasad—Page 89 90

तत्व को प्रकट करने वाला सत्य था।[1] शाहजहा ने हिन्दुओ के सामाजिक जीवन को भांति-भांति से अभिशप्त कर रखा था।[2] संक्षेप मे शाहजहा औरंगजेब की दुर्धर्ष नीति की भूमिका के रूप मे इतिहास के पृष्ठो मे एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व माना जा सकता है।

शाहजहा की मृत्यु (सन् १६५८) के अनन्तर उसका पुत्र औरंगजेब राजसिंहासन पर बैठा। औरंगजेब की राजनीति का उल्लेख करते हुए मथुरादास ने कहा है कि

शाहजहा पातसाह जब मुआ, दंड देश मे चहु दिस हुआ।
औरंगजेब ताहि सुत एका, बैठ राज तिन कियो विवेका॥
शाहजहा सुत औरंगजेबा, चले स्वपथ कुरान कथा॥[3]

मथुरादास के प्रस्तुत उद्धरण का उत्तरार्ध विशेष ध्यान देने योग्य है। औरंगजेब ने कुरान को अपना पथ-प्रदर्शक बनाकर अपनी धार्मिक-नीति का निर्माण किया।[4] औरंगजेब इस्लाम का विकट अनुयायी था, इसीलिये राजसिंहासन पर बैठते ही राज्य मे प्रचलित हिन्दू प्रथाओं[5] और राज्य पदों के लिए हिन्दुओं की नियुक्ति बन्द कर दी।[6] सन् १७०२ मे उसने फौज मे भी हिन्दुओं को हटा दिया।[7] औरंगजेब अपने को इस्लाम राजधर्म का संरक्षक तथा स्वामी मानता था, उस धर्म मे धार्मिक सहिष्णुता पाप समझी जाती थी।[8] मुहम्मद साहब के आदेशानुसार औरंगजेब ने सन् १६७९ मे हिन्दुओं पर व्यापक रूप से जजिया कर लगा दिया।[9] मथुरादास ने भी औरंगजेब द्वारा लगाये हुये जजिया कर का उल्लेख किया है

काजी मुल्ला करैं बड़ाई, हिंदू को जजिया लगवाई।
हिंदू डांड देइ सब कोई, धरम विनत मे जैसा होई॥[10]

---

1 History of Shahjahan—By Dr. Ishwari Prasad—Page 89.
2 The Religious Policy of Moughal Emperors, Page 94—95
३. मलूक-परिचयी-पृष्ठ १७।
4. He was a muslim King and it seemed to him unreasonable not to govern country according to his interpretation of injuctions Quran and traditisns-Religious Policy of Mughal Emperors—
By Shri Ram Sharma—Page 152
5. A Short History of Muslim Rule in India
By Dr Ishwari Prasad—Page 120
6 History Aurangzeb-By Sir J N Sarkar,
Vol III, ch XXXIV Page 271
7. The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 135.
8 History of Aurangzeb—By Sarkar
-Vol III, ch XXXIV, page 227.
9. The fall of Moughal Empire
-By Sidney J Owne-Page 76.
१०. मलूक-परिचयी पृष्ठ १६

जजिया से राज्य की आय बहुत बढ गई ।[१] कर देने मे असमर्थ हिन्दू विवश हो कर इस्लाम धर्म को आंगीकार कर लेते थे । औरगजेब हिन्दुओ की इस प्रकार की विवशता से प्रसन्न होता था ।[२] औरगजेब मे मन्दिरो को नष्ट करने की प्रवृत्ति बहुत पहले से थी । २८ फरवरी सन् १६५९ को नवीन मन्दिरो के निर्माण को रोकने के लिये औरगजेब ने एक आज्ञापत्र प्रकाशित किया ।[३] ९ अप्रैल, १६६९ को एक राजाज्ञा द्वारा उसने राज्य के समस्त मन्दिरो को नष्ट कर देने के लिये आदेश दिया ।[४] सन् १६६९ के अगस्त माम मे विश्वनाथ जी का प्रसिद्ध मन्दिर नष्ट कर दिया गया ।[५]

औरगजेब के समकालीन कवि मथुरादास ने (औरगजेब द्वारा) मदिर-ध्वस का सविस्तार वर्णन निम्नलिखित शब्दो मे किया है

तब बहुरो मथुरा चलि आवो, पाखड देख सब मदिल ढायो ।
द्वारका नाथ को तुरुक पठायो रणछोर को स्थानै ढायो ॥
बद्रीनाथ गोकुल उजारा, जगन्नाथ को कियो विकारा ।
नगर कोट की कला विचारी, कला न देखी मढ़ी उजारी ॥
बहुत विकट मन माहि विचारा, परसु राम को देवल उजारा ॥[६]

---

1. History of Aurangzeba-By Sarkar
Vol III, Page 274

2 Many Hindus who were unable to pay turned Mohammadans to obtain relief from insults of collectors Aurangzeb rejoices that by such exaction these Hindus will be forced to embrace the Mohammadan's faith
History of Aurangzeb-By Sarkar
Vol. III, Page 275

3 The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 136.

4. The Religious Policy of Moughal Emperors-Page 136

५. रेलिजस पालिसी-आफ मुगुल इम्परर्स, पृष्ठ १४१

६. (क) मलूक-परिचयी, पृष्ठ १६, १८

(ख) कुम्भकन असुर औतारी अवरगजेव
कीन्ही कत्ल मथुरा दोहाई फेरि रब्ब की ।
खोदि डारे देवी देव अनेक सोई
पेरवी निज प्रानन ते छूटी माल सबकी ॥
भूपन भनत भाग्यो कासीपति विश्वनाथ
और क्या गिनाऊ नाम गिनती मे अब की ।
दिल मे डरन लागे चारो वर्ण वाही समै
शिवाजी न होतो कुगति होती सब की ॥
भूषण-ग्रथावली, शिवावावनी, पृष्ठ ४९, ५०

इसी प्रकार भूषण ने भी मन्दिरो के ध्वस का वर्णन किया है। भूषण और मथुरादास द्वारा उल्लिखित इन घटनाओं का समर्थन वर्तमान इतिहासकारो द्वारा भी हुआ है।[1] गोस्वामी हरिराय जी ने भी गोकुल तथा मथुरा के मन्दिरो के प्रति औरगजेब के प्रकोप का वर्णन अपने ग्रथ "श्री गोवर्धननाथ जी को प्राकट्य वार्ता" मे किया है। मथुरादास ने अपनी परिचयी मे गुरु तेग बहादुर के वध का भी वर्णन किया है।[2] उनके मत मे वेद-पुराण का पठन-पाठन सभी राजाज्ञा ने निषिद्ध कर दिया था। ब्राह्मणो की पूजा-पाठ और कर्म-काण्ड सब छूट गया था।[3] सन् १६६९ मे औरगजेब की राजाज्ञा से हिन्दुओ के समस्त मन्दिर और पाठशालाए नष्ट कर दी गईं।[4]

सन् १७०७ ई० मे औररजेब की मृत्यु हुई। इस समय देश मे धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तथा आर्थिक दृष्टि से हिन्दू-जाति पूर्णतया नष्टप्राय थी। औरगजेब की मृत्यु के अनन्तर चिरकाल तक सिंहासन के लिये उसके पुत्रो मे गृह-कलह होती रही। अन्ततोगत्वा बहादुरशाह अपने पराक्रम के बल पर हिन्दुस्तान के सिंहासन पर बैठा। उनके राज्य-काल मे सिक्खो के साथ प्राय पाच वर्षो तक युद्ध चलता रहा। दो-तीन बार राजपूतो से भी उसका सघर्ष हुआ। अत मे सन् १७१२ मे

---

1. (a) The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 131.
   (b) History of Aurangzeb—by Sarkar
   Vol III, Pp 301-302
   (c) Aurangzeb and his times—By Zahiruddin Faruqui
   Page 247-259
२. नानक के सिष्यन को पूछा, गुरु का धरम न तुमही सूझा ॥
   हरे सरीर छोड्यो हरिरायी, तेग बहादुर प्रकटे आई ॥
   बादशाह वोहि पकड अहकारा, कला न देखी गरदन मारा ॥
   मलूक-परिचयी, पृष्ठ १७।
३. कालरूप पातसाह हो बैठा, पूजा भाव छूटा घर बैठा ॥
   वेद पुरान मना करवावे, ब्राह्मण पूजा करन न पावै ॥
   जहँ लग स्वामी स्वाग बनावे, पातसाह सब मुरति मिटावै ॥
   मलूक-परिचयी, पृष्ठ १६।
4. It was three years later that a general order was issued for the destruction of all the schools and temples of the Hindus On 9th April 1669 it was reported to the Emperor, that Brahamans of Sind, Multan and particularly of Banaras were using their temples as School which atracted students Orders in accordance with the organization of Islam were sent to the governor of all the Provinces that they should destroy schools and temples of infidels
   The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 139—140

उसकी मृत्यु हो गई। वहादुर शाह के वाद उसके उत्तराधिकारियो मे प्राय सात वर्षो तक युद्ध और सघर्ष होते रहे। २९ मार्च सन् १७१२ को जहादार सिहासन पर बैठा। १९ जनवरी १७१३ को जहादार को वन्दी वनाकर फर्रुखसियर गद्दी पर बैठा। २८ अप्रैल १७१९ को फर्रुखसियर का अमानुषिक ढग से वध हुआ। फर्रुखसियर का राज्यकाल राजनैतिक उथल-पुथल की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, परन्तु धार्मिक परिस्थितियो की दृष्टि से यह समय विशेष महत्व का नही है। २८ सितम्बर १७१९ को मुहम्मदशाह राज-सिहासन पर बैठा। उसके राज्यकाल मे नादिरशाह और अहमदशाह दुर्रानी के (सन् १७४७, १७५१, १७५६ एव १७५७) चार विनाशकारी आक्रमण हुये। प्रत्येक आक्रमण मे हिन्दुओ को हर प्रकार से पीसने का प्रयत्न किया गया। मुहम्मदशाह के वाद थोडे-थोडे समय के लिये अहमदशाह, आलमगीर सानी, शाहआलम का राज्यकाल रहा। तदन्तर कम्पनी-सरकार का प्रभुत्व वढा। धीरे-धीरे अग्रेजो के अधिकार वढते गये। औरगजेव से लेकर ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के राज्य-काल तक की धार्मिक-परिस्थितियो का ज्ञान हमे चरन दास की रचनाओ से भली भाति हो जाता है।

चरन दास के युग मे भी वाह्याचारो ने धर्म के पवित्र रूप को आच्छादित कर लिया था। गृहस्थ एव साधु माला-तिलक ग्रहण करके सत्य की खोज मे भटक रहे थे।[1] दम्भ एव पाखडो मे लगी हुई जनता अपनी तृष्णा को शान्त करने का प्रयत्न कर रही थी। राजा, योगी, गृहस्थ सब माया और कुवुद्धि से अभिशप्त थे।[2] साधु-सन्यासी सत्य को छोडकर इन्द्रियो और मन के दास वन गये थे। ये पथभ्रष्ट होकर भटकते फिर रहे थे।[3] तपसी और यती पथ-भ्रष्ट हो गये थे। वे धूनी-रमाने एव

---

१ माला तिलक बनाय पूर्व अरु पच्छिम दौरा।
नाभि कवल कस्तूरि हिरन जगल भो बौरा॥
चरन दास लखि दृष्टि भर एक शब्द भरपूर है।
निरखि परखि ले निकट ही कहन सुनन कू दूर है॥

२ साधो चलो तुम सभारी जग होरी मचि रही भारी॥
दभ पखड गहे करमे उफ हूवड हूवड की तारी॥
त्रैगुन तार तवुए साजै आसा तृस्ना गति धारी।
पाप पुन्य दोउ ले पिचुकारी छोडत है वारी वारी॥
सनमुख ह्वै करि जो नर खेलो ताके चोट लगी कारी।
लोभ मोह अभिमानी भरी लै माया गागरि डारी॥
राजा परजा जोगी तपसी भीज रहे ससारी॥

३ सुरति निरति की गम नहि सजनी जहा मिलन को लटके।
भलो जगत वकत कुछ औरे वेद पुरारन ठठके॥
प्रीति रीति की सार न जानै डोलत भटके भटके।
किरिया कर्म मर्म उरझे ये माया के झटके॥

भभूति लगाने, जटा धारण करने और मूड मुडाने को ही धर्म समझने लगे थे।[१] बहुत से तपसी अपने चारो ओर अग्नि जलाकर काया को कष्ट देने को ही धर्म समझ रहे थे। पडित लोग धार्मिक ग्रन्थो मे उलझे हुये उसी को मुक्ति का साधन समझ रहे थे। परन्तु ये सभी कायर साधना के मार्ग मे अग्रसर होने मे असफल थे।[२] सब लोग कनक और कामिनी मे लगे हुये इन्द्रियो की सेवा कर रहे थे।[३] समाज भूत-प्रेतो, पीर-पैगम्बरो की पूजा मे ही जीवन को धन्य मान रहा था।[४]

---

१ न ऊरघ बाहु न अग भभूति।
न धूनी रमाय जटा सिह धारू ॥
न मूड मुडाय फिरै बन ही बन।
तीरथ वर्त नहीं तन गारू ॥
उलटि लखो घट मे प्रतिबिम्ब सो।
दीपक ज्ञान नहू दिस जारू ॥

२ बहुतक तपसी कष्ट साध।
बहुतक पडित पोथी लादि ॥
बहुतक मुडित जटा धारि।
चहु ओर पावक जारि जारि ॥
बहुतक मडिन पूजा राखि।
बहुतक भगतन पिटनी माखि ॥
कायर थाके बाट माहि।
कछु इक आगे चले नाहि ॥

३ ठगे सब कनक कामिनी रूप।
सुर असुर अरु जक्ष गन्धर्व इन्द्रि आदिक भूप ॥
रावन से अति जति मारे, मौन जिन बस कीन्ह।
पनु नरन की को चलावै ये तो अति आधीन ॥
रूप रस मे दे धतूरा मोह फाँसी डार।
तनकी पूजी छीनि कै कियो मृगीऋषि की ख्वार।

४ अरे नर क्या भूतन की सेवा।
दृष्टि न आवै मुख नहि बोलै ना लेवा न देवा ॥
जेहि कारन घी जोति जलावै बहु पकवान बनावै।
सो खर्चे तू अधिक चाव सो वह सपने नहि खावै ॥
राति जगावै भोपा गावै, झूठे मूड हिलावै।
कुटम्ब सहित तोहि पैर पडावै, मिथ्या वचन सुनावै ॥
तोहि भरोसे जनम गवावै जीवत मरत न साथा।
बड भागन कर देही पाई खोवै अपने हाथा ॥

अपने युग की परिस्थितियों का चित्रण चरन दास ने निम्नलिखित पंक्तियों में बड़ी कुशलता के साथ किया है —

सब जग मम भुलाना ऐसे ।
ऊट की पूछ से ऊट वध्यो ज्यों भेड़ चाल है अंगे ।।
खर का सोर सू कूकर को देखा देखी चाली ।
तैसे फलुआ जाहिर भैरो भेढ मसानी कालो ।।
गांव भूमिया हित करि धावैं जाय बटोही दौरे ।
सहो सरवर इष्ट धरत हैं लोग लोगाई बौरे ।।
राखें भाव स्वान गर्दभ को, उनको लाय जिमायें ।
टेढ चमरन को गिर नावैं, ऊंची जाति कहावें ।।
दूध पूत पत्थर से मागे, जाके मुख नहि नासा ।
लपसी पपड़ी ढेर करत है, वह नाहि खावै मासा ।।
जाके आगे बकरा मारै, ताहि न हत्या जाने ।
लै लोहू माथे सो लावै, ऐसे मूढ अयाने ।।
कहै कि हमारे बालक जावैं, बड़ी अदुबंन दीजै ।
उनके आगे विनती करते असुवन हिरदा भीजे ।।
भोये भटरे के पग लागें, साधु सन्त की निन्दा ।
चेतन को तजि पाहन पूजे, ऐसा यह जग अन्धा ।।
सत सगति की ओर न झाके, भक्ति करत सकुचावैं ।
चरनदास सुकदेव कहत हैं, को न नरक को जावैं ।।

चरन दास के युग मे धर्म अधोगति को पहुचकर विनाशशील हो गया था । धर्म के सच्चे पथ से हट कर लोग कृत्रिमता में सलग्न हो गये थे ।

विगत पृष्ठों मे अभिव्यक्त देश १३वी शताब्दी से लेकर १८वी शताब्दी तक की राजनैतिक, सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक एव धार्मिक परिस्थितियो का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन पाच-सौ वर्षों मे देश की स्थिति अत्यन्त शोचनीय और दयनीय थी । इन पाच-सौ वर्षो मे देश की राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव धार्मिक स्थितिया पूर्णतया विकृत हो गई थी । जनता एक विचित्र प्रकार की निराशा का अनुभव कर रही थी । विघटन, विभग, विच्छेद, विद्रोह और विनाश का चारो ओर अक्षय साम्राज्य था । हिन्दी के सन्त कवियो ने इन विकृत परिस्थितियो के फलस्वरूप समुत्पन्न विषमताओं को दूर करने के लिये एक ऐसी साधना पद्धति का उपदेश दिया जहा न कोई ऊचा था, न कोई नीचा, न कोई कुलीन था न अन्त्यज, न मूर्ति-पूजा की आवश्यकता थी और न तीर्थ-यात्रा की । इस मत मे रोजा, नमाज, तिलक, जप, तप, छाप, सब कुछ निस्सार था । इस मत की भूमिका मे आकर सब समान, सब महान् और सब ईश्वर के प्रिय थे ।

सामाजिक परिस्थितियाँ एवं संतो का योगदान

साहित्य पर सामाजिक परिस्थितियो का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। कारण कि कवि का देश-काल से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उसकी लेखनी देश-काल से निरपेक्ष होकर साहित्य सृजन नही कर सकती है। देश-काल और कवि एक दूसरे को बहुत प्रभावित करते हैं। निर्गुण सन्तो के साहित्य मे भी उस युग की प्रवृत्तियो का समावेश है, जिसे उन सन्त-कवियो ने देखा एव सुना था।

सन्त-कवियो को भी अपने विचारो की अभिव्यक्ति के लिये समाज की आवश्यकता हुई। समाज व्यक्ति की वह समष्टि है, जिसमे उसके हितचिन्तन दुख-सुख एव जीवन के व्यवहार समाहित एव सम्बद्ध रहते है। समाज एक विशाल जलधि के समान है, जिसमे विभिन्न प्रकार की जल वाली समस्त सरिताए अन्तर्हित हो जाती हैं, फिर भी वे अपना अस्तित्व उसी वृहत जल राशि मे रखती हैं। मानव-समाज का प्रत्येक प्राणी जब धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एव व्यक्तिगत सम्बन्धो को एक दूसरे से सम्बद्ध रखता है, तब ऐसी ही सजातीय भावना वाले व्यक्तियो का एकीकरण समाज के नाम से अभिहित होता है। जहा मनुष्य अपनी भावनाओ के विकास के माध्यम मे आदान-प्रदान करता है, जहा उसका जीवन, गतिशील धारा के प्रवाह से सम्पन्न हो जाता है, जहा उसकी जिज्ञासा शक्ति एव प्रवृत्ति को प्रश्रय, प्रोत्साहन और साधन प्राप्त होते है, जहा स्वार्थ भावनाओ की बलि देकर दूसरो का हित सम्पन्न करने मे तत्पर हो जाता है, वही समाज की स्थापना हमे दृष्टिगत होने लगती है। समाज स्थापना की पहली सीढी सहानुभूति है। कहा जाता है कि 'मनुष्य के अन्दर एक विचारो का समाज होता है, और वाह्य-समाज उसी का क्रियात्मक रूप होता है।' मानव अपनी कल्पना की सहायता से ईश्वर, जीव तथा जगत के विविध विषयो के सम्बन्ध मे कितनी ही बातो को विचारता है, तथा वाणी के द्वारा उन्हे व्यक्त करने की चेष्टा करता है। वाणी का वरदान मानव को चिरकाल से प्राप्त है। उसका उपयोग भी वह चिरकाल से करता आ रहा है। प्रेम, दया, करुणा, द्वेष,

घृणा तथा क्रोध आदि मानसिक-वृत्तियों की अभिव्यंजना तो मानव-समाज अत्यन्त प्राचीन-काल से करता चला आ रहा है। साथ ही प्रकृति के नाना रूपों में उद्भूत अपने मनोविकारों तथा जीवन की अन्यान्य परिस्थितियों के सम्बन्ध में अपने अनुभवों को व्यक्त करने में भी उसे एक प्रकार का सन्तोष, तृप्ति तथा आनन्द प्राप्त होता है। इसीलिये वह दूसरे के सहयोग का सदैव आकांक्षी बना रहता है। जब उसे अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के उपयुक्त व्यक्ति मिल जाता है, तो वह उससे अपना सम्पर्क घनीभूत करने लगता है। व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर होते ही उसके जीवन में चेतना, जाग्रति और व्यापकता का समावेश होता है। उसी स्थल पर आकर उसे वृहत्तर समाज में व्यापक अनुभूति और प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है।

मानव की यह सहज प्रकृति है कि वह सदैव विश्लेषण से संश्लेषण की ओर अग्रसर रहता है। इस संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति ही समाज है। जिसके माध्यम से उसका व्यक्तिगत व्यावहारिक आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन जनहित का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। मानव का समष्टि रूप उसे उदार, व्यापक हृदय वाला बना देता है, तथा उसकी प्रवृत्तियों को परिष्कृत बना देता है। क्योंकि एकाकी जीवन न त्याग का संदेश ही दे सकता है और न सद्भावना एवं सहानुभूति का बीजारोपण ही कर सकता है। समाज में रहकर ही मानव सहिष्णुता को वरदान स्वरूप प्राप्त करता है। एकाकी जीवन के फलस्वरूप जो संकीर्णता की भावनाएं मानव में जाग्रत हो जाती हैं उन्हें व्यापक एवं परिष्कृत बनाने का श्रेय समाज को ही है।

मानव द्वारा अर्जित प्रत्येक वस्तु समाज का अंग बन जाती है। इसी कारण तो मानव एवं समाज का अटूट सम्बन्ध है। समाज मानव-जाति के लिये जिस वस्तु या तत्व को कल्याणकारी मानता है उसे ही प्रश्रय देता है, तथा कल्याणकारी तत्वों की ओर मनुष्य जाति को प्रेरित करता है। समाज के नियमों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति समाज से बहिष्कृत समझा जाता है। इस सामान्य नियम का प्रचलन सभी देशों एवं सभी कालों में होता आ रहा है। यहां पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में रहकर मानव को उसके नियमों का पालन करना ही पड़ता है। समाज सदैव आदर्श व्यक्तियों की व्यवस्था करने में प्रयत्नशील रहता है, यद्यपि उसका यह प्रयत्न समय के साथ नवीन रूप धारण करता रहता है। उसी के साथ-साथ नई व्यवस्थाएं उपस्थित होती हैं।

समाज-शास्त्र के विचारकों एवं विद्वानों का कथन है कि समाज साधक, साधन और साध्य का संगठन है[1] इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। परिवर्तन का सम्बन्ध साधारणतः अतीत से ही होता है। अतीत की व्यवस्था में अन्तर आना ही परिवर्तन है। यह परिवर्तन समाज के रूप के साधनों से होता है, चाहे उन्नति की ओर हो या अवनति

---

1 Society is an organization of men, means and meanings

की ओर। यद्यपि अवनति इच्छा से नही होती पर अज्ञानवश हो जाती है। साधक साधन या साध्य इन तीन शक्तियो मे से किसी एक मे भी परिवर्तन होने पर समाज मे परिवर्तन आ जाता है। साथ ही सांस्कृतिक परिवर्तन भी होता गया, जिसने नवीन व्यवस्थाये उपस्थित की। इतिहास हमे यह बताता है कि समाज को उदार, उज्ज्वल और उन्नत चरित्र वाले व्यक्तियो का सगठन करना चाहिये। यदि किसी एक व्यक्ति का आचरण शुद्ध न होगा तो समाज उन्नतिशील नही बन सकेगा, कारण कि उसका प्रभाव दूसरो पर पडेगा। सकीर्णता, भ्रष्टाचार, अज्ञान, स्वार्थ आदि दुष्प्रवृत्तियो का प्रभाव उस युग मे ही नही वरन् भविष्य मे आने वाली पीढी को भी खोखली कर देगा। मानव समाज की बहुमूल्य निधि चरित्रबल है जो उसे सुदृढ स्थिति प्रदान करता है। जहा उसका चारित्रिक बल दुर्बल पड जाता है, वहा मानव होकर भी वह दानव का रूप धारण कर लेता है। यदि मनुष्य अपने चारित्रिक बल से ऊपर उठ जाता है तो वह महापुरुष हो जाता है। प्रसाद जी के शब्दो मे "मनुष्यत्व का पूर्णत्व ही देवत्व है।" उदार व्यक्तियो के लिये समस्त वसुधा कुटुम्ब के रूप मे होती है। उनके चरित्र की विशेषता स्वार्थ का त्याग तथा पर-दुःख से दुखित होना होती है, जिसके आधार पर उन्हे मानव-जाति को प्रबोध करने का अवसर प्राप्त होता है। समाज का शुद्ध आचरण वाला व्यक्ति, समाज के नव-निर्माण के लिये चेष्टा करता है। जिससे वास्तविक सुख का अनुभव मानव अपने जीवन मे कर ले। भारत के ऋषि एव मुनियो ने आध्यात्म की ओर झुक कर अपनी वर्षो की तपस्या और अनुभवो के पश्चात् कुछ ऐसे सिद्धान्त निर्धारित किये जिन्हे अपनाकर कोई भी मानव कल्याण की ओर बढ सकता है। समाज के लिये ऐसे उन्नत आदर्श पुरुषो ने रख दिये है, जिनकी उपयोगिता आज भी हमारे लिये है।

वेदो के रचना-काल से लेकर हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल तक भारतीय-दर्शन तथा विचार-धारा का मुख्य केन्द्र आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को जानना एव उससे सच्चे आनन्द की अनुभूति प्राप्त करना ही रहा है।

माण्डूक्योपनिषद का प्रारम्भ ही इस मन्त्र से होता है

ओमित्येतदक्षरमिद सर्वं तस्योपव्याख्यान भूत
भवद्भविष्यदिति सर्वमोकार एव यच्चान्यत्
त्रिकालातीत तदप्योकार एव। सर्वह्येतद् ब्रह्म।
अयमात्मा ब्रह्म।

अर्थात् पवित्र ओकार अक्षर (ईश्वर) का प्रतीक है, सब कुछ उसी की अभिव्यक्ति है, जो कुछ था, है वा होगा सब कुछ ओकार ही है, जो कुछ त्रिकालातीत है वह भी ओकार ही है, यह सारा विश्व ब्रह्म है, यह आत्मा भी ब्रह्म है। वह ब्रह्म ही सर्वात्मा है। महासागर की एक बूद भी महासागर का ही अश है। उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् मानव शरीर मे प्रविष्ट सर्वात्मा का अश यह आत्मा भी ब्रह्म है। उपनिषदो मे कहा गया है कि—

"सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म"

(तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।१)

भागवत मे भी उल्लेख है कि—

विशुद्ध केवल ज्ञान प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ।
सत्य पूर्णमनाद्यन्त निर्गुण नित्यमद्वयम् ।।
ऋषे विदन्ति मुनय प्रशान्तात्मेन्द्रियाशया ।

(भागवत—२।६।३९-४०)

तथा—

ज्ञानमात्र पर ब्रह्म परमोत्मश्वर पुमान् ।
दृश्यादिभि पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ।।

(भागवत—२।१२।२६)

ब्रह्म सदैव सत्य रहा है और रहेगा भी । वह ज्ञानमय, चैतन्य एव आनन्दस्वरूप है । उसका स्वय शरीर नही, परन्तु विनाशवान् शरीरो मे पैठ कर वह ससार की लीला कर रहा है । वह केवल निर्मल स्वरूप है, पूर्ण है । उसका आदि नही, अत नही । वह नित्य एव अद्वितीय है । वह एक होने पर भी अनेक रूपो मे दृष्टिगत होता है । एक ही परमात्मा सर्वभूत मे परिव्याप्त है । वह सर्वत्र विद्यमान है । ससार के समस्त कार्यों, विधानो तथा व्यवस्था का वह नियता है । वह समस्त प्राणियों मे वसा है । ससार के कार्यो को साक्षी रूप मे देखने वाला चैतन्य केवल, एक अद्वितीय तथा गुणो के दोष से रहित है

एको देव सर्वभूतेषु गूढ़'
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।

(श्वेताश्वतर उपनिषद्—६।११)

ऐसा अद्‌भुत ब्रह्म सदैव प्राणियो के हृदय मे निवास करता है । अपने-अपने हृदय मे स्थित इस महात्मा को जो शुद्ध हृदय से, विमल मन मे अपने मे विराजमान देखते हैं, वे अमर होते है —

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशितानैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारण करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप ।।

(श्वेता० ६।९)

वेदो, स्मृतियो, पुराणो का मत है कि यह देवो का देव जल मे, वायु मे, समस्त भुवन मे, सब औषधियो मे, सभी वनस्पतियो मे सब जीवधारियो मे परिव्याप्त रहा है ।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा हृदिस्थ मनसा य एन—
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
(श्वेता० ४।१७, २०)

लोक में उनका कोई स्वामी नहीं है, न उनके ऊपर कोई आज्ञा और अनुशासन संचालित करने वाला है, न उसका कोई चिन्ह है। वही सबका कारण है परन्तु उनका कोई कारण नहीं है, उसका कोई उत्पन्न करने वाला नहीं है, न उसका कोई रक्षक ही है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनाम् परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
(श्वेता० ६।७)

सृष्टि के आदि में भी वही ब्रह्म था और अन्त में भी वही रह जायगा। तात्पर्य है कि वही ब्रह्म चिरन्तन है, सत्य है, शाश्वत है। भागवत में भगवान् का कथन है कि —

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
(भागवत्—२।९।३२)

मनुस्मृति में उस ब्रह्म के गौरव और महत्ता का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में हुआ है —

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥
(मनुस्मृति—१।५।७)

ऋग्वेद के उस ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि —

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋग्वेद ८।७।३।१)

तथा,

यो नः पिता जनिता यो विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यो देवाना नामधा एक एव
त सप्रश्न भुवना यन्त्यन्या ॥

(ऋग्वेद ८।३।१७।३)

वेदो मे ईश्वर, जीव तथा जगत को एक ही माना गया है। एक ही ईश्वर सब भूतो मे छिपा हुआ है, वह सर्वत्र व्याप्त और सब प्राणियो का अन्तरात्मा है[1] सम्पूर्ण। विश्व के विभिन्न पदार्थो मे परमार्थत कुछ भी अन्तर नही है।[2]

१—एको देव सर्वभूतेपु गूढ सर्वव्यापी भूतान्तरात्मा।

२—नेह नानास्ति किंचन।

सारा ससार एक मात्र ईश्वर मे व्याप्त है, ऐसा समझना चाहिये।

ईशावास्यमिद सर्व।
एक एव परो आत्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थित ।
यथेन्दुरुदपात्रेपु भूतान्येकात्मकमि च ॥

परम आत्मा एक ही है। वह पच भूतो मे और जीवो मे व्याप्त है। जैसे जल के अनेक पात्रो मे एक ही चन्द्रमा अनेक रूपो मे दिखाई पडता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतो मे यह एक आत्मा अनेक रूपो मे दीखती है, तथा भिन्न-भिन्न आदर्शो एव प्रतिमाओ को दिखला रही है।

अथर्ववेद मे कहा गया है

ओइम ! स्वाति मात्र उत पित्रे नो अस्तु।
स्वाति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्य ।
विश्व सुभूत सुविदत्र नो अस्तु ज्योगेव दृशेम् सूर्यम् ॥

अर्थात् हमारे माता-पिता भली प्रकार से जीवन-यापन करें, ससार के समस्त प्राणी स्वस्थ रहें। गो के सदृश उपयोगी जीवो की वृद्धि हो, विश्व मे शान्ति स्थापित हो। सूर्य का प्रकाश ससार को सदैव प्राप्त हो।

मनुस्मृति मे एक स्थान पर ब्रह्म की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है —

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषि न्यसीदत् पिता न ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमान प्रथमच्छदवरां आविवेश ॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक ॥

(मनुस्मृति, ८।३।१६।१, ३)

श्रुति का अभिमत है कि यह विश्वात्मा एक है —

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत

(एतरेय ब्राह्मण १।१।१)

तथा,

एकमेवाद्वितीयम्

(छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।१)

---

१. एको देव सर्वभूतेपु गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा

२ नेह नानास्ति किंचन

वह निर्गुण तथा दृष्टि से अतीत है,

न सदृशेतिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्च नैनम् ।
(श्वेता० ४।२०)

तथा,

ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्तवस्तु,
त पश्यते निष्कल ध्यायमान ॥
(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

वह समस्त सृष्टि का रचयिता है। परमात्मा ने ही सूर्य-चन्द्रमा, पृथ्वी एव आकाश की रचना की है —

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्व ॥
(ऋग्वेद ८।८।४८।३)

वह ब्रह्म या परमात्मा एक ही है। वेदो का कथन है कि ·

(१) एकमेवाद्वितीयम् (छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।१)

(२) एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋग्वेद २।३।२२।४६)

(३) एक सन्त बहुधा कल्पयन्ति

बृहन्नारदीय पुराण मे उल्लेख हुआ है कि भगवान नारायण अविनाशी, अनन्त, सर्वत्र व्यापक तथा माया से अलिप्त है, यह स्थावर-जङ्गमरूप समस्त ससार उससे व्याप्त है। वह जरारहित है। उसे कोई शिव, कोई सदा सत्य-स्वरूप विष्णु तथा कोई ब्रह्मा कहता है —

नारायणोऽक्षरोऽनन्त सर्वव्यापी निरञ्जन ।
तेनदमखिलम् व्याप्तम् जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
तमादिदेवमजर केचिदाहु शिवाभिधम् ।
केचिद्विष्णु सदा सत्य ब्राह्मण केचिद्रूचिरे ॥
(बृहन्नारदीय पुराण १।२।२, ५)

इसी प्रकार 'शिव पुराण' मे स्वय महेश्वर का वचन है —

त्रिधा भिन्नो ह्यह विष्णो ब्रह्म विष्णुहराख्यया ।
सर्गरक्षालयगुणै निष्कलोऽय सदा हरे ॥
अह भवानय चैव रुद्रोऽय यो भविष्यति ।
एक रूप न भेदोऽस्ति भेदेच बन्धन भवेत् ॥
(शिव पुराण २।१।९।२८, ३८)

'भागवत' मे भगवान का कथन है कि हम ब्रह्मा और शिव ससार के कारण है, हम सबके आत्मा, ईश्वर, साक्षी, स्वय प्रकाश तथा निर्विशेष है। वह मैं (विष्णु)

अपनी त्रिगुणमयी माया मे प्रवेश करके ससार की सृष्टि, रक्षा तथा प्रलय करता हुआ भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार नाम धारण करता है —

अह ब्रह्मा च सर्वश्च जगत कारण परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयदृग विशेषण ॥
आत्ममाया समाविश्य सोऽह गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्व दध्रे सज्ञा क्रियोचिताम् ॥
(भागवत—४।७।५०—५१)

हमारे दार्शनिको ने अनेकानेक सत्यो की स्थापना करने की चेष्टा की है। इस देश मे ईश्वर की सत्ता इतनी व्यापक एव विस्तृत मान ली गई है, कि पृथ्वी के कण-कण मे उसकी शक्ति स्थिर है। बाह्य पदार्थो मे भेद-भाव दृष्टिगत होता है पर मूल मे एक ही शक्ति विद्यमान है। इसी आशय को गोस्वामी तुलसी दास ने बडे सरल शब्दो मे व्यक्त करते हुये कहा था :

"सिया राम मय सब जग जानी।
करहु प्रनाम जोरि जुग पानी॥"

सन्त कबीर दास एव उनकी परम्परा मे अवतरित होने वाले सन्तो ने वेदो एव उपनिषदो की इस विचारधारा को व्यावहारिक रूप प्रदान किया, और उन्होने कथनी एव करनी का सुन्दर सामजस्य प्रस्तुत किया। इन सन्तो ने अपनी सामाजिक नीति की रचना आध्यात्मिक विचारधारा पर की। भारतीय-दर्शन की यह परम्परा शताब्दियो मे निरन्तर चली आ रही है। निर्गुण सन्त-कवियो ने अपने धार्मिक-चिन्तन को सामाजिक दृष्टि से परिष्कृत एव चरितार्थ किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ के 'सामयिक परिस्थितिया' परिच्छेद का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्य-युग (१३००—१८०० तक) मे भारत की दशा कितनी हीन, दयनीय और विषम थी। इन पाच-सौ वर्षो मे उत्तर-पश्चिम से इतने आक्रमण हुये कि यहा का सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एव राजनैतिक जीवन निरन्तर अस्थिर बना रहा। जीवन और समाज के प्रत्येक अग एव प्रत्येक पहलू पर इतने भीषण प्रहार हुये कि यहा का जीवन पाच-सौ वर्षो तक निरन्तर क्षुब्ध और अस्थिर बना रहा। आक्रमणकारियो ने यहा के जीवन, समाज एव धर्म पर इतने भीषण आक्रमण किये कि भारतीय-जनता के जीवन पर प्रश्नवाचक चिह्न लग गया था, परन्तु धैर्य और साहस ने विपत्तियो की घनीभूत तह को विनष्ट करके उसे आशा की ज्योति के दर्शन कराये। इन परिस्थितियो मे भारतीय-जनता का हृदय और मस्तिष्क कैसे स्थिर रह सकता था। इस अनिश्चित स्थिति और अदृश्य विपत्तियो का भारतीय-जनता पर व्यापक रूप से प्रभाव पडा। इन पाच सौ वर्षो मे भारतीय-समाज अनाचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, अन्ध-विश्वास और निराशाजनित भावनाओ का केन्द्र बन गया था।

मध्ययुगीन भारत पराधीनता के पाश मे आबद्ध हो चुका था। मुसलमानो का राज्य स्थापित होने से हिन्दूजनता के मन मे स्वाभिमान एव उत्साह के भाव विलीन हो गये थे। विलासिता की वृद्धि के साथ ही हिन्दू एव मुसलमान दोनो ही नैतिक दृष्टि से अध पतित होने लगे थे। मदिरा का प्रचार व्यापक रूप मे हो रहा था। यद्यपि बलबन एव अलाउद्दीन आदि शासको ने सुधार करने की चेष्टा की, परन्तु वैभव मे सलग्न रहने के कारण एक ओर तो मुसलमानो को उस ओर ध्यान देने का अवसर ही न मिला, दूसरी ओर उस वृद्धि के साथ धार्मिक शिथिलता भी आ गई। समाज मे अनेक प्रकार के अन्धविश्वास प्रचलित थे। हिन्दू तो पराधीन होकर पहले ही गौरवहीन हो गये थे, अब विलास मे फसकर उन्हे पूरी-पूरी आत्मविस्मृति हो गई। उनके सामने उनके देव-मन्दिर नष्ट किये जाते, मूर्तिया खडित की जाती एव निरपराध हिन्दुओ के रुधिर की सरिताएँ प्रवाहित की जा रही थी। शनै शनै मुस्लिम-साम्राज्य सम्पूर्ण भारत मे स्थापित हो गया था और हिन्दू-जाति परिस्थितियो से हतोत्साहित होकर केवल ईश्वर के सहारे ही रह गई थी। इस प्रकार भक्ति की ओर जनता आकर्षित हुई। मध्य-युग मे हिन्दुओ का जीवन चक्र अस्थिर और ह्रासमान था। जीवन के समस्त मापदड, उत्थान के सभी साधन और धार्मिकता के सभी आधार विनष्ट होते जा रहे थे। इन परिस्थितियो मे निराशा, व्यग्रता, हीनता, उच्छृखलता और व्यथा का साम्राज्य चारो ओर फैला हुआ था। हिन्दुओ के समक्ष उनके प्रिय भगवान की मूर्तिया ध्वस की जा रही थी। महमूद गजनवी के सत्रह भीषण आक्रमणो से हिन्दू-जनता का हृदय दहल उठा। मुसलमानो के प्रहार से विनष्ट होती हुई मूर्तियो को देख कर हिन्दू-जनता की आस्था और विश्वास मूर्तिपूजा से शनै शनै डिग चला था। वर्ण-भावना की नि सारता, रोहित और पण्डितो के पाखडो, वाह्याचारो की प्रधानता आदि ने हिन्दू जनता के हृदय मे हिन्दू-धर्म की प्राचीन मान्यताओ के प्रति भीषण आघात और विद्रोह की भावना को जन्म दिया। इसी समय रामानद, कबीर, रैदास जैसे उदार चेतामनस्वियो ने मानवता को व्यापक भावनाओ से पूर्ण और उदारता से युक्त एक नवीन धर्म का रूप प्रदर्शित किया जिसमे न जातीयता के आधार पर शोषण सम्भव था, न असमानता के कारण घृणा की भावना की प्रधानता, न पत्थर की मूर्ति के भगवान के कैद होने की मान्यता स्थापित थी। यह था निर्गुण मत। उपर्युक्त इन्ही कारणो से सन्तो की साधना अन्तर्मुखी हो गई और उन्होने अन्तस्साधना पर जोर दिया। क्रमश धर्म का स्वरूप भी परिवर्तित हो चला था, और निर्गुण-पथ का क्षेत्र निर्मित हुआ। जिसे व्यवस्थित रूप से सचालित करने का श्रेय सत कबीर को प्राप्त है, उन्होने वाह्य विधानो को त्याग कर आत्म-साधना पर जोर दिया।

कबीर स्पष्ट करते हैं कि

'लोक जाति ना भूलो भाई'

तथा

झूठे सुख को सुख कहै,
मानत है मन मोद।
जगत चवेना काल का,
कुछ मुख मे कुछ गोद ॥

इस कारण इस ससार के प्राणी मात्र मे उसी ब्रह्म के दर्शन करना चाहिये

कहै कबीर मे पूरा पाया,
सब घट साहब दीठ।

सन्त गरीबदास, सुन्दरदास, मलूकदास, भीखा साहब आदि ने भी इसी बात का प्रतिपादन कबीर के स्वर मे स्वर मिला कर किया। इनकी साखियो से स्पष्ट है कि राम और ससार पृथक् नही है। कारण कि जब एक ही ब्रह्म ने समस्त ससार की रचना की है, तो रचनाओ मे भेद कहा? एक ही चित्रकार द्वारा चित्रित समस्त चित्रो मे उसी की ही कला तो विद्यमान है। तूलिका के रगो ने उसके बाह्य रूप मे परिवर्तन अवश्य कर दिया है। मानव ने अपनी सुविधा के कारण सासारिक विभिन्न वस्तुओ को पृथक् सत्ता दे दी है। इस विश्व मे न कोई कुलीन है न कोई अछूना, मिट्टी मिट्टी ही है, चाहे उसको कोई भी रूप प्रदान कर दिया जाय। समस्त रूपो मे ब्रह्म की जो सत्ता है वह विभाज्य नही है। इसी आधार पर सन्तो ने अस्पृश्यता आन्दोलन प्रारम्भ किया, और जनता का ध्यान वास्तविकता की ओर आकर्पित किया। इन धार्मिक-तत्वो मे सत-कवियो की सामाजिक तथा साम्प्रदायिक दृष्टि सन्निहित है। इन सत-कवियो ने सामाजिक, धार्मिक एव जाति-वर्ण भेदो को हटाकर अभेद की ओर सकेत किया। धनी-निर्धन, राजा-रक, ब्राह्मण-शूद, हिन्दू-मुसलमान मे कौन सा भेद है? धन नि सार वस्तु है। वह स्थायी भी नही है। जनता को चेतावनी देते हुये कबीर ने लिखा है

पक्की खेती देखि करि, गर्व कहा किसान।
अजहू झोला बहुत है, घर आवे तब जान ॥

सामाजिक सुविधाए एव परिस्थितिया मानव के पास धन-सचय कर देती हैं परन्तु उस धन का गर्व न करना चाहिये, उसे केवल एक दास के रूप मे ही समझना चाहिये स्वय धन का दास नही होना चाहिये। यदि स्वय धन के दास हो गये तो धन की तृष्णा कभी भी नही बुझ सकती है। सन्त सुन्दरदास कहते हैं

जो दस बीस पचास भये सत
होइ हजार तु लाख मगैगो।
कोटि अरब्ब खरब्ब असख्य,
पृथ्वीपति होन की चाह जगैगी।
स्वर्ग पताल को राज करौं,
तृष्णा अधिकी अति आग लगैगी।

सुन्दर एक सतोष विना सठ ,
तेरी तो भूख कभी न भगैगी ।[1]

चाहे धनी हो या निर्धन, राजा हो या रक, हिन्दू हो या मुसलमान सभी 'मनुष्य' ही हैं। शरीरिक रूपरेखा सभी की समान है। मनुष्य मनुष्य पहले है, दूसरा कुछ बाद मे। प्रेम, क्रोध, भय, घृणा आदि सवेगो का अनुभव सभी समान रूप से करते है, यह बात दूसरी है कि मात्रा मे अन्तर हो। प्रत्येक मानव जिसे इस ससार मे पूर्ण आयु मिलती है वह शैशव, यौवन एव वृद्धावस्था से होकर गुजरता है। ये तीन अवस्थायें मानव के शरीर मे परिवर्तन प्रस्तुत करती है। सत्य तो यह है कि जब सब कर्ता एक ही है तो भेद कहा से होगा। उसे किसी भी नाम से क्यो न पुकारा जाय, उसे चाहे राम कहे या रहीम या अल्लाह, दोनो मे अन्तर नही है। शाब्दिक भेद के द्वारा तात्विक भेद नही हो सकता है। कबीर ने इस भेद को मिटाने का प्रयत्न इन शब्दो द्वारा किया है

हमारे राम रहीम करीम केसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसभर एकै और न दूजा कोई ॥

कबीर ने राम एव रहीम को एक ही माना है। इस प्रकार उन्होने हिन्दू मुसलमानो मे भी एकता सस्थापित कराने का प्रयत्न किया है। कबीर-पथ मे भी हिन्दू-मुसलमान दोनो ही शिष्य थे। कबीर के मत मे उन दोनो मे कोई अन्तर नही है :

अरे भाई दोइ कहा सो मोहि बतावो ?
बिचिहि भरम का भेद लगावो।
जोनि उपाइ रची है धरनी, दीन एक बीच भई करनी ॥
राम रहीम जपति सुधि गई, उन माला उन तसबी लई।
कहैं कबीर चेत रे भोंदू, बोलनि हारा तुरक न हिन्दू ॥

इस प्रकार की क्रान्तिकारी विचारधारा का समाज-विकास के लिये बडा महत्व है। यदि समाज मे भेद-भाव मिट जाय, तो सघर्ष एव प्रतिशोध की भावना भी धीरे-धीरे दूर हो जाय। शान्ति, सुख एव समदृष्टि का विकास वही पर हो सकता है, जहा समान सुविधाये सबको प्राप्त हो। कबीर की इस समता भावना से प्रेरित होकर सुन्दरदास, मलूकदास, नानक, दादू, भीखा, गरीबदास आदि ने समाज मे समता की भावना का बीजारोपण किया और समाज को तत्व-निरूपण की ओर प्रेरित किया। सभी का जीवन समान है। अत शोषण एव विनाश आदि की भावना को त्याग कर मानवता की ओर ध्यान देना चाहिये। इस ओर प्रत्येक निर्गुण सत-कवियो ने सकेत किया। उन्होने कहा कि गाय चाहे जिस रग की हो उसका दुग्ध सफेद ही होता है, उसी प्रकार हिन्दू-मुसलमान, निर्धन, धनवान

---

१ स० वा०, स० भाग २, पृष्ठ १२१

सभी का रक्त लाल होता है। हिन्दू मुसलमानों के उस संघर्ष युग मे इस प्रकार के उपदेशो ने समाज मे धर्म, मानवता की गरिमा को अक्षुण्ण बनाने का प्रयत्न किया। ये तर्क समाज मे विच्छेद, विभग आदि भावनाओं को कम करने के लिये बड़े समर्थ थे। इस प्रकार निर्गुण सन्त-कवियो ने समाज मे व्याप्त सकीर्णता तथा विनाशकारी तत्वो को छोडकर वृहत्तर मानव-समाज स्थापित करने का प्रयत्न किया।

मुसलमानो की असहिष्णुता के कारण ही इन सन्त-कवियो ने एक ईश्वर की भावना का उपदेश किया है। हिन्दुओ के लिये यद्यपि यह नवीन बात न थी, फिर भी वे उस युग मे उसे भूल चुके थे। इन सन्त-कवियो ने फिर से स्मरण करा दिया। मलूकदास के शब्दो मे .

सर्वव्यापी एक कोहारा । जाकी महिमा आर न पारा ॥
हिन्दु तुरुक का एकै करता । एकै ब्रह्म सबन का भरता ॥

— शब्द सग्रह

यह परब्रह्म सबके साथ है और सबके साथ समान व्यवहार करता है। "पारब्रह्म सब सम करि जानै, हिन्दू तुरुक एक करि मानै।" उसमे भेद-भाव की प्रकृत्ति नही है। मलूकदास तो दूसरे ब्रह्म की कल्पना ही नही करते है।[1] कबीर ने भी कहा है :

कहै कबीर एक राम जपहु रे
हिन्दू तुरुक न कोई[2]।

दोनो ही हिन्दू व मुसलमान का कर्ता एक ही है —

हिन्दू तुरुक का कर्त्ता एकै।
ताकी मति लखी न जाई ॥

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०६।५८)

सतो ने न केवल सास्कृतिक एकता की ओर ध्यान दिया वरन् उन्होने ब्रह्म की अभिन्न, अद्वितीय सत्ता की ओर भी भारतीय-जनता का ध्यान आकर्षित किया। इससे यह लाभ हुआ कि हिन्दू और मुसलमानो के मध्य मे विद्यमान ब्रह्म-विषयक भावना की व्यापक एव घातक दुष्प्रवृत्ति किन्ही अशो मे समाप्त हो गई। इस ओर प्राय समस्त सतो ने सराहनीय प्रयत्न किये। सत नाम देव द्वारा प्रस्तुत ईश्वर स्वरूप मे हमे विभिन्न ईश्वर विषयक धारणाओ के समन्वित रूप के दर्शन होते हैं —

एक अनेक वियापक पूरक जित देखौ तित सोई।
माया चित्र विचित्र विमोहत, विरला बूझै कोई ॥

---

१ एक जगत का एकै करता।
दौसर ब्रह्म कहा है रहता ॥

२ कबीर ग्रन्थावली, १०६।५७।

सब गोविन्द है, सब गोविन्द है, गोविन्द बिन नांहीं कोई ।
सूत एक मणि संत सहस्र लख ओत प्रोत प्रभू सोई ।।
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा जल से भिन्न न होई ।
यह प्रपंच परब्रह्म की लीला, विचरत आन न होई ।।
मिथ्या भ्रम अरु सपन मनोरथ, सत्य पदारथ जाना ।
सुकिरत मनसा गुरु उपदेसी, जागत हो मन माना ।।
कहत नामदेव हरि की रचना, देखो हृदय विचारी ।
घट-घट अंतर सर्व निरन्तर, केवल एक मुरारी ।।
(स० वा० स०, भाग २, पृ० ३१)

नामदेव के समान ही कबीर ने एक ही ब्रह्म को घट-घटवासी तथा उस में संसार व्याप्त एवं संसार को उसमें व्याप्त माना है —

लोका जानि न भूलो भाई ।
खालिक खलक खलक में खालिक, सब घट रह्यो समाई ।
अला एकै नूर उपनामा, ताकी कैसी निंदा ।।
ता नूर थैं सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा ।
ता अला की गति नहीं जानी, गुरि गुड़ दीया मीठा ।।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहिब दीठा ।
(कबीर ग्रन्थावली पृ० १०४)

हिन्दू-मुसलमानों का यह ब्रह्म स्वरूप तथा गुणों से अतीत है । वह वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है । यह अनिर्वचनीय है और यदि अभिव्यक्ति की जाय तो कौन "पतियायगा" । वह न भारी है न हल्का है —

भारी कहो तबहु डरौं, हलका कहूं तो झूठ ।
मैं का जाणौं राम कू, नैनू कबहू न दीठ ।।
दीठ है तो कस कहू, कह्या नको पतियाइ ।
हरि जैस है तैसा रहो, तू हरिषि-हरषि गुण गाइ ।।
(कबीर ग्रन्थावली—पृ० १७)

समस्त सृष्टि मे वही एक ब्रह्म व्याप्त है —

"जहँ देखो तहँ एक ही साहिब का दीदार"—

कबीर के शब्दो मे ऐसा ब्रह्म क्षुधा एवं तृषा से रहित तथा घट-घट वासी है । वह पाप-पुण्य, स्थूल-सूक्ष्म के परे है । वह ध्यान एवं ज्ञान से अतीत है । वेद भी उसका वर्णन करने मे समर्थ नही है । त्रैलोक के समस्त तत्वो से भिन्न यह अनुपम तत्व है —

राम के नाम निसान बागा। ताका मरम न जाने कोई ।
भूख तृषागुण वाके नहीं, घट घट अंतरि सोई ।।

वेद विवर्जित भेद विवर्जित विवर्जित पापरु पुन्यं ।
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित विवर्जित स्थूल सुन्य ॥
भेष विवर्जित भीख विवर्जित विवर्जित ड्यंभक रूपं ।
कहै कबीर तिहु लोक विवर्जित, ऐसा तत अनूप ॥
(कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १६२-१६३)

कबीर तथा उनके अनुयायी संत-कवियो ने हिन्दू-मुसलमान के लिये जिस ब्रह्म की कल्पना की वह अवतार की सीमा तथा भावना से परे है। वह अवतार के बन्धन से परे है। वह अनादि, अनन्त और अखण्डित है—उसका कोई रचयिता नही है, वह स्वय अपने मे पूर्ण तथा कर्ता है।

अनगढ़िया देवा कौन करै तेरी सेवा ।
गढ़े देव को सब कोई पूजै नित ही लावै सेवा ।
पूरन ब्रह्म अखडित स्वामी ताको न जाने भेवा ।
दस औतार निरजन कहिए सो अपना न होई ।
यह तो अपनी करनी भोगे कर्त्ता औरहि होई ।
जोगी जती तपी सन्यासी आप आप मे लड़िया ॥

संतो का ब्रह्म अजर, अमर, अलख एव अकथनीय है। वह अदृष्ट, अगोचर एव अरूप है, फिर भी वह घट-घट वासी है। वह प्यण्ड-ब्रह्माण्ड से परे है। कबीर का कथन है—

संतो धोखा कासू कहिये ।
गुण मे निर्गुण निरगुण मे गुण बाट छाडि क्यू बहिये ।
अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई ।
नाति रूप वरण नहि जाके घटि-घटि रह्यौ समाई ।
खड ब्रह्मण्ड छाडि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई ॥
(कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १८०)

कबीर ने ब्रह्म को सूत्रधार के रूप मे भी चित्रित किया है। सृष्टि की रचना मे यद्यपि पचतत्व तथा सत्व, रज एव तम गुणो की क्रिया निहित रहती है किन्तु सृष्टि उनके कार्य नही होती। इस त्रिलोक को ब्रह्म ही क्रियाशील बनाए हुए है, ठीक उसी प्रकार यथा कठपुतली सूत्रधार के हाथो से क्रियाशील रहती है। निस्सन्देह समस्त त्रिभुवन से वही परम समाहित है—

बाजे तत्र बजावे गुनी, राम नाम बिन भूली दुनी ।
रजगुन तमगुन सतगुन तीन, पचतत्व ने साज्या बीन ।
तीन लोक पूरा देखना, नाच नचावै एकै जना ।
कहै कबीर ससा करि दूरि, त्रिभुवननाथ रहा भरि पूरि ॥
(कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १५३)

इस देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य असतुलित धार्मिकता ही रही है। धर्म ने वर्ग, वर्ण, जाति सघर्ष को समुत्पन्न करके मानव की उदार वृत्तियो को सदैव के लिए सकीर्ण बना डाला। धर्म के नाम पर रक्त की सरिताये बहाई गई। मन्दिर-मस्जिद के भीतर तक ही भगवान का अस्तित्व माना गया और इन मन्दिर एव मस्जिदो की दीवारो ने सकीर्णता का सर्जन किया। यह अभिशाप आज भी किसी न किसी दशा मे विद्यमान है। बुल्लेशाह ने इस बात की कडी अलोचना भी की है। कबीर ने भी मुल्ला व पडितो से पूछा है

तुरुक मसीह ये हिन्दू दुहुठा राम खुदाई।
जहा मसीत देहुरा नाहीं तह काको ठकुराई॥[1]

एक ही ब्रह्म सार्वभौम है, फिर मन्दिर तथा मस्जिद की सीमाओ के अन्तर्गत सीमित कर देना उचित नही है, जहाँ मन्दिर एव मस्जिद नही है, क्या वहाँ ब्रह्म का निवास नही है?

इस प्रकार इन सन्तो ने सामाजिक-जीवन को सरल, सुखमय एव उदार बनाने के हेतु इस प्रकार के उपदेश बारम्बार दिए है।

जिवत पितर न माने कोई,
मुए सराध कराहीं,

तथा मुसलमानो से कहा है —

मुल्ला करिल्यो न्याव खुदाई,

इस प्रकार की भावना अन्य सन्त-कवियो मे भी विकसित हुई है।

निर्गुण-सन्तो ने आत्मसतोष की भावना को जाग्रत किया क्योकि समाज को सुखी एव समृद्ध बनाने के लिये सन्तोष की भावना बहुत ही आवश्यक है। यह भावना तभी जाग्रत हो सकती है, जब मानव केवल अपना कर्म करे, न उसमे आसक्त हो और न उसके फल की ही चिन्ता करे। गीता मे योगेश्वर ने कहा है

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सगो स्त्वकर्मणि॥"

(गीता)

साथ ही तृष्णा का दमन करना भी अत्यन्त आवश्यक है। सतोष की भावना का विकास होते ही, हीनता एव दीनता की समस्त प्रवृत्तिया विलीन हो जाती है। "गोधन, गजधन, बाजधन और रतनधन खान, जब आवै सतोषधन सब धन धूरि समान।"[2]

---

१ कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६-५८।
२. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५१

तृष्णा की अग्नि मे पूर्ण संसार भस्म होता जा रहा है। परन्तु तृष्णा सुरसा के समान अपने रूप का नित्य विस्तार देती जा रही है। सदैव नव आकांक्षाएँ मानव-हृदय को हर समय घेरे रहती है। श्रीमद्भागवत मे भी तृष्णा को ही दुःख का मूल कारण माना गया है .

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥
(भागवत ९।१९।१३।१४,१६)

इन सभी सन्त-कवियो ने तृष्णा की आलोचना की है। कबीर के मतानुसार तृष्णा डाकिनी है, काल है, प्रलयाग्नि है, इसने सुर, नर, मुनि सभी को खा डाला है

की त्रिस्ना है डाकिनी, की जीवन का काल ।
और और निस दिन चहै, जीवन करै बिहाल ॥
त्रिस्ना अग्नि प्रलय किया, तृप्त न कबहू होय ।
सुर नर मुन और रंक सब, भस्म करत है सोय ॥[1]

सन्त सुन्दरदास के अनुसार तृष्णा के आगार और विलासमग्न शरीर दिन-दिन क्षीण एव विनष्ट होते जा रहे है, परन्तु तृष्णा नष्ट न हुई। वह नित्य नवीन ही वनी रहती है। संसार के लोग मृत्यु को प्राप्त होते जा रहे है, पर तृष्णा नई ही वनी है

नैननि की पल ही पल मे क्षण आध घरी घटि काजु गई है ।
जाम गयी जुग जाम गयी पुनि सांझ गई अब राति नई है ॥
आजु गई अरु काल्हि गई परसो तरसो कछु और ठई है ।
सुन्दर ऐसे हि आयु गई तृष्णा दिन ही दिन होत नई है ॥[2]

मानव कण-कण करके धन-धान्य का संकलन करता है। तृष्णा के कारण उसे शान्ति नही मिलती है। वह जीवनपर्यन्त इसी काय मे सलग्न रहता है। वह जीवन की क्षण-भगुरता को भी भूल जाता है और नित्य प्रति तृष्णा की अर्चना मे ही लगा रहता है। ज्यो-ज्यो आयु क्षीण होती जाती है वह धन अर्जन मे और भी व्यस्त होता जाता है

---

१ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ ५५।
२ सुन्दर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२३।

कन ही कन को बिललात फिरे सठ जाचत है जन ही जन की ।
तन ही तन को अति सोच करै नरवात रहे अन ही अन की ॥
मन ही मन तृष्णा न मिटी पुनि धावत है धन ही धन की ।
छिन ही छिन सुन्दर आयु घटी कबहू न गयी बन ही बन की ॥
लाष करोरि अरब्ब परब्बनि नील पदम्म तहा लग पाटी ।
जोरि ही जोरि नडार भरे सब ओर रही सुनिमी तर दाटी ॥
तोहू न तोहि सन्तोष भया सठ सुन्दर ते तृष्णा नहिं काटी ।
सूझत नाहि न काल सदा सिर मारिकै थाप मिलइई माटी ॥[१]

मानव भौतिकता मे ही अत्यधिक ननग्न है। अपनी क्षुधा को शान्त कर लेना ही वह परम धर्म समझता है। क्षुधा ने राजा-रक, देव-नर, इन्द्रादि सभी पीड़ित रहते है। ज्ञान के अभाव मे सभी भूख-भूख करते है पर सन्तोष कोई नही धारण करता है।[२]

कबीर ने जिस प्रकार तृष्णा को डाकिनी कहा है उसी प्रकार सुन्दर दास ने तृष्णा को हत्यारिन एव पापिन कहा है क्योंकि उनके अनुसार मानव की आध्यात्मिक जगत मे असफलता एव भौतिक जगत मे अशान्ति का एक मात्र कारण तृष्णा ही है।

बावि वृथा भटकै निशि यामर दूरि कियो कबहू नहिं धोषा ।
तू हतियारिनि पापिन कोटिनि साच कहूं मति मानहिं रोषा ॥
तोहि मिल्यो तब ते भयो बन्धन तू मारि है तब ही होइ मोषा ।
सुन्दर और कहा कहिये तुहि हे तृष्णा अवलोकरि तोषा ॥[३]

इस तृष्णा ने तीनों लोकों को अपनी विनाशकारी लपटो मे झुलसा डाला तथा सातो सागरो के जल का शोषण किया, फिर भी डायन की भाति मानव का भक्षण करने के हेतु दात निकाले घूमती रहती है। अगणित मानवो का भक्षण करने पर भी उस डायन को सन्तोष नही होता है[४] वह अग्नि के समान बढती हुई मानव का विनाश करती है

सुन्दर तृष्णा यो बढ़ै जैसे बाढ़े आगि ।
ज्यो-ज्यो नाचै फूस को त्यों-त्यो अधिकी जाग ॥[५]

तृष्णा की गति प्रत्येक लोक के प्रत्येक प्राणी मे है, डायन के समान दात निकाले हुये वह स्वर्ग, पाताल एव मृत्यु लोक तीनो मे विचरण करती है .

---

१ सुन्दर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२३ ।
२. सुन्दर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२४ ।
३. सुन्दर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२५ ।
४. सुन्दर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२४ ।
५. सुन्दर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१३ ।

तृष्णा होली लागती स्वर्ग मृत्यु पाताल ।
सुन्दर तीनहु लोक मे बच्यो न एकहु गात ॥

इसी प्रकार सत गरीबदास जी ने भी लिखा है

आसा तृस्ना नदी मे, डूबे तीनू लोक ।
मनसा माया विस्तरी, आतम आतम दोष ॥[1]

सत मलूक दास ने आशा व तृष्णा को सभी दुखों में निरूपित किया

आसा तृष्ना सब घट व्यापी, मुनि गधर्व कोई न बाचा ॥

मलूकदास के अनुसार देव, मुनि एवं नर कोई भी इस प्रभाव से नहीं बचा है। तृष्णा की होली मे समस्त ससार दग्ध एवं उत्पीडित है। "तृष्णा की होरी जरै, जरै सभी नर नार" सभी नर नारी जल रहे है, परन्तु तृष्णा है कि घटने का नाम ही नही ले रही है।

चरनदास के मतानुसार समस्त दुखो का कारण तृष्णा ही है। तृष्णा और लोभ मे बडा निकट सम्बन्ध है। तृष्णा मानव को अधा बना देती है और मानव विवेकहीन होकर असगत कार्य करने लगता है।[2]

लोभ नीच वर्णन करू महापाप की खानि ।
मन्यो जाका मूठ है बहुत अधमो जानि ॥
तृष्णा जाकी जाये है सो अधा करि देय ।
घटी बढ़ी सूझै नहीं नहीं कालका भेद ॥

इन सत कवियो ने बारम्बार इसी ओर सकेत किया कि यदि तृष्णा का परित्याग कर दिया जाय तो समस्त दुख दूर हो जावें। तृष्णाओ को हृदय मे जन्म देना ही समस्त दुखो एव कष्टो का कारण है। तभी सत-कवियो ने बताया कि केवल आवश्यक सामग्री ही उपलब्ध करनी चाहिये। साथ ही सतोष के लिये आत्म-सयम भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि इन्द्रियो पर सयम एव नियत्रण सदैव होना चाहिये। इसी सयम एव नियत्रण के द्वारा मानव आत्मनिर्भरता को व्यावहारिक जीवन मे कार्यान्वित कर सकता है। सयम के बल पर ही मानव योग-सिद्ध कर सकता है, योग-दर्शन मे भी अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध बतलाया गया है

'अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध '

मन का स्वरूप सकल्प-विकल्पात्मक है। वह किसी न किसी उधेडबुन मे लगा रहता है। कभी चुप नही रह सकता। इसलिये प्रयत्नशील होकर जहा जहा मन जाए, वहा-वहा से लौटाकर उसे आत्म-चिन्तन में लगाना चाहिये

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २०७।

२ भक्ति सागर, पृष्ठ १६६।

यतो यतो निश्चरति मनश्चम्बलमस्थिरम् ।
ततस्तयो नियम्यंतदात्मन्येव वश नयेत् ।।
(गीता ६।२६)

कहा भी जाता है "सयम साधे सब दुख जाय।" जब सयम एव नियत्रण अपने आप ही हृदय मे उत्पन्न हो जाता है, तब बाह्य नियत्रण की आवश्यकता नही पडती है।

सन्तो की दृष्टि मे दीनता की भावना सतोष को जाग्रत करने वाली होती है क्योंकि दीनता की भावना से ही प्रेम, त्याग, आत्मनिर्भरता एव सन्तोष-वृत्ति का जन्म होता है। इन्ही प्रवृत्तियो के द्वारा मानव सामाजिक-जीवन मे उदारता का व्यवहार कर सकता है। दीनता की भावना से ईर्ष्या, काम, क्रोध-परसताप आदि सकीर्ण और दोषमयी भावनाए विनष्ट हो जाती है। कबीर ने कहा है दीन मनुष्य देवता बन जाता है, क्योंकि वह तो सबका मुख देखता है परन्तु उसको कोई नही देखता

दीन लखै मुख सबन को, दीनहि लखहि न कोय।
भली बिचारी दीनता, नरहु देवता होय ।।[1]

कबीर ने दीनता की उपमा द्वितीया के चन्द्रमा से दी है

सब ते लघुताई भली, लघुता से सब कोय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नवै सब कोय ।।[2]

दीन व्यक्ति सदैव अपने को ही सबसे हीन समझता है। कबीर कहते है

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजौं आपना, मुझसा बुरा न होय ।।[3]

सत गरीबदास जी लिखते है

सुरग नरक बांधे नहीं, मोच्छ बध से दूर।
बडी गरीबी जगत मे, सत चरन रज धूर ।।[4]

रैदास जी तो दीनो मे जोर देकर कहते है

हरि सा हीरा छांडि के, करै और की आस।
सो नर जमपुर जायेंगे, सत भाषै रैदास ।।

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५१-१।
२ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५१-५।
३ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५१-६।
४. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २०६-१।

इस प्रकार सत-कवियों दीन बनने का उपदेश कर सामाजिक-जीवन को धनी बनाने का प्रयत्न किया है ।

सतोषी व्यक्ति कचन के समान सदैव ही निर्मल होते है और उनके दर्शन मात्र से हृदय को आनन्द की अनुभूति होती है

साध सन्तोषी सर्वदा, निरमल जा के बैन ।
ता के दरस स्परस से, जिय उपजै सुख चैन ॥[1]

दुख से पीड़ित मानव-समाज की सेवा करना प्रत्येक मानव का धर्म है। सेवा एव विनम्रता मे निकटतम सम्बन्ध है। विनम्र, मानव मे ही सेवा-भाव जाग्रत हो सकते है। सामाजिक गुणो मे सेवा का महत्व बहुत ही अधिक माना गया है। त्रस्त व्यक्ति की सेवा करके ही समाज मे सुख-शान्ति स्थापित की जा सकती है। इन सत-कवियो ने यह भी बताया कि जो त्रस्त एव विपन्न नही है, वे भी यदि धन के गर्व, या बल के गर्व से अनुचित कार्यों मे सलग्न है, तो वे भी सेवा एव उपचार के पात्र है। इन सतो ने उपदेश दिया कि मानव को गर्व नही करना चाहिये, यह ससार क्षणभगुर है, फिर गर्व किस वस्तु का करे। कबीरदास जी कहते है.

कबिरा गर्व न कीजिये, काल गहे कर केस ।
ना जानो कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस ॥[2]

सत मलूकदास गर्व करने वाले प्राणियो से कहते है

मन तू काहे पर गर्वाना ।
यह देही जैसे कांच की सीसी, अजहू मरम न जाना ॥
जो दिन तोको आजु गयो है, सो दिन कालिह न ऐहै ॥
ठेस लगे पुनि फूटि जायगी फिर पाछे पतितैहै ॥
ये जो भाई बन्धु तुम्हारे सपने का सा लेखा ।
उदय अस्त की बात कहत है, कोई अमर न देखा ॥
छत्रपती राजा दुर्योधन एकोतर से जाके भाई ।
तेऊ धरि के काल गिरायेस जेउ मूसहि लेत गिलाई ॥
रावन बैर कियो रघुपति सो लका देखि भुलाना ।
बोला गत तै बार लगुत है, रावन जात न जाना ॥
चलत फिरत एक बडा तमासा, सब कोई नाता लावै ।
प्रान गये जब काया भिनके, तब कोई निकट न आवै ॥

(शब्द सग्रह)

मनुष्य की जाति तो पानी के बुदबुदे के समान है

१. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५१-७ ।
२. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ६ ।

पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जाता ।
एक दिना छिप जायगी, ज्यो तारा परभात ॥[१]

फिर भी मानव मृत्युभय मे दूर, ससार मे आसक्ति रखता है। तुलसी साहिब कहते हैं कि ससार मद मे मस्त है, उसे कोई डर नहीं है

जगत मद मान मे माता, खुदी का खौफ नहिं लाता ।
कजा सिर पर खडी द्वारे, फिरस्ते तीर तकि मारे ॥[२]

सभी सन्त-कवियों ने ससार की निस्सारता की ओर ध्यान दिलाया और बारम्बार इस दिशा मे चेतावनी दी ।

कबीर

कुसल कुसल ही पूछते, जग मे रहा न कोय ।
जरा मुई ना भय मुआ, कुसल कहा से होय ॥[३]

दादू

दुख दरिया ससार है, सुख का सागर राम ।
सुख सागर चलि जाइये, दादू तजि बेकाम ॥[४]

मलूकदास

इस जीने का गर्व क्या, कहा देह की प्रीति ।
बात कहत ढह जात है, बारु की सी भीति ॥[५]

सुन्दरदास

काल ग्रसत है बावरे, चेतत क्यो न अजान ।
सुन्दर काया कोट मे सोइ रह्यो सुलतान ॥[६]

गरीबदास

पानी की एक बूद सो, साज बनाया जीव ।
अदर बहुत अदेस था, बाहर बिसरा पीव ॥[७]

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ६ ।
२ स० बा० स०, भाग २, पृष्ठ २४० ।
३. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ६ ।
४ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ७६ ।
५. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १०१ ।
६ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ११० ।
७. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १८८ ।

निर्गुण सन्त-कवियों ने जीवन की व्याप्ति में सेवा के पक्ष को आलोकित कर दिया, कारण कि वे सेवा-भाव में ही मग्न रहते थे। अतः इस युग की निराश जनता को आशा की ज्योति दिखाई दी। सन्त कबीर का कथन है

सेवक सेवा में रहे अनत कहूँ नहि जाय।
दुख सुख सिर ऊपर सहै, कहै कबीर समुझाय ॥[1]

दाता धनी याचै नहीं, सेवा करे दिन राम।
कहै कबीर ता सेवकहि काल करै नहि काम ॥[2]

सेवा-भाव वाले व्यक्ति को किसी फल की कामना नहीं करनी पड़ती है, वह तो स्वयं ही फलागम हो जाता है। "[illegible] फलागमित" [illegible] स्वामी का सेवक तो स्वतः ही फलागम है। इसी भाव की अभिव्यक्ति [illegible] ने निम्नलिखित शब्दों में की है

दास दुखी तो हरि दुखी, आदि अन्त तिहुँ काल।
पलक एक में प्रगट है, छिन में करै निहाल ॥[3]

इसी प्रकार मीरा, मलूकदास, सुन्दरदास, चरनदास, पलटू साहिब आदि सन्तों ने भी सामाजिक जीवन में सेवा का आदर्श माना है। समाज को उन्नत बनाने के हेतु ये गुण अत्यन्त आवश्यक हैं। व्यक्ति की उन्नति के साथ समाज का विकास होता है इसलिये इन कवियों ने व्यक्ति को उन्नत बनाने के लिए अथक परिश्रम किया। इस प्रकार समाज के विकास में इन्होंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

---

१ सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ३६।
२ सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ३६।
३. सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ३६।

धार्मिक परिस्थितियाँ एवं दर्शन

मध्ययुगीन धार्मिक परिस्थितियो पर हम सविस्तार प्रथम परिच्छेद मे उल्लेख कर चुके है। अत यहा पर पिष्टपेषण अपेक्षित नही है। यहा पर केवल सूक्ष्म आभास देकर हम भारतीय-दर्शन पर अपने मत को प्रकट करेगे।

मध्य-युग मे जीवन पर धर्म की गहरी छाप थी। समाज के सभी क्रिया कलाप धर्ममूलक थे। मुसलमान शासक धर्म के नाम पर न्याय करते थे, जिसके कारण सहस्रो बार भारत भूमि पर रक्तपात भी हुआ। यह हिन्दू-मुसलमानो का सघर्ष काफी काल तक चलता रहा। केवल कुछ शासको के राज्य-काल को छोडकर[1] अन्य शासक हिन्दू-समाज, एव हिन्दू सस्कृति पर बराबर आक्रमण करते रहे। कारण कि भारत पर मुसलमानो का प्रबल एव स्थायी शासन स्थापित हो चुका था और मुसलमान शासक इस्लाम के प्रचार पर ध्यान दे रहे थे। भारतीयो के धार्मिक जीवन मे बहुत अन्तर आ गया था। केवल हिन्दू होने के कारण ही उनको जजिया कर देना पडता था।

इधर हिन्दू-धर्म भी बाह्याडम्बरो से घिरा हुआ था। गृहस्थ एव साधू सभी माला-तिलक लगाकर सत्य की खोज मे भटक रहे थे "माला तिलक बनाया पूर्व और भागा" इन्ही बाह्याडम्बरो को दिखाकर अपनी तृष्णा के साधन सगृहीत कर रहे थे। राजा, प्रजा एव योगी सभी माया मे व्यस्त थे "राजा परजा जोगी तपसी भीज रहे ससारी" माया के बन्धनो मे जकडे हुये स्वय पथभ्रष्ट-प्राणी दूसरो को उपदेश देते घूम रहे थे। जो स्वय ही सत्य के आलोक मे अपरिचित थे वे भला दूसरो को क्या उपदेश दे सकते थे। वे तो केवल भ्रमवश बाह्याडम्बरो (माला, तिलक धुनी रमाने) को ही धर्म समझ बैठे थे। अपने ही घट मे विराजमान ब्रह्म को देखने की चेष्टा ही नही करते थे। दूसरी ओर मुसलमान शासक तलवार के बल पर हिन्दुओ के मस्तिष्क से राम की भावना हटाने का प्रयत्न कर रहे थे। इस प्रकार भीतर से तो पाखड, नैतिक-पतन और पारस्परिक दुर्भावना हिन्दू-धर्म को जर्जर बना ही रही थी और बाहर से

---

१ अकबर, जहागीर, शाहजहा।

इस्लाम के आघात हो रहे थे। इस कारण हिन्दू-जनता के हृदय मे श्रद्धा के स्थान पर भय प्रतिष्ठित हो चुका था। अहिंसा, त्याग और सत्य का स्थान बलिदान, ऐश्वर्य और विलासिता ने ले लिया था। साथ ही विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय मतवैषम्य के कारण एक दूसरे की आलोचना मे तत्पर थे। मध्यकाल मे विभिन्न धर्मो का रूप निरकुश रहा है। अब हम यह देखेंगे कि विभिन्न दर्शनो का निर्गुण काव्यधारा पर क्या प्रभाव पड़ा है।

निर्गुण-काव्य-धारा की समाजिक एव साम्स्कृतिक पृष्ठभूमि मे भारतीय-दर्शन की चिन्तन-धारा स्थल-स्थल पर दृष्टिगत होती है। भारत की चिन्तनधारा ने आदि काल से जिस शाश्वत सत्य एव परमानन्द की अनुभूति की प्राप्ति मे दर्शन ग्रन्थों की रचना ज्ञानानुरागियो से कराई उन सभी कृतियो मे, विचार प्रदर्शनो मे चाहे जितनी विभिन्नता रही हो, पर सबका उद्देश्य अत मे सभी विभिन्नताओ को एक ही सूत्र मे ले आया, जो भारतीय चिन्तनधारा का अजस्र-स्रोत बनकर केवल एक ही समस्या के समाधान मे रत रही। हम कौन है? कहा से आये है? किसने हमे भेजा है? कौन लौटाता है? दुःख क्या है? दुःख-सुख मे क्या भेद है? आत्मा-परमात्मा का क्या सम्बन्ध है? दृश्यमान जगत का वास्तविक रूप क्या है? सृष्टि निर्माणकर्त्ता चेतन है अथवा अचेतन? ईश्वर है अथवा नही है? ये सभी समस्यायें समय-समय पर विभिन्न रूपो मे विभिन्न ज्ञानानुरागियो की चिन्तन क्रिया मे मथन स्वरूप विभिन्न वादो, रूपो एव कलेवरो मे आती रही, परन्तु उन सबो मे भावो की एकरूपता लौकिक एव पारलौकिक चिन्तन और तथाकथित दुःख, पीडा एव अवसाद पर विजय पाकर जीवन जगत मे सब सुन्दर है, सब श्रेष्ठ है और अन्त मे परमानन्द से साक्षात्कार की भावना को ही प्रतिपादित किये रही। आत्मा की महत्ता को सभी ज्ञानानुरागियो ने श्रेष्ठ माना है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारत की दार्शनिक चिन्तन-धारायें चाहे वे आस्तिक धर्म की हो या नास्तिक सब मे विरोध होते हुये भी जो सत्यता की बात रही है उसे सब ने एक ही मत से स्वीकार किया है। मार्ग मे विविध रूप तो आये पर सबका उद्देश्य एक ही रहा है और सम्भवत यही कारण है कि मध्य-युग मे सगुण-निर्गुण का विवाद होते हुये भी, दर्शन की शाखायें प्रशाखायें होते हुये भी, भारत की सामाजिक एव सास्कृतिक एकता अक्षुण्ण बनी रही और आज भी भारत का पारलौकिक उद्देश्य लाखो मत-मतान्तरो के होते हुये भी एकता की ही स्वर्णिम लडियो को पिरोये हुये परमार्थ के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है।

भारत सदा से बौद्धिक चिन्तना के क्षेत्र मे विश्व का अग्रणी रहा है। नैतिक मूल्यो पर आज भी भारत जितना बल देता है, उतना बल विश्व के किसी देश ने देने का साहस नही किया है। इसका एक मात्र कारण है कि आज से हजारो वर्ष पहले, वेदो ने 'वैदिक युग' का सूत्रपात किया था, उसी समय से भारत की पुण्य-भूमि ने तपस्वियो को आचल मे पाल पोसकर एक नये रूप मे ससार के कण-कण मे

व्याप्त अनेकानेक रहस्यो मे परिचित होने के लिये उकसाया था। भारत की शस्य-श्यामला भूमि धन धान्य से परिपूर्ण थी जिसने करोडो निवासियो की क्षुधा का निवारण स्वय कर दिया था। यही कारण था कि भारत मे जन्म लेने वाले मानव ने अपनी शक्तियो को भूख-प्यास की ज्वाला के निवारणार्थ न लगाकर बौद्धिक-चिन्तन के क्षेत्र मे अपनी शक्तियो को व्यय करने लगा, जिसके फलस्वरूप भारत ने विश्व को एक नया जीवन-दर्शन दिया।

वैदिक-युग मे वेदो की रचना की गई जो आगे चल कर श्रौत दर्शन के रूप मे भारत के दार्शनिक विचारो के मनन का माध्यम बनी। वेद, सहिता एव उपनिषदो ने जीव, जगत, ब्रह्म पर न जाने कितने तत्व-दृष्टा सन्तो ने विचार किया और दिव्य दृष्टि लेकर भारत के दर्शन-क्षेत्र का एक अध्याय पूरा किया।

भारत के दर्शन-क्षेत्र का दूसरा सोपान महाभारत-काल मे गीता-दर्शन के रूप मे आया और इस छोटी सी पुस्तिका मे ज्ञान-विज्ञान की चिन्तन-रेखा अपने उच्चतम शिखर पर पहुची, जिसने आध्यात्मवाद और व्यवहारवाद का जो अनोखा समन्वय उपस्थित किया, वह आज भी विश्व के चिन्तको के लिये सूत्र रूप मे जीने और जी कर कुछ करने की प्रेरणा देता आ रहा है।

भारत के दर्शन-क्षेत्र के तीसरे सोपान पर एक नवीन चिन्तनधारा का प्रवेश हुआ, जिसके प्रवर्तक चार्वाक ऋषि थे। उन्होने नवीन दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता पर बल दिया और श्रौत-दर्शन एव गीता मे व्यक्त दार्शनिक व्याख्याओ का उपहास करते हुये अपने अनुयायियो की सख्या बढाई और अनुमान को अप्रामाणिक बताया।

चतुर्थ सोपान पर जैन-धर्म ने जैन-धर्म के सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया और महावीर स्वामी एव उनके अनुयायियो ने तत्व-समीक्षा, आचार-मीमासा, प्रमाण-विचार आदि पर विचार करके आत्मा और उसके विविध रूपो मे नये ढग से चिन्तन किया जो श्रौत, गीता, चार्वाक के दार्शनिक विचारधाराओ से नितान्त भिन्न था।

पचम सोपान पर महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म की चिन्तनधारा का द्वार खोल दिया। जो आगे चलकर हीनयान एव महायान विचारो मे विभक्त होकर अपने मत-मतान्तरो को पीडित और प्रताडित मानव समाज के सम्मुख रखा जिसमे वैभाषिक मत, योगाचार, विज्ञानवाद, शून्यवाद, पर नये दृष्टिकोणो और आधारो को जन्म दिया गया।

भारत के दार्शनिक-क्षेत्र मे षष्ठ सोपान पर छ दर्शन सिद्धान्त आये। ये निम्नलिखित रूप मे विख्यात हुये

(१) गौतम का न्याय-दर्शन, (२) कणाद का वैशेषिक-दर्शन, (३) कपिल का साख्य-दर्शन, (४) पतजलि का योग-दर्शन, (५) जैमिनि का मीमासा-दर्शन (६) शकर का अद्वैत वेदान्त-दर्शन

इन छ दार्शनिक विचारधाराओ ने अपने मत की पुष्टि के लिये सैकडो विद्वानो

को जन्म दिया और हर एक दर्शन के मानने वालो की पीढ़ी नवीन विचारो को सम्मिलित करती गई, जो आज भी भारत के कोने-कोने मे अपने विचारो के प्रतिपादन मे दत्तचित्त है।

भारतीय-दर्शन के सप्तम सोपान पर वैष्णव दर्शन ने जन्म लिया और रामानुजाचार्य ने एव उनके अनेक सहयोगियो ने विशिष्टाद्वैत के रूप मे नवीन दर्शन व्याख्या को भारत के सम्मुख प्रस्तुत किया। रामानुजाचार्य की पदार्थ-मीमासा ने आगे चलकर माध्वाचार्य का माध्यमत निम्बार्काचार्य के निम्बार्क मत को जन्म दिया।

वैष्णव-दर्शन भूमि पर भी वल्लभाचार्य जी ने वल्लभ-सम्प्रदाय की स्थापना कर वल्लभ-मत का सूत्रपात किया। वैष्णव-दर्शन के साथ-साथ ही शैव-दर्शन ने भी काश्मीर मे जन्म लिया और शैव-दर्शन की अद्वैत भूमि ने धीरे-धीरे अपने विचारो को वल देकर शैव-तन्त्र के सिद्धान्तो को प्रस्फुटित किया अष्टम सोपान।

भारत मे दार्शनिक चिन्तन-क्षेत्र की उपर्युक्त आठ धाराये अपने साथ अगणित विचारो का लेखा जोखा साथ लेकर आई। विभिन्न मत-मतान्तरो के बीच, वाद-विवाद और सघर्षो के बीच भी भारत की धार्मिक, सास्कृतिक, एव दार्शनिक एकता अपने मे एक रूप लिये ही रही, जिसका फल भारत के साहित्य मे भी वेग से प्रस्फुटित हुआ।

भारतीय-दर्शन धर्म के साथ ही चलता है। अस्तु, हम भारत के दार्शनिक इतिहास को धर्म से अलग नही कर सकते है। दर्शन और धर्म भारतीय चिन्तको के दृष्टिकोण मे कभी भी अलग नही हुये है। उपर्युक्त दार्शनिको के मत मतान्तर उनके अपने ही धार्मिक विचारो को दृढ करने के लिये सृजित हुये है। हमारे यहा प्रत्येक धर्म का, प्रत्येक मत का, अपना अलग दर्शन है। पाश्चात्य दर्शन शास्त्र का जन्म धर्म से नही हुआ। यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक दर्शन का जन्म आश्चर्य एव कौतुक से मानता है। परन्तु भारत मे दर्शन, धर्म एव धार्मिक भावनाओ, मान्यताओ को एक वैज्ञानिक सुनिश्चित रूप देने के लिये ही रचा गया है। इसलिये भारत का प्रत्येक धर्म, प्रत्येक मत अपने धर्म के साथ एक दर्शन को जोडता चला आया है। धर्म तर्क की वस्तु नही है, ऐसा अन्य धर्मावलम्बी भी मानते आये हैं, परन्तु भारतीय धर्म तर्क को भी मान्यता देता आया है।

इसी कारण शैव और वैष्णवो मे सघर्ष हुआ। इसी कारण से भारतीय धर्म मे करोडो देवी-देवताओ की पूजा करने वालो ने अपने मन्दिर और मठ बनवाये, सिद्धान्तो की पुष्टि के लिये वाद-विवाद हुये, अज्ञान के कारण रक्त की सरितायें वही, परन्तु धर्म को विचार स्वातन्त्र्य दृष्टिकोण से देखना वन्द न हुआ और प्रत्येक चिन्तक अपनी स्वतन्त्र चिन्तना-शक्ति के वल पर जो कुछ भी कहना चाहता था, कहने का प्रयत्न किया और प्रत्येक मनीषी को भारत की लाखो करोडो जनता ने सहिष्णुता के साथ सुना और प्रत्येक मत को भारत की जनता ने करोडो की सख्या मे अपनाया। परमात्मा है या नही ? इस समस्या पर आस्तिक और नास्तिक धर्म पनपे, पले और बढे।

परन्तु भारत की मूल सांस्कृतिक एकता ने आस्तिक और नास्तिक के झगडो मे अपने को नही नष्ट किया। ईश्वर का कोई रूप है ? वह सगुण है अथवा निर्गुण इस विषय पर लाखो बार लाखो करोडो रूप मे वाद-विवाद हुये। परन्तु भारत की मूल सांस्कृतिक एकता सगुण-निर्गुण के झगडो मे नही पडी, और यही कारण है कि आज भी गहन, गम्भीर अध्ययन करने वाला जिज्ञासु विद्यार्थी भारत मे फैले लाखो मत-मतान्तरो के बीच, हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक तथा गुजरात से लेकर आसाम तक भारत मे एक अनोखे प्रकार की सांस्कृतिक और धार्मिक एकता देखता आया है।

आज भारत के सभी दर्शन अगो पर मनन कर जिज्ञासु विद्यार्थी कह उठता है—सभी दार्शनिक व्याख्याओ की पृष्ठभूमि मे समान रूप से मूल-भावना छिपी है, सभी दार्शनिको ने आत्मा की श्रेष्ठता पर बल दिया है और सभी ने श्रवण, मनन मार्ग और क्रिया पर बल दिया है। ये सभी श्रेष्ठ मार्ग तक ले जाने वाले है। ये निराशा, व्यर्थ के तर्क, अकर्मण्यता से दूर शाश्वत सत्यता की ओर सोचने की शक्ति प्रदान करते हैं।

सभी दर्शनो ने कर्म को प्रधान माना है। सबने कार्य और कारण के सम्बन्ध के प्रति उपेक्षा नही दिखाई है कही पर भी तो मूल भावना मे विरोधाभास के लक्षण नही। सभी तो केवल परमानन्द, शान्त, शाश्वत सत्यता मे लीन होकर दु:ख निवारण के कारण दु:ख के निवारण मे रत है। हाँ, यह अवश्य है कि सबके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं और रूप पृथक्-पृथक् है। परन्तु परम-तत्व की खोज तो सबका ही उद्देश्य सदा-सर्वदा कला-ज्ञान-विज्ञान सभी मे दृष्टिगत होता चला आ रहा है। भारतीय भाषाओ के प्रमुख साहित्यकारो ने, शिल्पियो की शिल्पकला मे, चित्रकारो के सुन्दर चित्रो मे भारतीय-दर्शन के मूल-उद्देश्य ही तो प्रतिफलित हुये है। अजता और एलौरा की गुफाओ मे, अशोक के शिक्षा-लेखो मे, भारत की आत्मा ही तो उभरी है। भारत की आत्मा ने आस्तिक या नास्तिक, सगुण और निर्गुण से दूर रहकर सब मे एक ही भाव भरे है, सब ने एक दूसरे से ही प्रेरणा ली है।

निर्गुण-काव्य-धारा की सामाजिक पृष्ठ-भूमि मे निर्गुण-काव्य-धारा के महान् काव्याचार्यो ने भारत की सभी दार्शनिक मान्यताओ को समझ कर अपने काव्य मे एक ही स्वर-सगीत की रचना की है। सूर, तुलसी के सगुण रूप मे प्रतीक का रूप लिये राम का मर्यादा पुरुषोत्तम रूप और योगेश्वर श्रीकृष्ण की मुरली ने जो रूप रस-माधुरी की वर्षा कर भटके, विभ्रान्ति एव विशृखलित मन की पीडा को हरा है, ठीक उसी भाति कबीरदास, मलूकदास, दादू, सुन्दरदास, चरनदास, नानक, जगजीवन, आदि की कविताओ, पदो एव साखियो ने ज्ञानाश्रयी मार्ग का रूप खोलकर अपनी कविताओ की रस-माधुरी से भटके, विभ्रान्ति एव विशृखलित मन की पीडा को हरा और साथ ही एक नवीन दिव्य-दृष्टि दी। कृष्ण-भक्ति एव राम-भक्ति की सगुण-शाखा ने जितना भारतीय-दर्शन से लिया है। ज्ञानाश्रयी कवियो ने भी उतना ही

भारतीय-दर्शन की चिन्तना से फल प्राप्त किया है। इसकी व्यापक सत्यता को ज्ञात करने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वेदान्त से लेकर वैष्णव एव शैव-दर्शन तक हम क्रम से यह जानने के लिये प्रयत्न करें कि इन दर्शन ग्रन्थो की अपने-अपने युग मे कौन सी मान्यतायें रही है, और उनके आचार्यो ने अपने अपने क्षेत्रो मे किन-किन सिद्धान्तो और आदर्शो पर बल दिया है। सर्वप्रथम हम वेद-दर्शन का अध्ययन करेंगे।

वेद-दर्शन

वेद-भारत का प्राचीनतम धर्म एव दर्शन ग्रन्थ है। इस असार ससार मे चारो ओर दु ख ही दु ख है। उसकी निवृत्ति के उपाय एव उपचार के साधन भी हमे वेदो से मिलते हैं।

वेदो को हम दो भागो मे विभाजित कर सकते है

(१) मत्र, (२) ब्राह्मण

मत्र विभिन्न देवताओ की स्तुति मे प्रयोग किये जाते है। ब्राह्मण यज्ञ एव अनुष्ठान का विस्तारपूर्वक विवरण प्रस्तुत करने वाले जो आगे चलकर ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाये।

वेदो मे उच्चरित मत्र-सहिता के रूप आये और चार सहिताओ का निर्माण हुआ। ये सहिताए निम्नलिखित हैं

(१) ऋग, (२) यजु, (३) साम, (४) अथर्व[२]

वेद को तीन भागो मे विभाजित किया गया है। जो सहिता, ब्राह्मण, आरण्य के रूप मे सामने आये। ब्राह्मण ग्रन्थो के साथ आरण्यको के अन्तिम भाग मे उपनिषद् आये जो अध्यात्मवाद की समस्याओ का विश्लेषण करने वाले हुये और वेद के अन्त मे आने के कारण वेदान्त भी कहलाये।

वेदो मे देवताओ का बाहुल्य पग-पग पर दृष्टिगत होता है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष एव दुःस्थान के देवताओ की कल्पना की गई और अग्नि, इन्द्र, सूर्य, विष्णु को प्रमुख देवताओ मे स्वीकार कर विभिन्न प्रतीको से उन्हे सुसज्जित किया गया।

इस प्रकार की वेदो की सगठन शक्ति ने भारत को एक दृढ आचारयुक्त दर्शन दिया और एक व्यापक शक्ति के रूप मे आधार निरूपण की भावना भी धीरे-धीरे

---

१. "मन्त्र ब्राह्मणत्मको वेद"

२ ऋग्वेद मे होत्र कार्य के लिये।
यजु मे याग के विविध क्षेत्रो एव उपाग भूति अनुष्ठानो के लिये।
सामवेद मे ऋचाओ के ऊपर स्वर लगाकर गाने के लिये।
अथर्व वेद समग्र याग एव अनुष्ठान की पूर्ण सिद्धि के लिये।

भारतीयो मे आती गई। देवताओ के साथ-साथ वेदो मे देवियो की भी कल्पना की गई। उषा को आकाश की पुत्री एव तमोमयी रजनी भगिनी के रूप मे आयी। ऋग्वेद मे ऋतु की बडी ही सुन्दर एव प्रभावशाली कल्पना की गई और उसे सत्य अविनाशी सत्ता के रूप मे माना।

वेदो की सगठन शक्ति ने मानव-समाज को एक दृष्टि दी। ससार मे व्याप्त अनेकानेक रहस्यो को देखकर साधक कह उठा

"न दक्षिण वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमा दित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद्वसवो धीर्याचिद् युष्मानी तो अभय ज्योतिरश्याम्॥"[1]

"न मुझे दायें का ज्ञान है न बायें का। मै पूर्व और पश्चिम को भी नही जानता मेरी बुद्धि भी पूर्ण नही है, मै हारा हुआ और व्याकुलता लिये भटक रहा हू यदि आप मेरा पथ-प्रदर्शन करे तो मुझे उस अभय-ज्योति का ज्ञान हो सकता है।

उपर्युक्त श्लोक मे साधक ने हार मान कर सृष्टि और नियता के सामने घुटने टेक कर, उनकी कृपा के फलस्वरूप जीवनयापन की कामना के दृढ सकल्प को अपना बैठा जो दुःख से छुटकारा पाने के लिये यज्ञ के रूप मे पनपा।

ब्रह्म-तत्व मे देवताओं की उत्पत्ति का व्यापक रूप हमे ब्राह्मण ग्रन्थों मे दृष्टिगत होता है। आरण्यक मे आत्मा को विज्ञानमय तथा आनन्दमय का रूप भी दिया है। इनमें सभी स्थावर और जगम जो कुछ जगत मे है, सभी आत्मा ही है, इसी आत्मा से सृष्टि होती है और अन्त मे इसी मे लीन हो जाती है।

उपनिषद् मे श्रौत-दर्शन का विस्तृत रूप दृष्टिगत होता चलता है, और साथ ही तर्क को भी व्यापक महत्व दिया गया है। युक्ति और प्रश्नोत्तरो मे आत्मा से साक्षात्कार कराने की चेष्टा की गई है।

उपनिषद् का अर्थ है निश्चयपूर्वक विद्या, ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा पर निरूपण कर न दुःख मे चरम निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति उपनिषदो का विशेष विषय रहा है।

उपनिषदो मे प्रत्येक शकाओं का समाधान करने का प्रयत्न किया गया। सूक्ष्म उपासना-पद्धति तथा स्थूल उपासना-पद्धति सभी पर विचार करते हुये सत्,चित्, आनद की प्राप्ति ही उपनिषदो का प्रतिपादित विषय रहा है। प्रत्येक उपनिषद् अपने मे प्रश्नोत्तरो की लडिया सजोये हुये अपने मे पूर्ण है।

(१) ईशावास्योपनिषद् मे दर्शन के परम लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिये ज्ञानोपार्जन के साथ-साथ कर्म को भी प्रधानता दी गई है।
(२) केनोपनिषद् मे ब्रह्म की महिमा का वर्णन है।
(३) कठोपनिषद् आत्मा-ज्ञान की महिमा एव आत्मा के स्वरूप के निरूपण को महत्व दिया गया है।

---

१ ऋग्वेद [illegible]।

(४) प्रश्नोपनिषद् ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के सम्बन्ध मे उल्लेख हुआ है ।
(५) मुडकोपनिषद् मे "सप्रपच ब्रह्म" का निरूपण है ।
(६) माडूक्योपनिषद् मे प्रणव की महत्ता का वर्णन है ।
(७) गौडपादकारिका मे अद्वैत-वेदान्त के साराश को सुन्दर रूप मे लिखा गया है ।
(८) तैत्तरीयउपनिषद् के तीन खड हैं
(क) शिक्षाध्याय (ख) ब्रह्मानन्दवल्ली (ग) भृगुवल्ली शिक्षाध्याय मे वर्ण तथा स्वर के सम्बन्ध मे उपदेश है। ब्रह्मानन्द मे ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण एव भृगुवल्ली मे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया गया है ।
(९) ऐतरेय मे सृष्टि, जन्म, आत्मा मे ज्ञान एव विचार को महत्व दिया गया है ।
(१०) छान्दोग्य मे सूक्ष्म, उपासना द्वारा ब्रह्म-ज्ञान की महिमा बताई गई है ।
(११) वृहदारण्यक —ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का प्रतिपादन, एव उपदेशो का सुन्दर वर्णन हुआ है ।

ईशावास्योपनिषद् मे पूर्ण मे से पूर्ण निकाल देने पर भी पूर्ण ही शेष रह जाता है[1] की मनोहर और प्रभावशाली उक्ति ने उपनिषदों के दर्शन एव इतिहास को जो नई दिव्य दृष्टि दी है उसके फलस्वरूप आत्म-तत्व की विवेचना के द्वार खुल गये ।

मृत्यु सबसे बडा रहस्य है, वह कहा से आती है? आत्मा की सत्ता इस जीवन तक ही सीमित है, या इस जीवन के समाप्त होने पर भी वह अमर रहती है। इस समस्या का समाधान कठोपनिषद् मे किया गया है। नचिकेता और यमराज के प्रश्नोत्तर कठोपनिषद् मे बडे सुन्दर ढग मे व्यक्त किये गये हैं, जो आगे चलकर ठोस दर्शन की मीमासा के मूल कारण बने

"आत्मा नित्य है। वह कभी नही मरती न दोषो को प्राप्त होती है। वह विषय ग्रहण वाली इन्द्रियो, सकल्प-विकल्प वाले मन से, विवेचनात्मक बुद्धि से, कारण-भूत प्राणो से पृथक् है"।

एक स्थान पर "शरीर रथ, मन लगाम, इन्द्रिया घोडे और आत्मा को रथ स्वामी" कहकर आत्मा की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।[2]

---

१ ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते

२ आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेवतु ।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मन प्रग्रहमेवच ।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण ॥ कठोपनिषद् १।३-४।

वेद-वेदान्त दर्शन मे शुद्ध आत्मा की स्वरूपता पर भी बराबर बल दिया गया है। माण्डूक्य उपनिषद् मे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, आत्मा की तीन विभिन्न अवस्थायें बताई गई हैं, जो विश्व तैजस और प्राज्ञ के रूप मे आती है। परन्तु आत्मा का यह सच्चा स्वरूप नहीं है। शान्त, शिव, अद्वैत का सच्चा रूप ही आत्मा है और यह आत्मा ही तुरीय है।

उपनिषदो मे ब्रह्म के सगुण एव निर्गुण दोनो ही रूपो पर विशेष विवेचन किया गया है।

जगत के सम्बन्ध मे ब्रह्म उनका उपादान और निमित्त कारण माना गया है। मकडी जिस प्रकार अपने शरीर से जाला तानती है, फिर अपने मे समेट लेती है, ठीक इसी प्रकार प्रभु भी जगत के निर्माण एव नाश का मूल कारण है।

ब्रह्म, जगत जीव, और आत्मा पर विचार करने के कारण वेदान्त का व्यवहार पक्ष बहुत ही सुदृढ हुआ जिसमे

(१) आत्म-सयम,
(२) दान,
(३) दया,
(४) सत्य,
(५) कर्म स्वातन्त्र्य,
(६) धर्म पालन,
(७) सदाचार,
(८) ब्रह्मचर्य-पालन
(९) शास्त्र के प्रति आदर तथा
(१०) धार्मिक एव सात्विक पुरुषो का सत्सग

पर बृहदारण्यक, छादोग्योपनिषद् आदि मे उपर्युक्त गुणो की अभिवृद्धि के हेतु छोटी-छोटी अगणित कथाये दी गई है, जो मानव-मात्र के विवेक को जगाने मे सदा-सर्वदा अग्रसर रही है।

इस प्रकार वेद से लेकर वेदान्त की दर्शनधारा ने भारतीय-जीवन मे उत्तरोत्तर कल्याण के मार्ग खोल दिये जो सत्य, प्रेम और कर्म स्वातन्त्र्य के पथ पर चलते हुये आत्म-ज्ञान के अभिलाषी थे।

वेद से वेदान्त तक आत्मा की श्रेष्ठता और पुरुषार्थ पर आवश्यक बल दिया गया। मुक्तिकोपनिषद् मे मुक्ति का मूल-मत्र पुरुषार्थ माना गया है।

शुभाशुभाभ्या मार्गाभ्या वहन्ती वासना सरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि
अशुभेषु समाविष्ट शुभेष्वेवातारयेत्[१]।

---

१. मुक्तिकोपनिषद्—२।५।६।

"वासना रूपी नदी दो मार्गों से बहती है, शुभ और अशुभ। मानव मात्र अशुभ मार्ग से बहती हुई नदी को प्रयत्न द्वारा शुभ मार्ग की ओर ले जाय" ने निश्चय ही वेद से वेदान्त तक जो भूमि श्रौत-दर्शन की तैयार की उसने निश्चय ही भारत के सम्मुख एक नया जीवन-दर्शन रखा जिसके आधार पर भारत अपने नैतिक मूल्यों को पहचानता हुआ उन्नति के पथ पर अग्रसर होता गया।

२—गीता-दर्शन

महाभारत काल से भूमि के लिये घटित भाई-भाई के संघर्ष ने चाहे जितना प्रलयकारी सग्राम उपस्थित कर दिया हो और उसी के फलस्वरूप महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ की रचना हो गई हो, परन्तु उसके परिणामस्वरूप महाभारत के अन्तर्गत गीता के सात सौ श्लोकों ने भारतीयों की चिन्तना-शक्ति में बड़े वेग से एक आश्चर्यकारी परिवर्तन का सूत्रपात अवश्य ही किया। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

महाभारत का ऐतिहासिक सग्राम होने को था, पाण्डव और कौरवों की सेना रथ, हाथी, घोड़ों से सुसज्जित खड़ी थी। ऐसे समय में रथ पर बैठे हुये अर्जुन को अपने ही बन्धु-बान्धव, सहोदरों एव गुरुओं के प्रति शस्त्र उठाने में भय की भावना आई और मोह हुआ। युद्ध में अपने प्रियजनों की मृत्यु, पूज्य आचार्यों के मरण से दुःख का भार नही सहन कर सकेंगे इसलिये युद्ध नही होना चाहिये। एव ऐसे समय में सारथी के रूप में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया जो माया-मोह से दूर कर्त्तव्य पर ही आधारित था, और इस प्रकार गीता के सात-सौ श्लोकों ने भारतीय-विचार और चिन्तना-शक्ति में एक अपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन किया।

गीता के ये सात-सौ श्लोक अठारह[1] अध्यायों में विभाजित हुये है, जिसमें प्रत्येक अध्याय अपने एक विषय के अन्तर्गत आने वाली पूर्ण शकाओं का समाधान करता चलता है।

इन अठारह अध्यायों में जीव, जगत, ब्रह्म, मोक्ष को बड़े ही सुन्दर एव दार्शनिक ढग से सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। जीवन के कर्मक्षेत्र का कोई भी ऐसा

---

१. प्रथम अध्याय, अर्जुन का विषाद
द्वितीय अध्याय, साख्य-योग
तृतीय अध्याय, योग-शास्त्र, कर्म-योग
चतुर्थ अध्याय, ज्ञान, कर्म, सन्यास-योग
पचम अध्याय, कर्म, सन्यास योग
षष्ठ अध्याय, आत्मसयम-योग
सप्तम अध्याय, ज्ञान-विज्ञान योग
अष्टम अध्याय, अक्षर-ब्रह्मयोग
नवम अध्याय, राजविद्या-योग
दशम अध्याय, विभूति योग
एकादश अध्याय, विश्वरूप दर्शन-योग
द्वादश अध्याय, भक्ति-योग
त्रयोदश अध्याय, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ-विभाग
चतुर्दश अध्याय, गुणात्रय विभाग-योग
पचदश अध्याय, पुरुषोत्तम-योग
षोडश अध्याय, देवासुर सपद्वि-भाग-योग
सप्तदश अध्याय, श्रद्धात्रय विभाग-योग
अष्टदश अध्याय, मोक्ष सन्यास-योग

विषय नही है, जो गीता मे अछूत बचा हो। उसने निश्चय ही मोक्ष के द्वार खोले है।

बन्धु-बान्धवो से युद्ध करू या न करू ? अर्जुन का यह प्रश्न ही गीता का जन्म-दाता है। श्रीकृष्ण ने अपने सदुपदेशो से आचार-मीमासा का जो प्रतिपादन किया उसके ही फलस्वरूप गीता योग-शास्त्र, एव कर्म-शास्त्र का आधार बनी।

गीता का दर्शन भी दो विचारो को लेकर चलता है

(१) अध्यातम-पक्ष, (२) व्यवहार-पक्ष

अध्यातम-पक्ष मे ब्रह्म-तत्व, जीव-तत्व, जगत-तत्व और पुरुषोत्तम-पक्ष का निरूपण है, जो रहस्यमय होने के कारण मनुष्य-मात्र के लिये पहेली की भाति बन हुआ है।

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुण गुणभोक्तृ च।[1]

इस श्लोक मे एक ओर ब्रह्म को सब प्रकार के दैहिक सम्बन्धो से रहित बताया है परन्तु वह सबको धारण करता है ? वह निर्गुण है, तथापि सगुणो का भोक्ता है। सत्-असत् है और उन दोनो से परे है।

ब्रह्म के दो रूपो परा और अपरा की भी व्यजना स्पृहणीय है।[2] ईश्वर जिस एक अश से योगमाया से युक्त है वही अश जगत मे अभिव्यक्त होते है। जिसे वह एक अश से जगत को व्याप्त कर लेता है, वह अश अपरा शक्ति है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहकार ये आठ अपरा प्रकृति, क्षर पुरुष की प्रकृतिया है, जिसमे पच-महाभूत अहकार, बुद्धि, प्रकृति पच-ज्ञानेन्द्रियाँ पच-कर्मेन्द्रिया, मन, शब्द, स्पर्श, पच-इन्द्रिय विषय भी क्षर पुरुष के क्षेत्र है।

जीव-तत्व पर भगवान कृष्ण का यह भाव (मृत्यु) कोई अनहोनी एव अपूर्व वस्तु नही है। कोई नही मरता। आत्मा अजर-अमर है। जिस प्रकार फटे पुराने वस्त्रो को उतार कर मनुष्य नये वस्त्र पहन लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा अपने वस्त्रो को छोडकर, अर्थात् एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे आ जाती है। इसलिये जीवन-तत्व की प्रमुख आत्मा अजर-अमर है। वह कभी भी क्षतिग्रस्त नही होती। वह तो अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। उसको कोई नही मार सकता है। ठीक उसी प्रकार बीज से उत्पन्न जगत वृक्ष बनकर पुन बीज मे लीन हो जाता है। इसी प्रकार यह जगत ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म मे ही लीन हो जाता है। जो ईश्वर उस विश्व को व्याप्त कर, उसको बनाकर, उससे भी परे है, जगत के सब पदार्थों मे होते हुये भी उससे अलग है, वही ईश्वर पुरुषोत्तम है।

---

१. गीता १३।१४।

२. परा प्रकृति मे अक्षर पुरुष।
अपरा प्रकृति मे क्षर पुरुष।

गीता ने इस प्रकार ब्रह्म, जीव, जगत पुरुषोत्तम के रहस्यमय प्रश्नो का समाधान तो किया ही है, परन्तु साथ ही उसके व्यवहार-पक्ष मे जिस कर्म-सिद्धान्त का प्रस्फुटन हुआ, वह वास्तव मे जनजीवन के अधिक निकट है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥[1]

कर्म की यह व्यापक सत्यता "कि कर्म करने का अधिकार तेरा है, फल प्राप्त करने का नही" ने फल की आकाक्षा के प्रति त्याग, कर्त्तव्य मे अभिमान का त्याग और फल को ईश्वर मे अर्पण करने की साध के भाव भरे।

आलस्यवश फल की इच्छा न रखने को गीता मे निन्दनीय माना गया है। इसके विपरीत फल की इच्छा न रखते हुये अपने कर्त्तव्यो का पूर्णरूपेण पालन करना ही गीता के महान् कर्म-योग का सिद्धान्त है।

गीता ने कर्म के साथ साथ ज्ञान-योग का भी सहारा लिया और कहा सब भूतो मे एक ही आत्मा है, अस्तु सब भूतो मे एक ही आत्मा के दर्शन करो, लोभ, ईर्षा, घृणा आदि को छोडो।

निष्काम-कर्म मे अनुरक्त होकर सब भूतो मे एक आत्मा की भावना लेकर, चचल भटके मन को आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि साधनो से मन के सारे कलुषो को भगवान के अर्पण कर दो और ध्यान-योग से भक्ति-मार्ग पर यज्ञ, दान, तप द्वारा निष्काम उपासना को प्राप्त करो, सच्ची आत्मा और उसके पहचानने का उपदेश गीता-धर्म देता आया है।

इस प्रकार व्यवहार-पक्ष मे गीता ने

(१) निष्काम-कर्म,
(२) निष्काम-कर्म के साथ-साथ सब भूतो मे एक आत्मा के दर्शन,
(३) ध्यान-योग द्वारा कलुष का नाश,
(४) भक्ति मार्ग के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के सूत्र दिये। जिससे
  (क) कर्त्तव्यपालन,
  (ख) आत्मा अनिवाशी है,
  (ग) शोक-मोह से निवृत्ति-की तीन धारायें भी चिन्तना के क्षेत्र मे आई।

इसी कर्त्तव्यपालन के हेतु अर्जुन युद्धक्षेत्र मे अपने सगे सम्बन्धियो से लडे, भाई भाई का खून बहा, परन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस युद्ध को "व्यावहारिक पारमार्थिक, सामाजिक, नैतिक सभी दृष्टिकोणो से उचित बताया, और इस प्रकार भाई-भाई के इस युद्ध ने भारतीयो के सम्मुख सत्य और सत्य के मूल्यो पर अपना एक नया इतिहास बनाया। महाभारत का युद्ध सत्य की विजय का युद्ध बना और महाभारत की गीता भारतीय-जीवन के कर्मकाड का प्रतीक बनी।

---

१. गीता-अध्याय २।४७।

गीता के सिद्धान्तों की उपर्युक्त व्याख्या ने एक नये पुरुष को जन्म दिया, ऐसा पुरुष जो विश्व के किसी भी इतिहास में किसी भी काल में नहीं जन्मा और उसका नामकरण भगवान श्रीकृष्ण ने 'स्थित प्रज्ञ' दिया।

जब व्यथित अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से प्रश्न किया।

स्थित प्रज्ञ का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधी कि प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥[1]

तब भगवान श्रीकृष्ण ने[2] स्थित प्रज्ञ के जो लक्षण बताये वह गीता-दर्शन के मूल भाव बन गये। "जो अपने सभी मनोगत कार्यों को तज दे, अपने में तुष्ट हो, दुःख में जो पीड़ित न हो, सुख में मद न करे, वीतराग, भय, क्रोध से जो दूर हो, जो शुभ, अशुभ पाकर प्रसन्न और दुःखी न हो। सर्वत्र स्नेह को फैलाता रहे। वही स्थित-प्रज्ञ है। कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपनी भटकने वाली इन्द्रियों को समेट ले, उसी की प्रज्ञा स्थिर है। निराहारी मनुष्य का भोजन तो छूट जाता है किन्तु जिह्वा का रस तो नहीं जाता है। ज्ञानी को चाहिये कि आत्मलाभ से इस रस को जीते। यत्न युक्तसाधक की यह ढीली इन्द्रियाँ अपने बल से साधना को हर लेती है। उन्हें संयम से रोके, मुझमें आत्म सम्मिलन की चेष्टा करे, उसी की बुद्धि स्थिर है। ऐसे भोग चिन्तन के साथ रहने की इच्छा उत्पन्न होती है। साथ रहने से काम का जन्म होता है। काम से क्रोध और क्रोध से मोह का जन्म होता है, जो स्मृति या बुद्धि को भ्रमावस्था में डाल देती है। इस भ्रमावस्था में बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि नाश से विनाश होता है। राग, द्वेष से दूर आत्म-प्रसाद का चिन्तन ही स्पृहणीय है। प्रसादयुत होने से समस्त दुःख छूट जाते है और प्रसन्न चित्त होने से बुद्धि स्थिर हो जाती है, जहाँ पर बुद्धि नहीं है, वहाँ पर भावना कैसे आयेगी और असाधना में शक्तियाँ कहाँ मिल सकती है, फिर इस अशान्त में सुख कहाँ ? इन्द्रियों की तुष्टि के लिये जो मन इधर-उधर भटकता है, जो इन इन्द्रियों को समेट ले उसकी बुद्धि स्थिर हो जायेगी। जिस प्रकार नदी-नालों से भरा हुआ समुद्र स्थिर है, अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता उसी प्रकार जहाँ पर सारे काम समा जाय वही शान्ति पाता है। काम और कामी शान्ति नहीं पा सकता है। अहंवाद, ममता से मुक्ति पाकर सर्वकाम का त्याग कर जो व्यक्ति निःस्पृह होकर विचरता है, अर्जुन वही 'स्थित प्रज्ञ' है।

स्थित-प्रज्ञ के उपर्युक्त लक्षणों में भारत का सारा ज्ञान-विज्ञान, मान्यतायें सभी रूपों में उभर उठती है, जो आगे चलकर चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र में साहित्यकों की कृतियों में प्रस्फुटित होती है।

---

१. गीता-अध्याय, २।५८, ।

२ गीता-अध्याय २ मे श्रीकृष्ण का उत्तर ५५-७२ ।

गीता मे श्रीकृष्ण ने यही कहा है¹

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

'सब धर्मों को छोड़कर एक मात्र मुझमे आत्म समर्पण करो, मेरी शरण ग्रहण करो, मै तुम्हे सभी पापो से मुक्त कर दूगा। कोई चिन्ता न करो।'

वास्तव मे भगवान की यह उक्ति चिन्तन, प्रश्न के क्षणो मे बोली, जिसने सदेहो, अविश्वासो, स्वार्थ, मोह, छल, दम्भ एवं कपट व अनैतिक मान्यताओं का सहार किया और स्वस्थ नव चेतना जगत की रचना मे समर्थ हुई।

३. चार्वाक-दर्शन

श्रौत-दर्शन एव गीता दर्शन के ठीक दूसरी ओर एक ऐसे मत का भी प्रारम्भ हुआ जो श्रौत एव गीता-दर्शन की सुन्दर उक्तियो व बौद्धिक-चिन्तना से दूर रहते हुये भी यथार्थ को ही सत्य मान कर चला। भारतीय-दर्शन की अब तक की बनी हुई भूमि पर उसने सन्देह के बीज बोये जो आगे चल कर चार्वाक दर्शन मे परिणत हुये। चार्वाक-दर्शन के आदि प्रवर्तक बृहस्पति कहे जाते हैं।

चार्वाक का अर्थ है पुण्य, पाप एव परोक्ष को न मानने वाला। चार्वाक का अर्थ-मधुर-वचन वाला भी है। लोकायत, नाम से भी यह दर्शन अपने विचारो को प्रतिपादित करता आया है। जहा पर संशय और सन्देह उत्पन्न हो जाता है मन किसी भी आस्था को स्वीकार करने मे हिचकता है। ऐसे समय मे जो सामने है वही सत्य है, शेष सब थोथी कल्पना और सारहीन भावुकता के सिवा कुछ नहीं है ऐसे ही विचार मन को आक्रान्त कर लेते है।

इसी कारणवश वेद से लेकर वेदान्त और गीता-दर्शन की पृष्ठभूमि तक छिपी हुई शकायें सन्देह का मूल कारण वनती गई और धीरे-धीरे चार्वाक-दर्शन की एक शाखा भी भारत भूमि पर पनपती गई जिसने

(१) अक्रियावाद, (२) यदृच्छवाद, (३) नियतिवाद

का रूप प्रस्फुटित किया। वृहदारण्यक मे याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से भी इस मत के सम्बन्ध मे चर्चा की है।

कालवाद मे जीवन की सभी घटनाओ को भाग्य के आधीन वताया गया था। स्वभाववाद मे प्रत्येक की अपनी शक्ति होती है परन्तु विचार किया गया था और नियतिवाद मे सभी घटनायें पूर्व से नियत हैं, वे बिना किसी परिवर्तन के जीवन मे घटित होती रहती है। इसकी चर्चा पहले हुई पर चार्वाक-दर्शन ने तो धीरे-धीरे सन्देह को इतना दृढ किया कि वह कह उठा

"यही लोक-आत्मा और शरीर की क्रीडा का केन्द्र है। परलोक एक भ्रामक

---

१. गीता, अध्याय १८ ६६

कल्पना है और उस नाम की कोई वस्तु नही है। यह शरीर ही आत्मा है, शरीर और आत्मा की कोई पृथक् सत्ता नही है, मरण ही मुक्ति है। इसलिए व्यक्ति जब तक ससार मे है उसे सुख की प्राप्ति मे ही लगना चाहिए। धर्म एक ढोंग है और उसे पुरुषार्थ की सज्ञा देना निरी मूर्खता है, काम ही पुरुषार्थ है।"

चार्वाक-दर्शन का सबसे प्राचीन नाम 'लोकायत' है जो बुद्धि-जीवी है। इन लोकयातिको ने वैदिक मार्गावलम्बियो का शुष्क तर्कों से खण्डन किया और बुद्धि का गर्व रखकर शास्त्रो के प्रमाण को निरर्थक माना।

धीरे-धीरे लोकयातिको की सख्या बढ़ी और जो आगे चलकर बृहस्पति के शिष्य चार्वाक के नाम पर चार्वाक-दर्शन के रूप मे प्रख्यात हुआ। चार्वाक का एक अर्थ "खाओ, पिओ, मौज उडाओ" के रूप मे हुआ।

इस मत का कोई भी प्रामाणिक एव स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नही है। फिर भी बृहस्पति द्वारा रचित सूत्रो मे उसके सिद्धान्त प्रतिपादित होते है, जिनमे निम्नलिखित सूत्र चार्वाक-दर्शन का पूरा रूप प्रकट करते है।

(१) "चैतन्यविशिष्ट काय पुरुष" चैतन्ययुक्त स्थूल शरीर ही आत्मा है। श्रौत-दर्शन एव गीता-दर्शन मे शरीर और आत्मा को पृथक् सज्ञा दी गई है।

(२) "जलबुद्बुद्वज्जीवा" जल के ऊपर दिखने वाले बुलबुले जिस प्रकार स्वय ही उभर कर नष्ट हो जाते है, वैसे ही जीव हैं।

(३) "परलोकिनोऽभावात् परलोकाभाव" परलोक मे रहने वाला कोई नही है इसलिये परलोक ही नही है।

(४) "मरणमेवापवर्ग" मरण ही मोक्ष है।

(५) "धूर्तप्रलापस्त्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्": स्वर्ग का सुख धूर्तो का प्रलाप है।

(६) "अर्थकामौपुरुषार्थ" अर्थ और काम यह दोनो पुरुषार्थ हैं। वेद, वेदान्त और गीता-दर्शन के धर्म और मोक्ष को भ्रामक माना।

(७) "दडनीतिरेवविद्या" राजनीति ही एक मात्र विद्या है।

(८) "प्रत्यक्षमेवप्रमाणम्": प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है।

(९) "लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्य" साधारण लोगो के ही मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

उपर्युक्त सूत्रो मे हमे दर्शन का घोर भौतिकतावादी रूप दृष्टिगत होता है। आत्मा की खोज करने पर उन्हे आत्मा नही दिखती। आख से जो हम देखेंगे वही सत्य है। यही तो सबसे विश्वसनीय इन्द्रिय है। इसीलिये पृथ्वी, जल, वायु तथा तेज को ही इन दर्शनशास्त्रियो ने प्रमेय माना और इसी मे जगत का उद्भव माना है।

का सुख, दुःख, धन पर ही आश्रित है। जिसके पास संसार मे धन है, वही महान् है, वही स्वतन्त्र है और सभी कामो के करने की क्षमता रखता है। इसलिये आत्मा यदि है तो धन ही है।

आग लगने पर जलते हुये घर मे पुत्र को छोडकर पिता भाग खडा होता है। पुत्र से अधिक अपना शरीर प्रिय है। इसलिये चार्वाक ने माना है —

"चैतन्यविशिष्ट काय पुरुष" शरीर ही चैतन्य है, शरीर मे ही क्रिया होती है, शरीर के मरने पर न उनमे चेतन ही रह पाता है और न क्रिया।

इसलिये स्वर्ग और परलोक की कल्पना चार्वाक-दर्शन को भली न लगी और उन्होने शुष्क तर्कों से खण्डन कर अपने सिद्धान्तो की जड जमाई। प्रत्यक्ष प्रमाण सुख प्रदान कर सकता है, यही कारण था काल्पनिक स्वर्ग एव परलोक के लिये यज्ञ के अनुष्ठान पर जीव की हत्या पर चार्वाक-दर्शन के अनुयायियो ने यज्ञ, पूजा और होम पर व्यग्य कसे। यदि यजमान के द्वारा होम के समय वध कराया गया पशु स्वर्ग जाता है (ऐसा शास्त्र मे वर्णित है), तो यजमान अपने पिता का वध क्यो नही करता जिससे वह सीधे स्वर्ग की यात्रा कर सकते है।

श्राद्ध करने से कैसे फल की प्राप्ति हो सकती है? यदि श्राद्ध मरे हुये जीवो की क्षुधा का निवारण कर सकती है, तो बुझे हुये दीपक मे तेल डालने से दीपक क्यो नही जल उठता? यदि यहाँ पर दिया एव किया हुआ दान स्वर्ग तक मृत व्यक्ति के पास पहुच सकता है, तो मकान के पाचवे खड मे रहने वाले पुरुषों की क्षुधा के निवारण हेतु भोजन निचले खड मे क्यों नही रखा जाता है? ऐसा करने से उनकी क्षुधा निवारण क्यो नही होती? इसलिये व्यर्थ की काल्पनिक आकाक्षाओ, स्वर्ग और पारलौकिक सुख की झूठी मृगतृष्णा मे पडना निरी मूर्खता है और व्यक्ति इन झूठे पचडो मे पडकर सत्य जगत की वर्तमान सत्ता मे अपने लौकिक सुखो को तो खो ही देता है, साथ ही साथ यज्ञ, दान, पूजा, पाठ आदि धार्मिक आडम्बरो मे अपने आगे आने वाली सन्तानो के लिये दुःख का कारण बनेगा।

इस प्रकार वेद, वेदान्त और गीता के दार्शनिक अनुष्ठानो के बीच चार्वाक-दर्शन अपनी भौतिकतावादी मान्यताओ को लेकर आया और धीरे धीरे-अपने अनुयायियो की सख्या करोडो मे परिणत कर ली।

चार्वाक-दर्शन भौतिकतावादी और लौकिक होते हुये भी भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस दर्शन की हम उपेक्षा नही कर सकते क्योंकि इस दर्शन की कुछ मान्यताओ एव सिद्धान्तो ने भारत के आगे आने वाले दर्शनो को प्रभावित किया है। चार्वाक-दर्शन की बहुत सी मान्यताये जैन-दर्शन एव बौद्ध-दर्शन मे उतरी और तथाकथित धार्मिक आडम्बरों पर बराबर चोट करती गई।

इस प्रकार हम कह सकते है कि चार्वाक-दर्शन भी भारत के दार्शनिक इतिहास मे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

४. जैन-दर्शन

चार्वाक-दर्शन के पश्चात् जैन-दर्शन भी नास्तिक विचारधारा का एक दूसरा रूप लेकर आया। जैन-दर्शन के धार्मिक ग्रन्थो मे स्थल-स्थल पर चार्वाक के मत मतान्तरो की अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती दिखती है।

बौद्ध-धर्म से पहले जैन-धर्म और चिन्तनधारा, जैन-धर्म के अन्तिम तीर्थंकर स्वामी महावीर से विकसित होती है। इस धर्म का प्राचीन नाम 'निगण्ठ' था, जो सर्वत्र राग-द्वेष पर विजय पाने के लिये बनाया गया था। इस धर्म मे दीक्षित सामर्थ्यवान पुरुषो को 'अर्हत्' की सज्ञा दी गई। इसी कारण यह धर्म 'आर्हत्' कहलाया। महावीर स्वामी द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर, राग-द्वेष जैसे शत्रु को जीतकर ये जैन साधक जैन-धर्म मे 'जिन' की उपाधि मे विभूषित हुये।

चार्वाक सिद्धान्त मे आत्मा के रूप को भौतिक बताया गया, पर जैन-दर्शन ने आत्मा की पृथक् सत्ता मानी, यद्यपि भौतिकवादी वृत्तियो से वह अछूता न बचा।

जैन-धर्म मे चौबीस तीर्थंकर हुये हैं। जिनमे सबसे पहले ऋषभ देव थे। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने इस धर्म को सुसगठित कर लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने इसे जैन-धर्म की सज्ञा देकर नितान्त नवीन रूप मे परिवर्तित किया।

जैन-धर्म नास्तिक धर्म बना। उसने आत्मा की पृथक् सत्ता को स्वीकार किया और महावीर ने इस धर्म के दर्शन को जो विधिवत् और दृढ रूप दिया उसमे चित्त शुद्धि का मूल मत्र अपना कार्य करता रहा। आगे चलकर इसमे दो दल बन गये।

(१) दिगम्बर—इसमे मन से बुरे विचारो का परित्याग करने के लिए कठोर नियम पालन के हेतु वस्त्रो का परित्याग तक आवश्यक माना गया।

(२) श्वेताम्बर

इन दो दलो के बन जाने पर भी जैन-दर्शन की तात्विक चिन्तना शक्ति मे किंचित मात्र भी परिवर्तन नही आया।

चित्त शुद्धि के साथ सम्यक् चरित्र के सम्पादन करने का उपदेश महावीर स्वामी ने दिया और ज्ञान प्राप्ति के लिये इच्छुक परिव्राजक-सम्प्रदाय का भी सगठन किया। इसकी पूर्ति के लिये महावीर स्वामी ने पचव्रत रक्खे

(१) अहिंसा, (२) असत्य-त्याग, (३) अस्तेय-व्रत, (४) ब्रह्मचर्य-व्रत (५) अपरिग्रह

ये पचव्रत अभिमान एव अहम् की भावना से दूर वाचिक एव मानसिक चेष्टाओ पर विजय प्राप्त करने के लिये बने और मरण पर्यन्त तक इनके पालन और कठिन से कठिन कष्ट सहन के अनुरूप बनाने का प्रयास महावीर स्वामी ने किया।

---

१ आ० बलदेव उपाध्याय, भारतीय-दर्शन, पृष्ठ १३९।

मोक्ष जैन धर्म का चरम उद्देश्य है। यह उद्देश्य गुण स्थानो के अनुभव से प्राप्त ज्ञान का साक्षात्कार करने पर ही सम्भव है। ये गुण स्थान निम्नलिखित है[1]

(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरत सम्यक्त्व, (५) देशविरति, (६) प्रमत्त, (७) अप्रमत्त (८) अपूर्व करण (९) अनिवृत्ति करण, (१०) सूक्ष्म साम्पराय, (११) उपशान्त मोह, (१२) क्षीण मोह, (१३) सयोगि केवली, (१४) अयोगि केवली।

उपर्युक्त गुण स्थान की प्राप्ति से जीव सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् वाक् को प्राप्त कर श्रद्धा को अपनाकर मोक्ष के परम पद को प्राप्त कर लेता है।

जैन-दर्शन ने सात वस्तुओ से जगत के समस्त वस्तुओ का परिणाम माना है। ये तत्व निम्नलिखित है[2]

(१) जीवतत्व, (२) अजीवतत्व, (३) बन्धतत्व, (४) सवरतत्व (५) निर्जरातत्व, (६) आस्रावतत्व, (७) मोक्षतत्व।

आत्मा या चैतन्य वस्तु ही जीव है। जीव की सभी क्रियाये उसके अपने किये गये कर्मों के फलस्वरूप से ही होती है। वह अपने कर्म का फल स्वय ही भोगता है। अविद्या अज्ञान के कारण ही जीव बन्धन मे युक्त है। फिर भी प्रत्येक जीव मे ज्ञान दर्शन और सामर्थ्य है। यदि वह उनका समुचित विकास कर ले तो मोह-माया के बन्धनो से दूर रह सकता है। जीव कभी भी नाश को प्राप्त नही हो सकता। शरीर नष्ट होता है, जीव नही। जीव के इस रूप की कल्पना ही अनेकान्तवाद का प्रतीक बन बैठी है।

जैन-दर्शन ने व्रत के साथ साथ गुण स्थानो की प्राप्ति के लिये अथक साधन का मार्ग बताया है। इनकी प्राप्ति मे ही मानवता का सच्चा विकास सन्निहित है और मनुष्य सच्चे रूपो मे प्रयत्न कर अपने मे जिस आस्था को जन्म देगा वही उनका धर्म बनेगा और वह धर्म आत्मा के स्वरूप का सच्चा धर्म होगा, जिसमे

(१) मृदुता, (२) ब्रह्मचर्य, (३) क्षमा, (४) सरलता, (५) शौच, (६) सत्य, (७) सयम, (८) त्याग, (९) तप, (१०) औदासीन्य ही प्रकट होगे, जिससे आत्मा मुक्ति को प्राप्त कर लेगी।

तथा बिना अनुप्रेक्षाओ के, बिना भावनाओ से युक्त हुये बिना सभव नही। इसी कारण जैन-दर्शन बारह अनुप्रेक्षाओ का सृजन अपने मे करता है।

(१) धर्मानुप्रेक्षा—धर्म मार्ग से कभी न हटना।

---

१ डा० उमेश मिश्र, भारतीय-दर्शन, पृष्ठ १००।

२ विशेष विवरण के लिये देखिये

डा० उमेश मिश्र, भारतीय-दर्शन, पृष्ठ १०८, १२०।

(२) बोधिदुर्लभत्व—सम्यक् ज्ञान, सम्यग् चरित्र को दुर्लभ समझने की क्रिया।

(३) लोक—जीव, आत्मा, शरीर जगत की वस्तुओ की क्रियायें।

(४) निर्जरा—जीव मे प्रविष्ट गलत कर्मो को निकालने की भावना।

(५) सवर—कर्म के प्रवेश के निरोध की भावना।

(६) आस्रव—कर्म के प्रवेश की भावना।

(७) अनित्य—धर्म को छोडकर सभी वस्तुओ को अनित्य मानना।

(८) अशरण—सत्य को छोडकर दूसरे की शरण नही।

(९) ससार—जीवन मरण की भावना।

(१०) एकत्व—जीव अपने कर्मो का एक मात्र भागी है।

(११) अन्यत्व—आत्मा को शरीर से भिन्न मानना।

(१२) अशुचि—शरीर एव शारीरिक वस्तुओ को अपवित्र मानना।

मुक्ति मार्ग से च्युत न होने के सम्बन्ध मे जैन-दर्शन मे कठोर नियम है। कर्मो के नाश के लिये सारे कष्ट सहन करने ही पडेंगे। राग-द्वेप जीव को बन्धन मे फासने वाले होते है। सवर तथा निर्जरा द्वारा 'आसव' का नाश होता है। जीव की आत्मा सर्वज्ञ होकर प्रेम-दया, सहानुभूति को अपना लेती है और सर्वदृष्टा होकर जीव मुक्ति का अनुभव करता है। वही अनुभव भाव मोक्ष कहलाता है, जो जीवन मुक्ति के समकक्ष आ जाता है।

जैन-दर्शन प्रत्यक्ष एव परोक्ष प्रमाण पर विश्वास करता है। पारमार्थिक एव व्यावहारिक दो भेदो मे प्रत्यक्ष ज्ञान आ जाता है। कुछ काल के पश्चात् जैन दार्शनिको ने श्रुत और मति को भी प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत माना। मति ज्ञान चार प्रकारो मे विभाजित किया गया।

(१) अवग्रह—इन्द्रिय और अर्थ द्वारा ज्ञान।

(२) ईहा—प्रत्यक्ष ज्ञान।

(३) अवाय—दृश्य वस्तु का निश्चय रूप से ज्ञान।

(४) धारणा—पूर्ण ज्ञान।

परोक्ष ज्ञान मे हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान माना गया। स्वार्थ तथा परार्थ की दृष्टि से अनुमान दो प्रकार के है

(१) स्वार्थानुमान —मन को समझाने के लिये अनुमान जैसे जहा धुआ होगा वहा आग होगी।

(२) परार्थानुमान —इसमे पाच अवयव माने गये हैं।

(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) दृष्टान्त, (४) उपनय, (५) निगमन।

जैसे (१) अमुक पर्वत शिखर पर आग है, (२) क्योंकि उस शिखर पर धुआ है, (३) जहां धुआ है वहां आग है। जैसे रसोई मे, (४) धुआ विना आग के नही रहता, (५) इसलिये पर्वत शिखर पर आग है।

जैन-दर्शन मे कर्मवाद का सिद्धान्त बडी गहराई मे जड पकडे है। कर्म के ही कारण जीव बार-बार जन्म लेता है। विना कर्मों को भोगे उसे छुटकारा नही मिलता है। कर्म ही बन्धन की जड है। क्रोध, मोह, लोभ, गर्व, सब कर्म के ही कारण होते है।

कर्मवाद की व्याख्या के साथ-साथ जैन-दर्शन मे हमे अनेकान्तवाद भी मिलता है। प्रत्येक सत् पदार्थ का अपनापन होता है, जो कभी भी नष्ट नहीं होता। जैसे मिट्टी से घट बनता है और फूटकर फिर मिट्टी मे मिल जाता है। इसी प्रकार स्वरूप परिवर्तन सम्भव है पर तद्भाव कभी भी नही नष्ट होता है।

परिणाम नित्यावाद मे 'सत्' को ही सब कुछ माना है। प्रत्येक अस्तित्व मे सत् का अस्तित्व रहता है। इसी कारण सत, नित्य, अनित्य, चेतन, अचेतन किसी एक रूप में नही आ सकता। एक वस्तु का स्वरूप जानने के लिये उस विशेष वस्तु के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, संसार की सभी वस्तुओं का स्वरूप जानना ही पडेगा।

इस प्रकार जैन-दर्शन की मूल प्रेरिका शक्ति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इस दर्शन की भूमि भी आचार-विचार मीमासा के आधार पर ही रखी गई। शरीर एव अन्त करण शुद्धि के सूत्रो को लेकर आत्मा के अवयवी रूप की भी कल्पना की गई है। शरीर के टुकडे करने से आत्मा के टुकडे हो जाते है। आत्मा के टुकडो को शरीर से पृथक् भी किया जा सकता है। इसी प्रकार का भी विचार जैन मीमासाकारो ने किया है।

आचार और तपश्चर्या की बहुत ही कठोर साधना, जैन धर्माचार्यों ने रखी। जिसके फलस्वरूप जैन-धर्म मे परिव्राजक की संख्या कम होती गई। इसी कारण जैन-धर्म अपने अनुयायियो की संख्या भी न बढा सका। जो भी हो, इस धर्म मे जो आये वे गृहस्थ ही बन कर रह गये। जिसके कारण यह धर्म एव दर्शन भारत मे विशेष रूप से फैल न सका।

ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास न करने के कारण आदर्श रूप मे यह दर्शन अपना ध्येय-बिन्दु स्थापित न कर सका। इसके फलस्वरूप भी इसकी दर्शन-मीमासा अधिक पनप न सकी।

फिर भी आचार-विचार शुद्ध अतकरण और आत्मा की मुक्ति पर प्रकट किये हुये इनके विचार प्रशसनीय रहे है।

एको भाव सर्वथा येन दृष्ट सर्वभाव सर्वथा तेन दृष्टा ।
सर्वभाव सर्वथा येन दृष्ट्वा एको भा सर्वथा तेन दृष्ट ॥

जिसने एक वस्तु का सर्वथा ज्ञान प्राप्त कर लिया। उसने समस्त वस्तुओ का

ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा समस्त वस्तुओं के सर्वथा अनुभव करने वाले ने एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसमे अनेकान्तवाद की पुष्टि की है।

विद्वानो ने जैन-दर्शन की चाहे कितनी ही कटु आलोचना क्यो न की हो, परन्तु इतना तो सभी मानते है कि जैन-दर्शन ने मनुष्य की मानवता को यथार्थ रूप मे जागृत कराने की चेष्टा की है। इसके साथ ही मानवता के आदर्शों मे कभी भी विमुख न रहते हुये स्वावलम्बन, प्रेम, दया, ममता और क्षमा की ही शिक्षा दी, जिसका चरम लक्ष्य मोक्ष की कामना मे ही निहित है।

जैन-धर्म एव दर्शन के उदय होने के तुरन्त ही बाद बौद्ध-दर्शन की दृढ विचार-शक्ति अपने साथ अगणित विश्वासो को लेकर सन्देहो के विरुद्ध युद्ध करने के लिये उठ खडी हुई जिसका इतिहास और दर्शन आगे चलकर विश्व इतिहास और सास्कृतिक विश्वासो का अधिष्ठाता बन बैठा। आज से ५६३ ईसा के पूर्व वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को लुम्बनी ग्राम मे गौतम बुद्ध का जन्म हुआ, जो आगे चलकर महापुरुष बने और आज भी विश्व के सब से बडे शान्तिपूर्ण एव शान्ति नायक के रूप मे पूजित है।

एक राजकुल मे जन्म लेकर पूनम सी सुन्दर प्रियतमा के रूप मे यशोधरा और राजकुवर राहुल को पाकर भी, दुख, रोग, मृत्यु, वृद्धावस्था के विभिन्न भयावने रूपो को देखकर, बुद्ध उनकी शाश्वत समस्या के समाधान मे रत हो गये।

दु ख क्या हे ? मृत्यु क्यो होती है ? पीडा और आत्मा की हार क्या ? आदि प्रश्नो ने उन्हे कपिलवस्तु का राजा बनाने के स्थान पर शान्ति के राजा के रूप मे प्रतिस्थापित किया।

दु ख मे पीडा है, घर छोडो। यज्ञो मे हिंसा है, यज्ञ छोडो। कठोर तपस्या मे सार नही, इस कारण कठोर तपस्या छोडो और अन्त करण की शुद्धि के साथ वास्तविक बोध चिन्तन समस्याओ का हल दे सकता है, इस प्रकार की विचारधारा का उपदेश बुद्ध ने दिया।

तत्व-ज्ञान की प्राप्ति मे जीवन के अन्तिम ध्येय की पहुच तक के लिये शरीर छोडना उचित नही। वरन् ससार के कल्याण के लिये शरीर की रक्षा करते हुये प्रारब्ध कर्मों के भोग के आधार पर स्वय ज्ञान की प्राप्ति करते रहना चाहिए और निरन्तर दु खो पर विजय पाने का प्रयत्न भी करना चाहिये। यही सक्षेप मे बुद्ध की कथा है।

महात्मा बुद्ध ने विश्वास किया कि

(१) **सर्वं दु खम**—ससार मे दुख ही दुख है।
(२) **दु खसमुदाय**—दुख से पीडित होकर दुख नाश के उपाय सोचना।
(३) **दु खनिरोध**—विश्वास है कि दु ख का नाश होता है।
(४) **दु खनिरोधगामिनी प्रतिपद**—दुख नाश के लिए उपाय भी है।

ये चार सत्य है अवश्य और यह सत्य न होकर 'आय सत्य' हैं।

बुद्ध आत्मा का साक्षात्कार कर चुके थे और तत्वज्ञानी बन चुके थे। फिर भी सारनाथ और देश-देशान्तर में दिये गये उपदेशों में आत्मा के सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कहा और व्यावहारिकता में ही उचित कल्याण की भावना लेकर उन्होंने कहा कि "अंतःकरण की शुद्धि करें, आत्मा तो स्वयं परिचित हो जायेगी"

सर्वत्र दुःख ही है। इसका क्या कारण है? इस प्रश्न के उत्तर में गौतम के मन ने एक शब्द का उत्तर भेजा, वह है अविद्या। उस अविद्या का विनाश ही उनके दर्शन-शास्त्र के मनन का द्योतक बना।

(१) अविद्या संस्कार को जन्म देती है।
(२) संस्कार से विज्ञान जन्म लेता है।
(३) विज्ञान से नाम रूप।
(४) नामरूप से षडायतन, (मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ)
(५) षडायतन से स्पर्श।
(६) स्पर्श से वेदना।
(७) वेदना से तृष्णा।
(८) तृष्णा से उपादान (राग)।
(९) उपादान से भाव।
(१०) भाव से जाति।
(११) जाति से जरा।
(१२) और जरा से मरण।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल कारण अविद्या ही है। इसी कारण बुद्ध ने उपदेश दिये, जब तक व्यक्ति इस संसार के भव-चक्र से नहीं निकलता, मुक्ति नहीं प्राप्त करता, तब तक दुःख की सत्ता है। इस दुःख को जीतना है। दुःख नित्य नहीं है और कुछ भी नित्य नहीं है, इस दुःख को अष्टम-मार्ग से जीता जा सकता है।

अष्टम-मार्ग निम्नलिखित है।

(१) सम्यक् दृष्टि—आर्य सत्यों का ज्ञान।
(२) सम्यक् संकल्प—राग, द्वेष, हिंसा तथा संसारी विषयों का परित्याग के लिये दृढ़ निश्चय।
(३) सम्यक् वाच—मिथ्या अनुचित तथा दुर्वचनों का परित्याग एवं सत्य वचन की रक्षा।
(४) सम्यक् कर्मान्त—बुरे कर्मों को त्याग कर अच्छे कर्म करना।
(५) सम्यक् आजीव—न्यायपूर्ण जीविका चलाना।
(६) सम्यक् व्यायाम—बुराइयों का नाश करना और अच्छे कर्म करना।
(७) सम्यक् स्मृति—लोभादि को रोक कर चित्त शुद्धि करना।
(८) सम्यक् समाधि—चित्त की एकाग्रता।

इस अष्ट मार्ग पर चलने से ही अविद्या का नाश होगा और साधक अपने लक्ष्य तक पहुच सकेगा। 'श्रावक' 'प्रत्येक बुद्ध' तथा 'बोधिसत्व' को क्रमश प्राप्त करने के लिये ज्ञानानुरागियो का समुदाय बौद्ध-धर्म मे दीक्षा लेने के लिये तत्पर हो उठा।

अविद्या का नाश और बुद्धत्व की प्राप्ति के हेतु निम्नलिखित सिद्धान्तो का समावेश हुआ

(१) अहिंसा।
(२) अपरिग्रह।
(३) ब्रह्मचर्य।
(४) सत्य।
(५) धर्म मे श्रद्धा।
(६) मध्यान्होत्तर भोजन का निषेध।
(७) विलास से विरक्ति।
(८) सुगन्धित वस्तुओ का बहिष्कार।
(९) सुखप्रद शैया का परित्याग।
(१०) सुवर्ण एव धन का परित्याग।

इनका पालन करने मे अविद्या का नाश हो जायेगा। ससार क्षणिक है, सब कुछ नष्ट हो जायेगा। इस कारण अपनी मुक्ति के लिये स्वय ही उद्योग करना पडेगा।

'हन्द दानि भिक्खवे आमन्तयामि
वो वयधम्मा सखारा अप्पमादेन सपादेथा'

पाली भाषा मे बौद्ध-दर्शन 'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' एव 'अभिधम्म पिटक' मे सुरक्षित हैं।

आगे चल कर बौद्ध-दर्शन के दो दल हो गये—हीनयान और महायान। हीनयान की फिर दो शाखायें हुई—'वैभाषिक' और 'सौत्रान्तिक'।

बौद्ध धर्म एव दर्शन के लोकप्रिय होने का सबसे बडा कारण है कि उसके धार्मिक रूप मे आचार-मार्ग का एव दार्शनिक-रूपो मे वैज्ञानिक शुद्धता का ही बाहुल्य रहा है। 'अष्टागिक मार्ग' पर बौद्ध-दर्शन की बडी आस्था थी। शील, समाधि और प्रज्ञा को त्रिसाधनो के रूप मे बौद्ध-शास्त्रियो ने त्रिरत्नो को जन्म दिया।

शील, सात्विक कर्मों का समुच्चय था। अहिंसा, अस्तेय, सत्य-भाषण, ब्रह्मचर्य, मादक द्रव्यो का त्याग ये पचशील के नाम से प्रख्यात हुये।

प्रज्ञा को भी श्रुतमयी, चिन्तामयी एव भावनामयी रूप दिया गया, जिससे अविद्या का नाश हो।

महायान एव हीनयान के साथ-साथ दो वाद भी बौद्ध-दर्शन मे आये। ये थे

(१) **स्थाविरवाद**—जो बौद्ध-धर्म के प्राचीन सिद्धान्तो मे त्रिल्कुल भी परिवर्तन नही करना चाहते थे।

(२) महासाधिक—जो सशोधनवादी थे ।

जिसने आगे चलकर बारह बौद्ध सम्प्रदायो को जन्म दिया । जिसमे मुख्य है

(१) महासाधिक—जो लोकोत्तर बुद्ध के सिद्धान्तो को मानते थे । वह बुद्ध को अवतार रूप मे पूजते थे ।

(२) सर्वास्तिवाद—जगत के भूतात्मक तथा चित्तात्मक प्रत्येक पदार्थ को त्रिकाल सत्य मानते थे ।

(३) सम्मतियो—विशिष्ट पुद्‌गल पदार्थ को सत्ता मानते थे ।

(४) वैपुल्यवाद—मे क्रान्तिकारी परिवर्तन आया जिसमे भविष्य लोको मे साहचर्य हेतु दूसरे से सम्बन्ध रखना भी ठीक माना ।

ग्रहण और अध्यवसाय से बौद्ध-दर्शन ने अपने ज्ञान का भण्डार भरा । विज्ञानवाद मे क्लेश पर विजय और ज्ञान की प्राप्ति से ही मोक्ष सम्भव माना । परमतत्व के अनिर्वचनीय होने के कारण शून्यवाद ने जन्म लिया, जो परमार्थ सेवा को लेकर आगे बढा ।

बौद्ध-दर्शन की मूल भावनाये उपनिषदो मे भी यदाकदा दृष्टिगत होती है । अविद्या, तृष्णा, राग, द्वेष के बन्धनो से मुक्त होना कर्म सिद्धान्त की व्यापकता उपनिषदो मे दृष्टिगत होती है । बौद्ध-दर्शन ने उन मान्यताओ को अपने ही रूपो मे प्रतिभासित करने का यत्न किया ।

बौद्ध-दर्शन ने व्यापक रूप से विश्व की सामाजिक-चेतना एव धार्मिक-विचारो पर प्रभाव डाला । चीन, बर्मा, जापान, सीलोन, जावा, सुमात्रा और तिब्बत राज्यो में भी यह धर्म फैला । भारतीय शासको ने विशेषत अशोक ने कलिंग युद्ध की भयावह विभीषिका देखकर बौद्ध-धर्म मे दीक्षित हो गये और भिक्षुओ ने तन, मन, धन से इस लोक कल्याणकारी दर्शन के ज्ञान प्रसार हेतु देश-देशान्तर ज्ञान-ज्योति की प्रदीपिका लेकर गये और इस नई दार्शनिक आस्था से नये धर्म एव नये युग का सूत्रपात्र हुआ ।

बौद्ध-दर्शन दु ख पीडा अवसाद क्लेश अशान्ति पर विजय प्राप्त करने के लिये आया । यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानो को उसने अश्रद्धा की दृष्टि से देखा । सरल एव सीधे मार्ग द्वारा सासारिक बन्धनो से मुक्त कराने का बीडा इसने उठाया । अपने दार्शनिक सिद्धान्तो मे आडम्बर को किंचित मात्र भी स्थान न दिया ।

'धम्मपद त्रिपिटिका' बौद्ध-दर्शन की एक प्रभावशाली पुस्तक है । इसकी

---

1. Dr. Cassius A Pereira says—

"It is the bset single book in all the wide world of Literature."

रचना पाली भाषा मे हुई है। इसके श्लोक दुःख पर विजय प्राप्त कराने मे समर्थ है।[1]

'धम्मपद' शाश्वत समस्याओ का सुरुचिपूर्ण हल है। बौद्ध-दर्शन सासारिको के लिये शान्ति, स्नेह, प्रेम, सद्भावना, अहिंसा को लेकर चलता हुआ वरदान रूप है। जो आज लाखो-करोडो भूले-भटके व्यक्तियो का सही मार्ग का प्रदर्शन करता हुआ विश्व के प्रमुख धर्म के रूप मे प्रतिस्थापित है।

बौद्ध-दर्शन ने भारत को बहुत कुछ दिया। आज भी भारत बौद्ध-सिद्धान्तो का जो पूर्ण रूप से भारतीय है, अनुयायी है। आज भी पचशील से विश्व प्रभावित है। विश्व का प्रत्येक राष्ट्र प्रत्येक चिन्तनशील प्राणी बौद्धिक-सिद्धान्तो मे आस्था रखता है या रखना चाहता है।

इसी कारण आज भी बौद्ध-दर्शन की चिन्तना शक्ति अपना विशिष्ट महत्व रखती हैं और विश्व का प्रत्येक बुद्धशील प्राणी श्रद्धा से नत होकर उसकी पूजा करता है और उन सिद्धान्तो पर चलने का सकल्प कर लेता है, जिनको हजारो वर्ष पहले बुद्ध ने भारत को दिया जो आगे चलकर विश्व का जीवन-दर्शन बन बैठा।

बौद्ध-दर्शन आस्तिक-दर्शन नही था। बौद्ध-दर्शन शास्त्री भारत भूमि मे आस्तिक सिद्धान्तो के विरुद्ध अपने मत का प्रतिपादन करते फिरते थे श्रौत दर्शन, गीता, दर्शन, आस्तिक धर्म के प्रतीक थे। चार्वाक, जैन और बुद्ध दर्शनो ने भारत भूमि मे आस्तिक सिद्धान्तो का बहिष्कार कर उसे जड से उखाड फेकन का प्रयत्न किया। गीता-दर्शन के पश्चात् भारत के दार्शनिक इतिहास मे चार्वाक, जैन, बौद्ध, दर्शनो ने एक विप्लवकारी परिवर्तन किया, पर वह अधिक दिनो तक चल न सका।

पुन आस्तिक-दर्शन की भूमि गौतम के न्याय-दर्शन मे प्रकट हुई। गौतम ने तर्कपूर्ण ढग से एक तर्क-शास्त्र की रचना की और नास्तिक विचारधारा का तर्क-पूर्ण खण्डन किया इसमे

(१) वाद।
(२) जल्प।
(३) वितडा।
(४) हेत्वाभास।

---

1 "Mind is the sore—runner of all evil conditions Mind is chief and they are mind made, If with an impure mind, one acts then pain follows ond over as the wheel, the hoof of the ox."

"One should give up anger"

The Dhammapad–Mahabudhist Society–Page 7-8

(५) छल।

(६) जाति।

(७) निग्रह स्थान।

आदि पर विवेचनात्मक ढंग से विचार किया गया और न्याय-दर्शन ने भी अपना अंतिम ध्येय, मोक्ष प्राप्ति और दुःख के निवारण को ही रक्खा पर यह दर्शन बौद्ध-सिद्धान्तो और नास्तिक विचारधाराओ का खण्डन करता रहा।

ईसा से पूर्व छठी शताब्दी मे मिथिला मे न्याय-शास्त्र के प्रणेता गौतम का जन्म हुआ। उन्होने आगे चलकर अपने न्याय-सूत्र मे कहा, जब तक

(१) संशय, (२) प्रयोजन, (३) दृष्टांत, (४) सिद्धान्त, (५) अवयव, (६) तर्क, (७) निर्णय, (८) छल, (९) वाद, (१०) जल्प, (११) वितंडा, (१२) हेत्वाभास, (१३) जाति, (१४) निग्रह स्थान, (१५) प्रमाण (१६) प्रमेय,

का विशेष रूप से ज्ञान नही हो जाता तब तक प्रमेय ज्ञान सम्भव नही है। इन ज्ञानो के प्राप्त करने से ही तत्व-ज्ञान प्राप्त होता है, जो मोक्ष के द्वार को खोल देता है।

मन, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप का ज्ञान कराती है, उसे ही प्रमाण कहते है। प्रमेयो का वास्तविक ज्ञान कराने के लिये न्याय-दर्शन ने

(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, और, (४) शब्द,

को प्रमाण माना है। और इन प्रमाणो ने न्याय-शास्त्रियो के सम्मुख निम्नलिखित प्रमेय उपस्थित किये।

(१) आत्मा, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय, (४) अर्थ, (५) बुद्धि, (६) मनस्, (७) प्रवृत्ति, (८) दोष, (९) प्रेत्यभाव, (१०) फल, (११) दुःख, (१२) अपवर्ग,

ज्ञान के अधिकरण को न्यायशास्त्रियो ने आत्मा माना। दृष्टा, भोक्ता, सर्वज्ञ नित्य, सर्वव्यापक आत्मा ही महान् है। भले बुरे संस्कार आत्मा मे रहते है। मृत्यु के पश्चात् ये संस्कार भी स्थूल शरीर को छोडकर दूसरे मे चले जाते हैं और उनके प्रभाव मे जीवात्मा कर्मो का भोग करती है।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये शब्द अर्थ है और तेज, जल, पृथ्वी, वायु, आकाश के ये अर्थ विशेष गुण हैं। बुद्धि उपलब्धि और ज्ञान को बुद्धि के पर्यायवाची रूपो मे लिया है।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का अनुभव करने वाली इन्द्रिया है। ज्ञानेन्द्रियो के दो भाग हैं (१) कर्मेन्द्रिय (२) अन्तरिन्द्रिय (मन)।

मनस् अन्तरिन्द्रिय है, जो सुख-दुःख एवं इच्छा का अनुभव करता है। मन नित्य है।

कायिक, वाचिक और मानसिक भावो से प्रवृत्तियो का जन्म होता है, जो प्रवृत्ति का कारण है वही दोष है जैसे राग, द्वेष, मोह आदि ।

मृत्यु के पश्चात् दूसरे शरीर मे आत्मा की स्थिति प्रत्येभाव है, और सुख-दु ख ही फल है । इसी फल से ही पीडा, ताप, क्लेश आदि का जन्म होता है । न्यायशास्त्री सुख के अन्तर्गत ही दु ख की कल्पना करते है ।

शरीर, मन छ इन्द्रिय, छ रूप-रस, रूप ज्ञान, रस ज्ञान आदि छ ज्ञान सुख दु ख आदि उत्पन्न इक्कीस दु खो मे उत्पन्न पीडित मानव जब अपनी साधना से विजय प्राप्त कर लेता है, तो वह मोक्ष का भागी होता है ।

उचित गुरु और 'अष्टाग-योग का अभ्यास', 'ध्यान', 'समाधि' से ही मोक्ष सम्भव है । व्यक्ति ज्ञान स्मरण करके व अनुभव करके प्राप्त कर सकता है । ज्ञान प्राप्त करते समय मन तथा आत्मा का सयोग भी आवश्यक है ।

न्याय-शास्त्रियो ने कार्य और कारण मे भी भेद माना है । तत्व को समझने के लिये उसके कारण को भी समझना है । सृष्टि और उसका विनाश परमात्मा की इच्छा से ही होता है । यह बात अनुमान से प्रमाणित हो सकती है । जगत एक कार्य है, इसके लिये कर्त्ता की भी आवश्यकता है, वही कर्त्ता ईश्वर है, जगत का आधार ईश्वर ही है, नही तो यह स्थिर ही न रह सके ।

वेदो की रचना ईश्वर ने की है, ईश्वर मे सबकी श्रद्धा है । इसीलिये न्याय-शास्त्रियो के दृष्टिकोण से ईश्वर का अस्तित्व है ।

मन को भी न्याय-शास्त्रियो ने जीव से अलग नही माना है । अविद्या के कारण एक मन एक जीव को लेकर अनन्त शरीरो मे घूमता है । मुक्ति मे भी मन आत्मा के साथ रहता है । जीवात्मा और परमात्मा की भी पृथक् सत्ता है । जीवात्मा कर्मो के अनुसार विभिन्न शरीरो मे घूमा करती है और ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष का मार्ग बनाती है ।

वात्स्यायन ने इसी कारण अपने मत की पुष्टि के लिये न्याय को समस्त विद्याओं की ज्योति कहा है

"प्रदीप सर्वविद्यानामुपाय सर्व कर्मणाम् ।
आश्रय सर्वधर्माणा विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥"[1]

इस प्रकार न्याय-दर्शन पुन आस्तिक-धर्म के प्रचार का प्रतीक बन बैठा और उसने बौद्ध-दर्शन की आत्मा के प्रति मौनता और चार्वाक एव जैन-धर्मों की नास्तिकता को बदल कर पुन ईश्वरवादी धार्मिक वातावरण की भूमि भारत पर उतार लाया ।

न्याय-दर्शन के समकक्ष ही कणाद का वैशेषिक-दर्शन भी आता है । न्याय एव वैशेषिक-दर्शनो मे कई स्थलो पर समानता है । कुछ ही सिद्धान्तो मे उनमे आपस मे

---

१. न्या० भा० १।१।१

विभिन्नता है। न्याय दर्शन के आधार पर ही वैशेषिक-दर्शन की नीव शिला रक्खी गई और जीव जगत एव ब्रह्म के सम्बन्ध मे वैशेषिको ने सूक्ष्म एव तीव्र दृष्टि से विचार किया।

परमतत्व को जानने की इच्छा शक्ति ने ही प्रत्येक दर्शन शास्त्री के मन मे अनेक सकल्पो एव विकल्पो को लाकर एकत्र किया। दर्शन-शास्त्र के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की अभिलाषा ने ज्ञान के सम्मुख कुछ प्रमाण रखे। क्योकि प्रमाण के बिना ज्ञान का कोई भी मूल्य नही है। प्रमाण-प्रमेयो के साधन रूप मे आये और वैशेषिक दर्शन ने प्रमेय के विचारो को प्रधानता दी।

बौद्ध एव जैन-दर्शन मे इसके पदार्थो एव दर्शन भूमि के चिन्ह दृष्टिगत होते हैं। इस दर्शन की पृष्ठभूमि छठी शदी पूर्व की है, और उसकी विस्तार रेखा सत्रहवी शताब्दी तक न्याय-वैशेषिक दर्शन के रूप मे चलती आई।

वैशेषिक-दर्शन का नामकरण 'विशेष' पदार्थ को स्वीकार करने के कारण ही पड़ा जो विशेष पदार्थ अन्य दर्शनो की व्याख्याओ मे नही आ सका। वैशेषिक-दर्शन के लिये एक स्थान पर कहा गया है

'द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्त वै वैशेषिक विन्दु ॥"

न्यायदर्शन प्रमाण पर 'प्रधान' रूप मे विचार करता है, वैशेषिक ने प्रमेय की मूलभूत सत्ता को स्वीकार किया और जगत की सभी वस्तुओ को सात भागो मे बॉटा।

(१) द्रव्य—के अन्तगत पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन आते हैं। पृथ्वी, जल, तेजस और वायु को वैशेषिको ने नित्य और अनित्य मे विभाजित किया। नित्य रूप को परमाणु और अनित्य रूप को कार्य माना। पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, ये पॉच भूत भी कहलाये। आकाश, काल, दिक तथा आत्मा यह चार विभु द्रव्य है। मनस् नित्य है। काल नित्य और व्यापक है। दिक् को नित्य और व्यापक माना।

(२) गुण—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिणाम, पृथकत्व, सयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, शब्द ज्ञान, सुख-दुख, इच्छा द्वेष, अधर्म, सस्कार को वैशेषिको ने गुण रूप मे मान्यता प्रदान की है।

(३) कर्म—क्रिया को कर्म की सज्ञा दी जो द्रव्य के अन्तर्गत रही।

(४) सामान्य—अनेक वस्तुओ मे जो एक सी बुद्धि होती है, वह सामान्य का माध्यम बनी। उसके कारण को ही सामान्य कहते हैं।

(५) विशेष—नित्य द्रव्य के अन्तिम विभाग मे रहने वाले द्रव्यो को विशेष कहते हैं।

(६) समवाय—एक प्रकार का सम्बन्ध है, जो गुण और गुणी अवयव और अवयवी, व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य के बीच रहता है। यह एक और नित्य है।

(७) अभाव—किसी वस्तु का न होना ही अभाव कहा जाता है।

ये सभी पदार्थ प्रमेयो के अन्तर्गत है और प्रमेयों को प्रधानता देने के कारण उनका वास्तविक ज्ञान ही मुक्ति का मार्ग वनता है।

पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, द्रव्य कार्य रूप मे अपना अस्तित्व रखते है। जब सभी कार्य द्रव्यो का नाश हो जाता है, तभी प्रलय की स्थिति आ जाती है। इस अवस्था मे प्रत्येक आत्मा अपने मनस के साथ पूर्व जन्मो के सस्कारो को अपने मे सजोये रहती है। शरीर के न होने से आत्मा कार्य करने मे असमर्थ रहती है। इसलिये परमात्मा के मन मे सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा जाग्रत होती है।

अपने पूर्व-जन्मो के कर्म के आधार पर जीव ससार मे प्रवेश करता है। एक विशेष प्रकार के कर्मों का भोग करने के लिये एक विशेष जीव उत्पन्न होता है। इस प्रकार के कर्मों के भोग मे उसका शरीर योनि, काल, देश सभी होते हैं। जब वह जीव विशेष अपने निर्धारित कर्मो का भोग कर लेता है, तभी उसकी मृत्यु हो जाती है।

वैशेषिको का मत है कि कार्य के नाश के लिये कारण का नाश भी अवश्यम्भावी है। दो परमाणुओ के सयोग का नाश होता है और सृष्टिकर्ता क्रम से सृष्टि को समाप्त कर प्रलय को उपस्थित करता है। वैशेषिको ने भी ज्ञान का विचार

(१) बुद्धि।
(२) उपलब्धि।
(३) ज्ञान, और
(४) प्रत्यय।

के अन्तर्गत किया है। बुद्धि को दो भागो मे विभाजित किया है, विद्या और अविद्या। अविद्या के अन्तर्गत

(१) सशय।
(२) विपर्यय।
(३) अनध्यवसाय, और
(४) स्वप्न।

को मानते हुये इस वात पर विशेष बल दिया है कि अविद्या के नाश के बिना कुछ भी सम्भव नही। अनिश्चयात्मक ज्ञान, दु ख का ही जन्मदाता है, इसलिये प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, आर्ष ज्ञान के माध्यम से ही सत्य खोजने का मार्ग वैशेषिको को श्रेयस्कर लगा।

कर्म और शुद्ध चिन्तन ही वैशेषिकों का मूल मन्त्र रहा है। उचित कर्म ही उचित फल को दिला सकने मे समर्थ हो सकते है।

आत्मा नित्य है वह अपने अन्तर्गत बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि गुणो को धारण किये हुये, शरीर और इन्द्रिय से पृथक् सत्ता के रूप मे विद्यमान है। मन भी आत्मा से पृथक् है, आत्मा इद्रिय के सहारे ही अनुभव करती है। अन्तरिन्द्रिय के रूप मे मन आत्मा को विभिन्न प्रकार के अनुभव कराता है।

वैशेषिको ने ज्ञान-मीमासा के स्रोत को खोल कर, निष्काम कर्म सम्पादन को ही कर्तव्य मीमासा मे फलित किया है। मुक्तितत्व ज्ञान-मोक्ष के फल तो उसी समय दिलाता है जब आत्मा यथार्थ रूप से नि श्रेयस को प्राप्त करने की क्षमता अपने मे भर लेती है।

इस प्रकार महर्षि कणाद का वैशेषिक-दर्शन भारत भूमि पर विशेष पदार्थ के तत्व निरूपण पर विचार करता हुआ आया, जिसमे न्याय दर्शन के अनेक स्थलो पर समानता रखते हुये भी अपनी स्वतत्र सत्ता स्थापित करने मे सफल हो सका।

दूसरी ओर पुरुष एव प्रकृति के पारस्परिक भेदो-विभेदो को न जानने के कारण ही दु खमय जगत का रूप आता है, ऐसा साख्य-दर्शन के आचार्यों ने माना है। जब मनुष्य परमात्मा के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान कर लेता है उसी समय दु ख की मूल सत्ता तिरोहित हो जाती है। विवेक-ज्ञान कारण है, जो मोक्ष को दिलाती है और दु ख से छुटकारा कार्य है।

सांख्य-दर्शन

साख्य-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त श्वेताश्वर उपनिषद् मे मिलते है। जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर उत्पन्न होने वाले तन्तुओ से जाल बनाता है उसी प्रकार ईश्वर अपने प्रकृतिजन्य गुणो के द्वारा अपने को प्रकट करता। प्रकृति ईश्वर की माया शक्ति है। उसका मूल अधिपति ईश्वर मायावी है। उसके मूल सिद्धान्त उपनिषद् मे दृष्टिगत होते है।

साख्य-दर्शन के रचयिता 'कपिल मुनि' ने उपनिषदो के साकेतिक सिद्धान्तो का अध्ययन कर 'तत्व समास' तथा 'साख्य सूत्र' की रचना कर साख्य-दर्शन की अलग सत्ता स्थापित की।

साख्य-दर्शन का विश्वास है कि यदि पुरुष चाहे भी वह किसी कोटि का हो २५ तत्वो का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह निश्चय ही मोक्ष का अधिकारी है।

इन पच्चीस तत्वो को साख्य शास्त्रियो ने चार भागो मे विभाजित किया है

१. **प्रकृति**—यह सबका कारण है, और कार्य किसी का भी नही।

२ **विकृति**—जो किसी आधार मे उत्पन्न होती है, पर दूसरे को उत्पन्न करने का शक्ति नही होती है।

३ **प्रकृति विकृति**—कार्य और कारण दोनो होते है, और स्वय तत्वो मे प्रकट होकर अन्य तत्वो को प्रकट करती है।

४ **न प्रकृति न विकृति**—न कार्य का करना और न कारण ही वनना। प्रकृति केवल एक है और वह अव्यक्त है। विकृति सोलह है

(१) ज्ञानेन्द्रिय चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक्,श्रोत्र।

(२) कर्मेन्द्रिया वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।

(३) मन और महाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश।

प्रकृति और विकृति सात मानी गई है

(१) महतत्त्व

(२) अहकार

(३) तन्मात्रा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

न प्रकृति न विकृति केवल एक ही है, वह पुरुष है।

उत्पत्ति के पूर्व कार्य-कारण मे अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है एव कार्य-कारण मे आपस मे एक प्रकार की अभिन्नता है। यह साख्य-शास्त्रियो का मत है कि कार्य की अव्यक्तावस्था का ही नाम कारण है, इसलिये कार्य कारण का भेद व्यावहारिक है और अभेद तात्विक है। इस सिद्धान्त का विशद विवेचन साख्याचार्यो ने परिणामवाद मे किया है।

यदि कारण मे कार्य की सत्ता न होती तो कर्त्ता कुछ भी उत्पन्न करने मे असमर्थ होता[1] जैसे कि तन्तुओ से ही कपडा वुना जाता है।[2]

सव कारण सभी कार्यों की उत्पत्ति का निश्चित आभास नही दे पाते' कार्य-कारण के पूर्व स्थिति के सम्वन्ध के कारण ही ऐसा होता है।[3] शक्तिसम्पन्न कारण से ही शक्तिसम्पन्न वस्तु प्रकट होती है[4] और व्यक्त दशा कार्य है तथा अव्यक्त दशा कारण है।[5]

उपर्युक्त पाच सिद्धान्तो को लेकर ही साख्य-शास्त्रियो ने निम्नलिखित श्लोक की रचना की।

'असदकरणादुपा दानग्रहणात् सर्वसभावाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्'।

साख्य-शास्त्रियो ने द्वैत-मत का प्रतिपादन किया है। प्रकृति और पुरुष दो मूल

---

१ असद् करणात।

२ उपादान ग्रहणात।

३. सर्व सभवाभावात्।

४. शकस्य शक्यकरणात्।

५ कारण भावात्।

तत्व है, जिनके परस्पर सम्बन्ध से जगत का निर्माण होता है। जिनमे एक जड है और दूसरा चेतन।

जगत मे सुख और दु:ख है। सत्, रज और तम गुण है और इन गुणो की साम्यावस्था ही प्रकृति है। प्रकृति प्रतिक्षण अपने मे परिवर्तन करती रहती है। गुण विषमता सृष्टि को जन्म देने वाली है।

प्रकृति के साथ पुरुष है, जो त्रिगुणातीत है। जिसमे विवेक, विषय, विशेष चेतनता विद्यमान है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि का जन्म होता है। पुरुष के पास एक ओर धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य होता है, दूसरी ओर अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य। एक ओर वह अहंकार पर विजय प्राप्त कर सकता है, दूसरी ओर वह बहुत बड़ा अहंकारी हो सकता है। इसी प्रकार सृष्टि चलती रहती है।

सांख्य दर्शन बुद्धि के आधार पर जगत का अनुभव प्राप्त करने का पक्षपाती है। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द को प्रमाण मानता है।

प्रत्यक्ष मे निर्विकल्पक एवं सविकल्पक आते है। अनुमान मे वीत और अवीत तथा शब्द मे आप्तश्रुति का ज्ञान आता है।

कर्त्तव्य-मीमांसा मे सांख्य-वैदिक कर्मकाण्डो पर बल देता है। यज्ञानुष्ठान मे पशु की बलि की महत्ता को भी स्वीकार करते हुये कहता है कि यज्ञ मे बलि दिया हुआ पशु, पशुभाव को छोडकर मनुष्यत्व की प्राप्ति के बिना ही देवत्व को प्राप्त कर लेता है।

सांख्य-दर्शन शास्त्रियो ने प्रकृति को एक सुकुमार नर्तकी के रूप मे माना है। जो रंगमंच मे उपस्थित दर्शको के सम्मुख अपने विभिन्न प्रदर्शनो को दिखा कर नर्तन व्यापार से स्वत अलग हो जाती है। वह इतनी लाजवन्ती है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूति हो जाने पर फिर कभी उसके सम्मुख नही आती।

विवेकी-पुरुष मे स्थित प्रकृति का कोई व्यापार नही। तत्वज्ञान से वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है और वह जीवनमुक्त, जीवन के कर्म व्यापार मे लगा हुआ कर्म बन्धन से दूर, और विदेह-मुक्त के परमानन्द के शान्त और शाश्वत सागर मे रस लेता रहता है।

ईश्वर तर्क का विषय नही है, इसलिये ईश्वर सांख्य-सूत्र प्रमाणो के द्वारा ईश्वर की सत्ता की असिद्धि पर जोर देता है।

कार्य-जगत का कर्त्ता तो एक है, पर ईश्वर मे उसकी कर्तता नही सिद्ध होती है। ईश्वर स्वयं से निर्व्यापार है इसलिए वह परिवर्तनशील जगत का कारण नही हो सकता। ईश्वर पूर्ण काम है इसलिये उसके मन मे ऐसी कोई भी इच्छा नही होगी जिससे वह इस कर्म मे प्रवृत्त होगा। पर आगे चल कर विज्ञान भिक्षु इसे स्वीकार नही करते और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए सांख्य को ईश्वरवादी कोटि मे रखते है

"तत् सन्निधानादधिष्ठातृत्व मणिवत्'

इसमे वह यह मानते है कि ईश्वर जगत का साक्षी है। जिस प्रकार चुम्बक लोह को खीच लेता है उसी प्रकार ईश्वर जगत के कार्य व्यापार मे निहित हो जाता है।

साख्य वेदान्त भूमि से बढ कर प्रकृति को सगुण मानकर भी स्वतन्त्र और नित्य मानता है। साख्य-दशन शास्त्रियो ने पदार्थ मीमासा पर ही विशेष बल दिया है।

विवेक बुद्धि ही मनुष्य के सामने उसका सच्चा स्वरूप प्रकट करती है। उसी से कैवल्य की प्राप्ति होती है जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के दुखो पर विजय प्राप्त कर मानव मात्र के सम्मुख ज्ञान का उचित द्वार खोल देती है।

योग-दर्शन

महर्षि पतजलि ने योग दर्शन के रूप मे दर्शन कृतियो मे एक सुन्दर एव नवीन प्रणाली का सूत्रपात किया। भारतीय-जीवन मे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को चार पुरुषार्थ के रूप मे माना गया। इनकी प्राप्ति के लिए शरीर और इन्द्रियो के नियन्त्रण के साथ चित्त शुद्धि की आवश्यकता मानी गयी।

चित्त को स्थिर रखने के लिए योग-दर्शन मे योग-शास्त्र का निरूपण हुआ। जिसमे चित्तवृत्ति का निरोध योग माना गया। परम पद की प्राप्ति के लिए ज्ञान को प्राप्त करते हुए चित्त-वृत्ति को इधर-उधर न भटकने देने मे ही मनुष्य की सार्थकता है।

जगत मे हमे जड और चेतन पदार्थ दृष्टिगत होते है। चेतन जगत का तत्व ही चित्त है और योजना प्रक्रिया ही चित्त को दृढ करती है। गीता मे भी कहा गया है

"साख्ययोगौ पृथक् बाला प्रवदन्ति न पण्डित"[1]

वेदान्त, साख्य या किसी भी दशन मे बिना योग-साधना के कुछ प्राप्त नही हो सकता। योग के बिना साख्य का ज्ञान अधूरा है और इसी कारण योग ही मोक्ष का सर्वोत्तम उपाय है। प्राण साधना की क्रिया भारत के जन्म के साथ ही उदित होती है। ऋग्वेद से लेकर छादोग्य, वृहदारण्यक, कठोपनिषद्, श्वेताश्वर, उपनिषदो मे योग-साधना के रूप दृष्टिगत होते है। कठोपनिषद् मे कहा गया है—जब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ आत्मा मे स्थिर हो जाती है और जब बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा नही करती तो साधक योग द्वारा परम पद को प्राप्त कर लेता है। श्वेताश्वर उपनिषद् मे क्रियात्मक योग का बहुत सुन्दर एव प्रभावशाली विवेचन किया गया है

महर्षि पतजलि ने "योग सूत्र" मे चार पादो का उल्लेख किया है

(१) समाधि पाद।

---

१ गीता—पाँचवाँ अध्याय।

(२) साधन पाद।

(३) विभूति पाद।

(४) कैवल्य पाद।

यह योग समाधि का समर्थक है। चित्त की पांच अवस्थायें बतायी है —

(१) क्षिप्त—क्षिप्त चित्त वह है, जो रजोगुणी प्रभावो को लेकर ससार मे भटकता है।

(२) मूढ—मादक-द्रव्य खाकर, तमोगुणी प्रभाव लेकर वह ससार मे भटकता है।

(३) विक्षिप्त—यह अवस्था जबकि सतोगुण के रहते हुए भी रजोगुण के प्रभाव के कारण सफलता और असफलता के बीच चित्त वृत्ति भटकती है। जिज्ञासुओं की प्रथम अवस्था विक्षिप्तावस्था होती है।

(४) एकाग्र—एक विषय पर लगा हुआ चित्त।

(५) निरुद्ध—चित्त के सभी वृत्तियो के निरुद्ध हो जाने पर भी वृत्तियो के सस्कारो से युक्त चित्त की अवस्था निरुद्धावस्था है।

अन्तिम दो अवस्थाओ "एकाग्रता और निरुद्ध" पर ही योग-साधना सम्भव है। निरुद्धावस्था ही योग है ·

"योग चित्तवृत्तिनिरोध" ऐसा पतजलि ने कहा है।

चित्त मे भी तीन गुण है और उन्ही तीन गुणो के कारण उसके तीन रूप भी है

(१) प्राख्याशील—सत्व प्रधान चित्त, रज, तम से सयुक्त रहता है और ऐश्वर्य का प्रेमी होता है।

(२) प्रवृत्ति—तमोगुण से युक्त होने पर यही चित्त अधर्मी, अज्ञान, अवैराग्य का प्रेमी हो जाता है। मोह को तोडकर यह धर्म, ज्ञान, वैराग्य को प्राप्त कर लेता है।

(३) स्थिति—वही स्थिति उत्तम है, जब चित्त सत्व प्रधान होकर धर्म मेघ समाधि मे स्थित हो जाता है।

योग-दर्शनाचार्यो ने चित्त को जड और पुरुष को चेतन कहा है। पुरुष का प्रतिबिंब चित्त पर पडता है और वह चेतन समझता हुआ चेतन की भांति कार्य करने लगता है और वे ही चित्त की वृत्तियाँ बन जाती है।

चित्त की वृत्तियां क्लिष्ट और अक्लिष्ट होती है। वृत्तियो से सस्कार बनते है, सस्कार से वृत्तियाँ बनती है। निरोध की अवस्था मे केवल सस्कार शेष रहता है।

वृत्तियाँ, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति मे कार्य करती रहती है। प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ही प्रमाण है।

चित्तवृत्ति का निरोध अभ्यास और वैराग्य से सम्भव है। चित्त चचल है, वह तो पाप, पुण्य दोनो ओर बह सकता है। निरोध दो प्रकार से प्राप्त हो सकता है।

(१) **सप्रज्ञात**—जिसमे एक आलम्बन को लेकर एकाग्र हो जाना। यह समाधि चार प्रकार की होती है —

(अ) **वितर्कानुगत**—स्थूल विषय का ध्यान फिर स्थूल से सूक्ष्म की स्थिति मे सवितर्क समाधि जिसमे वस्तु, अर्थ और उसका ज्ञान हो और शब्द छोडकर अर्थ की भावना को निर्वितर्क समाधि का रूप दिया गया।

(ब) **विचारानुगत**—विचार समाधि।

(स) **आनन्दानुगत**—सत्व मे सुख आनन्द की समाधि।

(द) **अस्मितानुगत**—चित्त और चित् मे एकात्मिका सवित् रहती है, जो इन्द्रियो से भी सूक्ष्म समाधि स्थिति को ग्रहण करती है।

(२) **असप्रज्ञात**—यह निरोध प्राप्त का दूसरा साधन है। योग-दर्शनाचार्यो ने असप्रज्ञात समाधि के दो भेद किये है —

(१) **भव प्रत्यय**—अनात्मा मे आत्मा की ख्याति का निरोध ही अविद्या को भव प्रत्यय समाधि द्वारा दूर करता है। चित्त की विदेहावस्था के लिए साधी गयी स्थिति समाधि है।

(२) **उपायप्रत्यय**—श्रद्धा, वीर्य (धारण) स्मृति समाधि प्रज्ञा से समाधि ही मोक्षदायिनी है।

सम्प्रज्ञात-समाधि से असम्प्रज्ञात-समाधि ही मोक्ष का साधन बनती है। रोग, सशय, दु ख, पीडा, अकर्मण्यता, आलस्य, आसक्ति, भ्रान्ति दर्शन ही चित्त को कुमार्ग पर ले जाने वाले होते है।

योग शास्त्रियो ने इन सब पर विजय प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित अष्टाग योगो का निरूपण किया जो निम्नलिखित हैं —

(१) **यम**—कायिक, वाचिक तथा मानसिक सयम को "यम" कहते हैं। जैसे—

(अ) अहिंसा।
(ब) सत्य।
(स) अस्तेय।
(द) ब्रह्मचर्य।
(ड) अपरिग्रह।

इनका पालन "यम" कहा जाता है।

(२) **नियम**—नियमो का पालन अत्यन्त आवश्यक है। नियम निम्नलिखित है —

(अ) शौच।
(ब) सतोष।
(स) तपस्या।
(द) स्वाध्याय।

(ड) ईश्वर प्रणिधान ।

३) आसन—चित्त को स्थिर रखने के जो आसन है। जैसे —

(अ) पद्मासन ।

(ब) वीरासन ।

(स) भद्रासन आदि ।

(४) प्राणायाम—स्थिर आसन होने से श्वास तथा प्रश्वास की गति-विच्छेद को प्राणायाम कहते है ।

(५) प्रत्याहार—विषयो से इन्द्रियो को हटाकर अन्तर्मुखी करना ।

(६) धारणा—चित्त को किसी एक स्थान पर स्थिर कर देना ।

(७) ध्यान—एकाग्रता के साथ किसी एक वस्तु पर ही ध्यान देना, ध्यान है । ध्यान मे ध्यान ध्येय तथा ध्याता का पृथक् अस्तित्व प्रकट होता रहता है ।

(८) समाधि—ध्यान और ध्याता का भान नही रह जाता है । उसी के आकार को चित्त धारण कर लेता है । उस अवस्था मे ध्यान, ध्याता तथा ध्येय तीनो की एक सी प्रतीति होती है । समाधि संयम से ही सम्भव है ।

योग-दर्शन ने केवल मोक्ष ही अपना साध्य मान कर कर्म की उपेक्षा कभी भी नही की । कर्म को योगाचार्यो ने चार रूपो मे विभाजित किया है ।

१ कृष्ण कर्म—दुर्जनो के कर्म कृष्ण कर्म होते है ।

२ शुक्ल कृष्ण कर्म—जीवनयापन करने के लिये किये गये साधारण कर्म ।

३ शुक्ल कर्म—जिनमे दूसरो को पीडा न पहुचाई जा सके ।

४ अशुक्ल अकृष्ण—कर्मो के फल की इच्छा न करने वाले कर्म ।

इस प्रकार कर्म का विचार ही वासना एव अन्य कुविचारो को मन के पास नही भटकने देगा और वासनायें हेतु, फल, आश्रय, आलम्बन के सही मार्गो का अनुसरण कर अच्छे सस्कारो को जन्म देगी जो व्यक्ति को मुक्ति के पथ तक पहुचा सकेगा ।

चित्तवृत्ति निरोध मे योग-शास्त्रियो ने ईश्वर को आधार माना है

"क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर"

क्लेश, पुण्य, पाप, कर्मो मे, जाति, आयु, भोग रूप फलो से, वासनाओ से दूर, एक प्रकार के पुरुष को ईश्वर की सज्ञा दी है, जो इन भोगो से सदा दूर रहता है ।

शुद्ध, सात्विक, चिन्तन और ईश्वर का समाधि समाहित चित्त से चिन्तन मोक्ष देने वाला है।

मीमासा-दर्शन

मीमासा-दर्शन के क्षेत्र मे कुमारिल भट्ट ने एक नवीन युग की उद्भावना की ।

इनके पूर्व काल और पश्चात् काल को कुमारिल पूर्व काल और कुमारिल पश्चात काल के रूप में मीमासा के दार्शनिक इतिहास का विवेचन किया जाता है। जैमिनि ऋषि मीमासा-दर्शन के सूत्रकार थे। जैमिनि ऋषि ने अपने सूत्र ग्रन्थो मे प्रमाणों पर ही अधिक विचार किया। पहले मीमासा-दर्शन मे इन प्रमाणो द्वारा किसी दार्शनिक प्रमेय के जानने के लिये नही था। उस समय मुख्य विषय धर्म का विवेचन था। आगे चल कर आत्मा, मुक्ति, शरीर, इन्द्रिय आदि तत्वो का विवेचन दार्शनिक पृष्ठ-भूमि मे हुआ। मिथिला मे मीमासा की दर्शन-भूमि पनपी, पली और बढी।

धर्म के विचार क्षेत्र मे कायिक, वाचिक, मानसिक सभी कर्मो पर विचार किया गया और अत करण की शुद्धि तथा आध्यात्मिक चिन्तन का अध्ययन प्रारम्भ, आत्मा का प्रासगिक रूप से विचार और स्वर्ग प्राप्ति ही मीमासा का दृष्टिकोण है। लौकिक दृष्टिकोण मे स्वर्ग 'परमपद' है। आत्मा को कुछ मीमासक 'स्वप्रकाश' का रूप देते हैं।

मीमासा-शास्त्रियो ने निम्नलिखित बारह विषयो पर विशेष चर्चा की है।

(१) धर्म जिज्ञासा,
(२) कर्म भेद,
(३) शेषत्व,
(४) प्रयोज्य प्रयोजक भाव,
(५) कर्मो मे क्रम,
(६) अधिकार,
(७) सामान्य तथा विशेष,
(८) अतिदेश,
(९) ऊह,
(१०) बाध,
(११) तत्र,
(१२) आवाप,

इन्द्रियो द्वारा ही जगत की सत्ता का ज्ञान होता है। सभी वस्तुओ की अपनी शक्ति रहती है, जिसके रहने से ही वह अपना कार्य कर सकती है। सादृश्य और सख्या भी इसी प्रकार भिन्न पदार्थ है। दो 'अयुक्त सिद्धो' मे समवाय होता है। जिन द्रव्यो का प्रत्यक्ष हो उन्ही मे जाति रहता है।

क्षिति, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मनस् तथा दिक् द्रव्य हैं। आत्मा का मानस प्रत्यक्ष नही है। यह ज्ञानाश्रय है। इक्कीस गुण हैं, ऐसा प्रभाकर मत वालो ने माना है।

कुमारिल ने पदार्थ को भाव और अभाव दो प्रकारो मे देखा। मुरारि मिश्र ने सत्व की पराकाष्ठा को ही स्वर्ग का रूप दिया।

जगत के कर्त्ता को परमात्मा या ईश्वर की दो सज्ञाये दी जाय, यह मीमासक

निश्चित नही कर पाये। यह दो हैं, या इसका विचार इस शास्त्र मे नही किया गया।

शरीर इन्द्रिय से भिन्न आत्मा की सत्ता मीमासको ने स्वीकार की है। यह एक द्रव्य है। यह नित्य है, इसका नाश नही होता। यही कर्त्ता और भोक्ता है। यह ज्ञाता है, जो मृत्यु के पश्चात् एक शरीर को छोडकर दूसरे मे प्रवेश कर जाती है। एक आत्मा दूसरी आत्मा से भिन्न है। जीवात्मायें अनेक है।

शरीर, इन्द्रिय, शब्द, स्पर्श, रूप आदि भोग्य विषय ही मनुष्य को बन्धन मे डालने वाले होते हैं। सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ मनुष्य इस प्रकार बहुत बार जन्म लेता है, और मृत्यु को प्राप्त करता है।

पूर्व जन्म के कर्मो से उत्पन्न मनुष्य धर्म-अधर्म के फलो को भोगता है। मोक्ष अवस्था मे न सुख है न आनन्द और न ज्ञान

"तस्मात् नि सम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्ष"[1]

आत्म-ज्ञान ही मुक्ति का द्योतक है, कर्मों का अनुष्ठान भी इसके लिये आवश्यक है। मुक्तावस्था मे जीव की सत्ता मात्र रहती है। और वह पुन ससार मे नही आता।

मीमासकों ने धम का प्रमाण वेद मे माना है, अन्य प्रमाण मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अभाव आदि है। प्रभाकर ने अभाव को प्रमाण के रूप मे स्वीकार नही किया है। प्रभाकर मत ने साक्षात् उत्पन्न ज्ञान ही को प्रत्यक्ष माना है। साथ ही 'भ्रान्ति' और 'ज्ञान' इन दोनो शब्दो को परस्पर विरुद्ध माना है। ज्ञान 'स्वप्रकाश' युक्त होने के कारण सदैव ही यथार्थ है। रस्सी को देखकर साप सोचना भ्रान्ति ज्ञान है।

मीमासा-दर्शन मे प्रभाकर मत, कुमारिल मत, भट्ट मत हुये जिन्होने विभिन्न प्रकारो से अपनी चिन्तन धारा का रूप प्रस्तुत किया।

भट्ट मत का सम्बन्ध व्यावहारिक जगत से है। इस मत के अनुसार आत्मा जड है, पर सदैव वह ज्ञान शक्ति से निहित है। इस कारण वह बोध-स्वरूप भी है। भट्ट मत ने स्वप्नावस्था मे आत्मा को ज्ञान से शून्य माना है।

प्रभाकर मताचार्य ने आत्मा को जड मानते हुये ज्ञान के स्वप्रकाश की सत्ता को स्वीकार किया है।

मुक्ति अवस्था मे भी जीवात्मा स्वतन्त्र है और मुक्तावस्था मे भी न्याय-वैशेषिक की भाति 'पुरुष बहुत्व' को मीमासा ने स्वीकार किया है।

मीमासा-दर्शन, यज्ञ, वैदिक अनुष्ठानो की तात्विक विवेचना करता हुआ भी मोक्ष शास्त्र है, जो थोडे शब्दो मे ही "प्रपचसम्बधविलयोमोक्ष" मोक्ष के सोपान

---

१ शास्त्र-दीपिका, पृष्ठ १२५–३०।

पर ला बिठाता है। जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध के विनाश या नाश ही मोक्ष है, की संज्ञा प्रदान करता है।

अद्वैत-दर्शन

अद्वैत-दर्शन भी इसी भांति शंकराचार्य के भाष्य एवं सूत्रों में विशिष्ट रूप से प्रकट होकर भारत की दर्शन भूमि पर आया। जीव समुदाय दुःख से मुक्त पाना है। इससे छुटकारा पाने का उपाय ढूंढ़ना है। अविद्या के नाश के सतत् प्रयत्नों में रत रहकर ही जिज्ञासु क्लेशों से छुटकारा पाकर आत्मा को परमात्मा के सम्मिलन में एकाकार होने का प्रयत्न करता रहता है। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" कहकर वह आत्मा को ही दुःख की निवृत्ति कराना चाहता है। आत्मा ईश्वर का ही प्रतिबिम्ब है। आज तक आत्मा की उपेक्षा करने वाले अपने को नहीं पहचान पाते। कस्तूरी मृग के नाभि में ही है और वह विक्षिप्त होकर उसे इधर-उधर ढूंढता फिरता है। इसी प्रकार जब तक अविद्या से मानव भ्रमित रहता है, तभी तक वह दुःखी रहता है। 'दृष्टा' और 'दृश्य' दो वस्तुयें हैं, जो भिन्न हैं, जब एक दृष्टा ही रहे और दृश्य विलीन हो जाय, तभी आत्मा की चरम सत्ता है।

अद्वैत-वेदान्त दर्शन भी उपर्युक्त विचारों को लेकर आया। उपनिषद् उसके मूल प्रेरणा स्रोत रहे और शंकराचार्य ने 'ब्रह्म-सूत्र' में अपने विचारों को व्यक्त किया। शाक्त से वैष्णव पद में आकर सन्यासी का जीवन व्यतीत करते हुये शंकराचार्य ने 'विष्णु-स्त्रोत', 'गीता भाष्य', 'ब्रह्म-सूत्र', 'विवेक-चूड़ामणि' आदि पुस्तकें लिखी।

शंकर-वेदान्त 'अद्वैत मत' को श्रेष्ठ मानता है। अद्वैत-दर्शन के अनुसार इस भूमि में पारमार्थिक दृष्टिकोण से एक ही तत्व है, उसे ब्रह्म या आत्मा कहकर पुकारा जा सकता है। आत्मा या ब्रह्म का स्वरूप आनन्दमय है "सच्चिदानन्दब्रह्म"। इसके अतिरिक्त जो भी प्रतिभासित होता दिखाई पड़ता है, वह अज्ञान है, माया है।

ब्रह्मानन्द की अनुभूति के लिये अज्ञान और माया का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि वह अतत्व है, अतत्व के ज्ञान से ही तत्व के दर्शन सम्भव हैं।

शंकर-दर्शन ने सत्ता के तीन रूप माने है

(१) **पारमार्थिक सत्ता** ब्रह्म है।

(२) **प्रतिभासिकी सत्ता** रस्सी को देख कर सर्प का ज्ञान भ्रान्ति ज्ञान है। प्रकाश पड़ने पर रस्सी सर्प न होकर रस्सी ही रह जायेगी। यह ज्ञान मिथ्या है, क्षणिक है। यह सर्प ज्ञान ही प्रतिभासिकी ज्ञान है।

(३) व्यावहारिकी ज्ञान ससार क्रम मे व्यवहार के लिये सत्य मानने की दशा ही व्यावहारिकी सत्ता है ।

अद्वैत-दर्शन केवल ब्रह्म ही को सत्य मानता है । शेष सभी पदार्थ उसके लिये असत्य हैं ।

"ब्रह्म सत्यम् जगत मिथ्यम्"

माया अपने विभिन्न रूपों से उद्भासित होती है, वह जो अनेक रूपो मे दिखाती है, भ्रान्तिपूर्ण है, जो तत्व ज्ञान से दूर की जा सकती है ।

ब्रह्म को अधिष्ठान मानकर जितने भी कार्य जगत मे होते हैं, वे ब्रह्म के विवर्त ही हैं । तत्वो मे अतत्वो का भान ही विवर्त है ।

विवर्त मे सभी वस्तुयें जल मे उठने वाले बुदबुदो के समान मिथ्या हैं । यही मिथ्या-ज्ञान आरोप और अध्यास है ।[1]

आत्मा सर्वव्यापी और चेतन है । उसकी सिद्धि के लिये किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । वह स्वय सिद्ध और प्रमाण से युक्त है । भ्रान्तियो के कारण ही यह स्थिति से अपरिचित रहती है और अज्ञानी पुरुष उनके पीछे भागता रहता है ।

अज्ञान अविद्या और माया का प्रतिरूप है । इसमे सत्, रज, तम, गुण है । तत्व-ज्ञान ही इस पर मुक्ति दिला सकता है ।

आवरण के कारण ही आत्मा माया मे आच्छादित रहती है और मिथ्या ज्ञान के चक्रो मे फसी रहती है ।

आत्मा क्रिया-शून्य है । अज्ञान के कारण ही सुख-दु ख, ईर्ष्या-द्वेष आत्मा मे आरोपित हो जाते हैं, जिससे आत्मा क्रियाशील दृष्टिगत होने लगती है । माया से ग्रसित आत्मा ही जगत की सृष्टि का कारण है ।

चैतन्य स्वरूप दो हैं । एक चैतन्य रूप स्वय और दूसरा माया रूप । चैतन्य रूप मे विशुद्ध सत्व की प्रधानता है । उसमे तत्व ही प्रधान है और रजो गुण एव तमो गुण अप्रधान हैं । इसके अन्तर्गत चैतन्य आत्मा या ब्रह्म सविशेष हो जाता है और इसी कारण समस्त अज्ञानो मे अविच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वर है, जो सर्वज्ञ, सर्वेश्वर सर्वनियन्ता, अन्तर्यामी और जगत का कारण है, वह जगत का निर्माण केवल लीला हेतु ही करता है ।

इसी आधार पर अद्वैत-दर्शन शास्त्रियो ने पाच कोपो पर विचार किया जो शरीर और अवस्था को प्रकट करता हुआ आत्मा को परे मानता रहा ।

---

१ "अध्यासो नाम अतस्मिन तद्वुद्धि "

"तत्पदार्थ मे अतद् पदार्थ के स्वरूप का आरोप करना अध्यास है ।"

भारतीय दर्शन प० वल्देव उपाध्याय, पृष्ठ ४४३ ।

(१) अन्नमय } स्थूल

(२) मनोमय
(३) प्राणमय } सूक्ष्म
(४) विज्ञानमय

(५) आनन्दमय } 'कारण'[1]

जगत का 'कारण शरीर' ईश्वर है। माया और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी स्थूल या सूक्ष्म कारण नही है। इसलिये यह आनन्दमय कोष की सज्ञा प्राप्त करता है। इस अवस्था मे सभी लय रहता है। इस कारण सुषुप्ति की सज्ञा उचित दी है, जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर को लय करता है।

आनन्दमय कोष से आगे भूत, ज्ञानेन्द्रिय अन्त करणो की उत्पत्ति होती है। विज्ञानमय कोष मे पाच ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि के सम्मिलन से कार्य वस्तु शरीर मे उत्पन्न होती है, वह चैतन्य जीव की सज्ञा प्राप्त करता है।

मनोमय कोष मन को उत्पन्न कर सकल्पात्माक विकल्पात्मक भावो की उत्पत्ति करता है। इसी प्रकार सृष्टि क्रम चलता रहता है, व्यक्ति आता है और चला जाता है। ब्रह्मलीला करता रहता है। ब्रह्म के साथ साक्षात्कार करने के हेतु अज्ञान का सामना करना पडता है। ब्रह्म-चिन्तन से चित्त वृत्ति अज्ञान का नाश कर देती है और आगे चल कर चित्त ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, अन्त मे एक मात्र ब्रह्म मे लीन हो जाता है और साधक ब्रह्म साक्षात्कार मे लीन होकर परमानन्द पद को प्राप्त कर मुक्ति-पद तक पहुच जाता है। प्रारब्ध कर्म के क्षेत्र बिना मुक्ति नही। सचित और क्रियमाण कर्मों के नाश होते-होते यदि जीव-तत्व ज्ञान को प्राप्त कर ले, तब वह प्रारब्ध कर्म के क्षय होने तक शरीर को धारण रक्खेगा। इस अवस्था मे साधक जीवन मुक्ति के पद पर प्रतिष्ठित हो जायेगा।

अद्वैत-वेदान्त 'शब्द' को प्रमुख प्रमाण मानता है। वैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि ये छ प्रमाण भी माने गये है और अद्वैत वेदान्तियो ने मन को इन्द्रिय रूप मे स्वीकार नही किया है, केवल ब्रह्म और उसकी माया से ही अपने इतने बडे दर्शन-शास्त्र की भूमि रची। शकराचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है, "सर्वखल्विद ब्रह्म", "एकमेवाद्वितीय नेह नानास्ति", "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या।"

साधक को माया के बन्धनो से दूर हटा कर परम-पद तक पहुचाने के लिये भारत के चार स्थानो पर चार पीठ स्थापित किये, जिनकी गुरु परम्परा आज भी लाखो करोडो भूले भटके एव विभ्रान्तिजनो के मन को अपने उपदेशो एव प्रवचनो से लाभ पहुचाती आ रही है।

---

१ विशेष-विवरण के लिये देखिये

आ० बल्देव प्रसाद—भारतीय-दर्शन, पृष्ठ ४३०।

शैव-दर्शन

षट-दर्शनो के इन दार्शनिक इतिहास के साथ-साथ शिव या रुद्र का आधार लेकर भारत मे शैव-दर्शन ने भी अपनी सत्ता स्थापित की। शिव की उपासना वैदिक काल से ही भारत भूमि मे प्रचलित थी। यजुर्वेद, तैत्तरीय, आरण्यक, श्वेताश्वर, महाभारत मे शिव की उपासना दृष्टिगत होती है। वामन पुराण मे

(१) शैव,

(२) पाशुपत,

(३) काल दमन,

(४) कापालिक,

सम्प्रदायो का विवरण मिलता है। काश्मीरी शैव-दर्शन को प्रत्यभिज्ञादर्शन भी कहा जाता है।

इस दर्शन की भूमि मे भी अज्ञान और माया का रूप है, जो स्वतत्र नही माना गया। यह परमतत्व के आधीन है। परमतत्व की लीला और आज्ञा से ही अज्ञान का उदय और अस्त होता है। अज्ञान के पैदा होने पर भी परम तत्व मे कोई परिवर्तन नही होता है। माया का खेल सृष्टि सब परम शिव की ही कृपा का फल है। परम शिव का अपना कोई प्रयोजन नही, जगत तो उनके लिये क्रीडास्थल है।

परम शिव को शैव-दर्शन स्वतत्र, चिन्मय-ज्ञान स्वरूप, कर्तृ स्वरूप मानता है। ज्ञान और क्रिया दोनो ही समान है। परम शिव की क्रिया ही ज्ञान है। परम शिव ही एक तत्व है और उन्ही मे अन्य तत्व उत्पन्न होते है।

शैव-दर्शन प्रकृति और पुरुष को अनित्य और परतत्र मानता है। प्रकृति-तत्व माया है, जिसके साथ कला विद्या राग काल नियति है। इन पाच तत्वो को जान लेने से ज्ञान का प्रस्फुटन होता है और माया के बन्धन टूट जाते है। सद् विद्या को प्राप्त कर ईश्वर-तत्व, सदा-शिवतत्व, शक्ति-तत्व, परम-शिव-तत्व मे परिणत हो जाता है। यही पूर्णवस्था शैव दर्शनाचार्यो ने मानी है। प्रत्येक जीव मे रहने वाला आत्मतत्व ही शिवतत्व है। यह चैतन्य रूप है, सभी मे व्यष्टि एव समष्टि रूप मे विद्यमान है। विमर्श ही उसका स्वभाव है, इस परम तत्व मे अनुपम शक्तिया है, जो निम्नलिखित है।

(१) **चित्त शक्ति**—प्रकाश रूप

(२) **आनन्द शक्ति**—शिव का आनन्दमय रूप

(३) **इच्छा शक्ति**—जगत की सृष्टि एव सहार की इच्छा

(४) **ज्ञान शक्ति**—शिव का ज्ञान स्वरूप

(५) **क्रिया शक्ति**—शिव की क्रिया शक्ति

यह पूर्ण जगत शिव की ही शक्ति का प्रतीक है। शक्ति भी शिव के बिना नही रह सकती, दोनो मे एकरूपता है। शक्ति का ही उन्मेप रूप सृष्टि है।

सद्विद्या के प्राप्त होते ही 'अहम्' और 'इदम्' एक रूप हो जाते हैं। माया शक्ति के बन्धनो को तोडकर ससारी पाच मायावी कचुको की प्रवचना समझ लेता है और बुद्धि तत्व के आधार पर अहकार तत्व से दूर, ज्ञानेन्द्रियो पर विजय पाकर मोक्ष पद का अधिकारी होता है।

शैव-दर्शन के निम्नलिखित तत्व है।

(१) सद्शिव तत्व
(२) ईश्वर तत्व
(३) शुद्ध विद्या तत्व
(४) माया तत्व
(५) पुरुष तत्व
(६) प्रकृति तत्व
(७) अन्त करण बुद्धि तत्व
(८) अहकार तत्व
(९) मनस्तत्व
(१०) पाच ज्ञानेद्रिन्यां
(११) पाच कर्मेन्द्रिया
(१२) पाच तन्मत्राए
(१३) पच भूत

वट बीज मे वट-वृक्ष का शक्ति रूप है। परम शिव के यह तत्व शक्ति रूप मे बीज के सदृश हैं। इन तत्वो पर ज्ञानपूर्वक विचार करने के पश्चात् साधक मे 'मैं' और 'वह' का भेद मिट जाता है। एक समय होता है, जब 'मैं' और 'वह' दोनो का ही महत्व होता, परन्तु विचार पूर्वक साधक इस भेद को दूर करने की चेष्टा करता है और एक भूमि ऐसी आती है, जहाँ दोनो का भेद-भाव धीरे-धीरे लुप्त होने लगता है और वह 'मैं' मे ही लीन हो जाता है, उसी अवस्था पर साधक कह उठता है 'मैं हू'। यह अवस्था सदाशिव तत्व की है। इस 'हू' के अहम् भाव को भी आगे चल कर दूर किया जाता है और उस स्थान पर परम शिव का रूप प्रकट होता है। यह अवस्था परम शिव मे लीन होकर चिन्मय रूप मे परिणत हो जाती है और अद्वैत-दर्शन अपने विभिन्न रूपो मे आ खडा होता है।

जीवित अवस्था मे स्थूल शरीर से इस प्रकार का ज्ञान 'जीवनमुक्ति' है। शरीर के नाश होने के पश्चात् ही यह तत्व परम शिव मे लीन हो जाता है।

भारतीय-दर्शन का यह पूर्ण रूप है। परम शिव मे एकाकार हो जाना ही शैव दर्शन की चरम आस्था है।

माया मिथ्या है, मेघ से जिस प्रकार सूर्य ढक जाता है, वैसे ही माया आत्मा को ढक लेती है। माया भी परम शिव की एक क्रिया है। शक्ति सत्य है, जीव, जगत सत्य है, मिथ्या नहीं। शैव-दर्शन के साथ ही शैव-तन्त्र मे पाशुपत-मत मे कार्य कारण, योग, विधि दु खात पदार्थो का विवरण दिया। रसेश्वर दर्शन, व्याकरण दर्शन, त्रिपुरा सिद्धान्त आदि आये।

शिव, शक्ति, विन्दु इन तीन रत्नो को शैव दर्शन मे श्रेष्ठ माना गया है। दु:खो की निवृत्ति ही मोक्ष पद है, इसकी भावना का विवेचन शैव-दर्शन का प्रमुख आधार रहा।

दूसरी ओर नारायण ही भक्ति, ज्ञान का चरम लक्ष्य है, यह भाव-धारा वैष्णव दर्शन का मूल स्रोत बन कर आयी, जो अपने जन्म-काल मे पाच भागो मे विभाजित हुई :

(१) श्री सम्प्रदाय—सस्थापक	रामानुजाचार्य
(२) हस सम्प्रदाय—सस्थापक	निम्बार्क स्वामी
(३) ब्रह्म सम्प्रदाय—सस्थापक	मध्वाचार्य
(४) सद् सम्प्रदाय—सस्थापक	विष्णु स्वामी
(५) चैतन्य मत—सस्थापक	चैतन्य देव

'श्री सम्प्रदाय' के सस्थापक के रूप मे श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत-दर्शन की पृष्ठ भूमि स्थापित की जिसे रामानुज-वेदान्त भी कहा जाता है। रामानुजाचार्य मत मे पदार्थो को तीन रूपो मे विभक्त किया गया है :

(१) चित्—भोक्ता जीव

(२) अचित्—भोग्य जगत

(३) ईश्वर—सर्वान्तर्यामी

चित् तत्व ही जीवात्मा है जो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि से भिन्न है। यही ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर इसका धारक है। जीवात्मा के तीन रूप है.

(१) बुद्ध जीव—जो सासारिक जीव होते है।

(२) मुक्त जीव—जो ससार मे रहते हुये भी भक्ति, आराधना और कर्तव्यो का पालन करने वाले होते है।

(३) नित्य जीव—जो कभी ससार मे न आया हो।

आत्मा अचित् के ससर्ग से अविद्या, कर्म, वासना व रुचि को जन्म देती है। ज्ञान अपने मे सकोच और विकास कर मुक्तावस्था को प्राप्त करवाता है। अचित् तत्व जड है, इसके भी रामानुज दर्शनानुसार तीन भेद है.

(१) शुद्ध सत्व—रजोगुण, तमोगुण से दूर।

(२) मिश्र सत्व—सत्, रज एव तम गुणो से युक्त।

(३) सत्व शून्य—काल ।

ईश्वर तत्व मे चित् अचित् इनकी देह है । वह ज्ञान रूप, आश्रयदाता, क्षमाशील और सुदृढ स्वरूप है ।

ईश्वर का स्वरूप पाच प्रकार का है

(१) **पर**—वासुदेव रूप ।

(२) **व्यूह**—विश्व की लीला के निमित्त का स्वरूप ।

(३) **विभव**—मुमुक्षुओ के उपास्य रूप का स्वरूप ।

(४) **अन्तर्यामी** - जीवो के अन्त करण मे उतरने वाला स्वरूप ।

(५) **अर्चावतार**—मूर्ति मे रहने वाला उपास्य रूप ।

उपर्युक्त रूपो मे उपासना का स्वरूप प्रस्फुटित कर योग, ज्ञान, भक्ति से ईश्वर को पाया जा सकता है ।

ज्ञान नित्य और व्यापक है । यह द्रव्य है, यह मन का सहकारी है । भक्ति और प्रपत्ति से उपजा ज्ञान मोक्ष का मार्ग खोल देता है । प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द रामानुजाचार्य के दृष्टिकोण से प्रमाण है ।

भ्रम भी यथार्थ ज्ञान है । ज्ञान के सभी विषय सत्य हैं । अविद्या का ज्ञान सत्य रूप मे प्राप्त कर उसे ही जीता जा सकता है और जब

अन्त करण वच्छिन्न
अन्त करणवृत्य वच्छिन्न
विषया वच्छिन्न

तीनो चैतन्य एकत्र हो जायेंगे तभी ईश्वर से साक्षात्कार सम्भव है ।

वेद 'अपौरुषेय' और नित्य है, कह कर उनकी महत्ता रामानुज वेदान्त स्वीकार करता है ।

महत् से अहकार का जन्म होता है, जो वैकारिक, तैजस और भूतादि से मिश्रित होता है । उससे ग्यारह इन्द्रिया जन्म लेती है । जीव योग के बल मे शरीर मे प्रवेश पाकर भ्रमण करता है । मुक्ति मे यह सब इन्द्रियो का साथ छोड देता है और व्यक्ति आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है । इस कारण परमपद का चरम लक्ष्य यही है ।

'ब्रह्म' सम्प्रदाय-के प्रवर्त्तक श्री मध्वाचार्य ने द्वैत-दर्शन के रूप मे माध्व-वेदान्त का प्रचार किया । मध्वाचार्य ने दस पदार्थ माने है

(१) द्रव्य,
(२) गुण,
(३) कर्म,

(४) सामान्य,
(५) विशेष,
(६) विशिष्ठ,
(७) कशी,
(८) शक्ति,
(९) सादृश्य,
(१०) अभाव।

द्रव्य को उन्होने बीन रूपो मे स्वीकार किया है

(१) परमात्मा
(२) लक्ष्मी
(३) जीव
(४) अव्याकृत आकाश
(५) प्रकृति
(६) गुण त्रय
(७) महत् तत्व
(८) अहंकार तत्व
(९) बुद्धि
(१०) मन
(११) इन्द्रिय
(१२) मात्रा
(१३) भूत
(१४) ब्रह्माड
(१५) अविद्या
(१६) वर्ण
(१७) अन्धकार
(१८) वासना
(१९) काल
(२०) प्रतिबिम्ब

पदार्थ और द्रव्यो का निरूपण ही कर्म का जन्म दाता है। माध्वाचार्य के मत मे कर्म तीन प्रकार के है

(१) विहित कर्म,
(२) निपिद्व कर्म,
(३) उदासीन कर्म,

पदार्थ निरूपण मे शक्ति के अन्तर्गत चार रूपो को माना गया :

(१) अचिन्त्य शक्ति—जो विष्णु मे निवास करती है।
(२) आमय शक्ति—विधिवत् प्रतिष्ठान मे भूति मे शक्ति।
(३) सहज शक्ति—कार्य मात्र के अनुकूल स्वभाव रूप शक्ति जो नित्य और अनित्य है।
(४) पद शक्ति—वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध शक्ति।

पदार्थ, कर्म, द्रव्यो की विचार धारा को सुसगठित रूप देकर माध्वाचार्य मत वालो ने परमात्मा को साक्षात् विष्णु के रूप मे माना। उत्पत्ति, स्थिति, सहार, नियमन, आवरण, बन्धन, मोक्ष सब परमात्मा के ही अधीन हैं, जो सर्वज्ञ है। जीव, जड, प्रकृति से परे नित्य तथा सर्वस्व स्वतन्त्र है। एक होकर वह नाना रूपो मे प्रकट होता है।

लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है, जो आधार रूप मे उनके अधीन रहते हुये उनसे भिन्न है। लक्ष्मी जी भी नित्य मुक्ता, नाना रूप धारिणी है।

जीव, अज्ञान, मोह, दुःख, भय, शोक, दोषों से युक्त ससारी प्राणी है, जो

(१) मुक्ति योग्य,

(२) नित्य ससारी,

(३) तमो योग्य, रूपो मे रहता है।

देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती, उत्तम मनुष्य जो तमोगुण और सुख दुःख, ऊँच-नीच के भेद-भाव से परे उठ जाते है, वे ही मुक्ति योग्य जीव कहलाते है।

श्रवण, मनन ध्यान के साथ पच भेद का ज्ञान प्राप्त कर साधन-मार्ग द्वारा इस कष्ट से परे हुआ जा सकता है।

(१) ईश्वर का जीव से भेद।

(२) ईश्वर का जड से भेद।

(३) जीव का जड से भेद।

(४) जीव का दूसरे जीव से भेद।

(५) एक जड पदार्थ का दूसरे जड पदार्थ से भेद।

का ज्ञान ही मुक्ति का साधक है। ध्यान रूप या शास्त्र द्वारा वर्णित अभ्यास रूप से परमात्मा के अनुग्रह से ज्ञान, भक्ति और मोक्ष के द्वार खुलते हैं, जो क्रमश भोग, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य को प्राप्त कराते हैं।

हस-सम्प्रदाय

हस-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री निम्बकाचार्य ने द्वैताद्वैत-दर्शन भेदाभेद, भास्कर वेदान्त दर्शन हस-सम्प्रदाय की नीव रखी।

'ब्रह्म सूत्र' पर भाष्य रच कर निम्बकाचार्य ने ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम अचिन्त्य शक्ति विक्षेप शक्ति को स्वीकार किया। जिस प्रकार स्वभाव वश गाय के थन से दूध निकलता है, उसी प्रकार स्वभाव से सृष्टि का परिणाम होता है।

निम्बकाचार्य ने भी पदार्थ-मीमासा के अन्तर्गत .

(१) चित्

(२) अचित्

(३) ईश्वर के रूपो को माना।

चित् ज्ञान स्वरूप है। वही चित् जीव रूप मे कर्त्ता और भोक्ता है। इस क्षेत्र मे वह अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिये स्वतत्र न होकर ईश्वर पर ही आश्रित है। वह हरि का ही अश है।

अचित् चेतना ही पदार्थ है, वह तीन प्रकार का है

(१) प्राकृत—उत्पन्न जगत '

(२) अप्राकृत—परम् व्योमन, विष्णुपद, परमपद।

(३) काल—जगत का नियामक।

ईश्वर सगुण रूप है। वह अविद्या से दूर कल्याण गुणो मे युक्त है। सभी उसके आश्रित हैं। पर ब्रह्म, नारायण, भगवान कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि उसी की सज्ञायें है।

प्रपत्ति द्वारा ईश्वर जीवो पर अनुग्रह करता है। बिना उसी अनुग्रह के मुक्ति सम्भव नही। भक्ति की प्रबलता ही भक्त को साक्षात्कार के लिये प्रेरित करती है। शरीर सम्बन्ध रहने पर भगवत् मिलन सम्भव नहीं। इस कारण जीवन-मुक्त की कल्पना निम्बकाचार्य को मान्य नही। मोक्ष की चेष्ठा मोक्ष नहीं दिला सकती। कर्म ही से मोक्ष सम्भव है। ससार के राग से जीव ससारी बन्धन मे फसता है। इसलिये कर्म दु ख बीज का नाश एव अविद्या के नाश के लिये ही होना चाहिये और उसी प्रकार का योगाभ्यास मुक्ति के द्वारा खोल सकने मे समर्थ हो सकता है।

विष्णु-स्वामी द्वारा प्रचारित सद्-सम्प्रदाय के अन्तर्गत वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत-दर्शन के रूप मे वालम्भ-वेदान्त की रचना की। माया को भगवान की शक्ति मान कर ब्रह्म को ही इन दर्शन-शास्त्रियो ने एक मात्र प्रमेय माना।

ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ठ है। वह अनेक रूपो मे होते हुये भी एक है। स्वतन्त्र होते हुये भी भक्ति के आधीन है। यह ससार ब्रह्म की लीलाओ का क्रीडा स्थल है। ब्रह्म के तीन रूप हैं।

(१) आधि दैविक—परब्रह्म,

(२) आध्यात्मिक—अक्षर ब्रह्म,

(३) आधिभौतिक—जगत,

भगवान को जब रमण की इच्छा होती है, तो वे जीव रूप ग्रहण करते है। जीव भी

(१) शुद्ध,

(२) मुक्त,

(३) ससारी,

रूपो मे अपने कार्य-कलापो से युक्त रहता है। अविद्या का नाश जीव का शुद्ध रूप है। उसके साथ का सम्बन्ध ससारी है, जो देव और आसुर है। मुक्त जीव जीवन्मुक्त होता है। जीव ब्रह्म से भिन्न है, अविद्या के नाश और परमानन्द से सम्मिलन ही मोक्ष का स्वरूप है।

जगत की उत्पत्ति और विनाश सम्भव नही। उसका रूप तो आविर्भाव और तिरोभाव का है। अनुभव योग्य आविर्भाव है, अनुभव योग्य आविर्भाव न होना तिरोभाव है। यह जगत ब्रह्म का क्रीडास्थल है।

भगवान की प्राप्ति भक्ति से सम्भव है। ज्ञान अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति करा सकता है, भक्ति परब्रह्म का रूप दे सकती है।

वल्लभाचार्य का आचार-मार्ग पुष्टि-मार्ग है। भगवान का अनुग्रह ही पुष्टि का द्योतक है।

भक्ति दो प्रकार मे सम्भव है :

(१) **मर्यादा-भक्ति**—भगवान के चरणारविन्द की भक्ति।

(२) **पुष्टि-भक्ति**—भगवान के मुखारविन्द की भक्ति।

मर्यादा-भक्ति मे फल की अपेक्षा भक्ति की इच्छा होती है, पर पुष्टि भक्ति मे किसी प्रकार की इच्छा नही होती। मर्यादा-भक्ति सायुज्य दिला सकती है। पुष्टि-भक्ति पूर्ण मोक्ष दिला सकती है।

पूर्ण मोक्ष ही वल्लभ-सम्प्रदाय का परम लक्ष्य है।

वल्लभाचार्य के ही सामायिक चैतन्य देव ने बगाल मे कीर्तन की रूप रस-माधुरी मे जीव और परमात्मा के भावो मे एकरूपता लाने का सतत प्रयत्न किया।

भगवान अनन्त गणो मे युक्त सत्य काम, सत्य स्वरूप, सर्वज्ञ अन्तर्यामी हैं। उनकी तीन शक्तिया है

(१) स्वरूप शक्ति,

(२) तटस्थ शक्ति,

(३) माया शक्ति,

सत्, चित्, आनन्द से युक्त भगवान का स्वरूप शक्ति सन्धिनी। स्वय सत्ता धारण कर दूसरो को सत्ता प्रदान करना। सवित् —स्वय एव दूसरो को दिया हुआ ज्ञान। ह्लदिनी —स्वय एव दूसरो को दिया गया आनन्द रूपो मे प्रस्फुटित होती है। जीवो के आविर्भाव का कारण, रूप तटस्थ शक्ति है। माया शक्ति प्रकृति एव जगत का निर्माण करती है।

चैतन्य-मत मे जगत सत्य है, क्योकि यह ईश्वर शक्ति का केन्द्र है। प्रलय काल मे भगवान के साथ जगत सूक्ष्म रूप मे रहता है।

भगवान की प्राप्ति भक्ति से ही सम्भव है। मन की शुद्धि, कर्म की शुद्धि से केवल्य ज्ञान तथा विज्ञान का जन्म होता है। ज्ञान सायुज्य-मुक्ति का ही दाता है, परन्तु विज्ञान भक्ति रूप मे बढकर भगवान को अपने वश मे कर लेता है। उनके ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनो रूपो का आनन्द प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी होता है।

इस प्रकार वैष्णव-दर्शन की उपर्युक्त पाच धाराओ ने अपने अन्दर अनेक स्थलो पर अनोखी समता रखते हुये विभिन्नता भी रक्खी। परन्तु सबका लक्ष्य एक ही रहा।

इस प्रकार उपर्युक्त पृष्ठो मे भारतीय-दर्शन की विभिन्न धाराओ का रूप सक्षेप

मे दृष्टिगत होता है। भारत की विभिन्न दर्शन भूमियो के साथ विभिन्न धर्मो एव धार्मिक अनुष्ठानो का सूत्रपात भी हुआ।

वेद से लेकर वेदान्त तक के श्रौत-दर्शन मे सगुण-उपासना, यज्ञ, अनुष्ठान, पशु-बलि, आदि की क्रियायें दृष्टिगत होती रही। जड और चेतन दोनो की पूजा श्रेयस्कर रही।

वेद मे वेदान्त तक और आगे चल कर गीता-दर्शन मे भारत के धार्मिक अनुष्ठानो पूजा, पाठ, आदि की क्रियाओ मे, आस्तिक विचार धाराओ मे किंचित् मात्र भी परिवर्तन नही आया। परन्तु इन सब का विरोध चार्वाक, जैन और बुद्ध-दर्शनो मे होता रहा। धार्मिक पाखण्डों, पशु-बलि का विरोध करते हुये, इन नास्तिक-दर्शनो ने एक सीमा तक भारतीय धार्मिक प्रणाली एव कर्मकाडो को बदल डाला।

जैन एव बौद्ध के रूप मे नवीन धर्मो का जन्म हुआ, जिनकी अपनी अलग मान्यताये विश्वास और कर्म के सिद्धान्त रहे।

षट-दर्शन, शैव-दर्शन, एव वैष्णव-दर्शन पुन भारत की प्राचीन आस्थाओ विश्वासो एव परम्पराओ को अपने साथ लाये और अपने धार्मिक अनुष्ठानो को परिवर्तित रूप देकर सगुणोपासना के कई रूपो को स्वीकार किया। वैष्णव-दर्शन ने विशेषकर इस क्षेत्र मे सक्रिय पग उठाया और वल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टछाप कवियो ने तथा चैतन्य देव ने कृष्ण रूप रस माधुरी के सगुण-पदो के रूपो की सुमधुर रचनायें प्रस्तुत की।

भारत की दार्शनिक विचार-धाराओ मे देखने मे चाहे जितनी बडी विभिन्नता दिखाई पडे परन्तु सभी ने

(१) कर्म सिद्धान्त,
(२) दु ख से निवृति,
(३) अन्ध विश्वास का हनन,
(४) तत्वो का अनुभव,

कर के एक ही शाश्वत समस्या का समाधान किया है। पहेली रूप मे ग्रसित विश्व के गूढतम रहस्यो का आवरण हटा कर उनकी ओर दृष्टि डाली है, जिसने दर्शन और धर्म को एक रूप मे स्वीकार किया है। दर्शन के साथ धर्म है और धर्म के साथ दर्शन।

भारतीय-दर्शन की अविच्छिन्नता भी कम प्रभावोत्पादक नही है। तत्व ज्ञान से विवेचनात्मकता की प्रणाली ने निश्चय ही भारतीय-दर्शन को दिव्य-दृष्टि देकर उसके व्यापक सिद्धान्तो पर अनुभव सहित व्याख्याये कर जीव-जगत के रहस्यो पर मनन, श्रवण द्वारा निराशा और अकर्मण्यता को दूर भगाया।

व्यावहारिक उद्देश्य भारतीय-दर्शन की मूल आत्मा है। वर्तमान के प्रति कही भी कटु विरोध किसी आस्था का विश्वास नही बना। सब ने एक नैतिक अवस्था मे

विश्वास किया। कुछ स्थलो पर चार्वाक-दर्शन इसका अपवाद है। कर्म-सिद्धात के आधार पर मुक्ति-लाभ और मोक्ष भी सभी का उद्देश्य रहा।

सम्भवत यही कारण हुआ कि भारत की प्रमुख दार्शनिक मान्यतायें हजारो वर्षो से भारत के साहित्य एव अन्य सभी ललित कलाओ मे प्रस्फुटित होती रही।

प्रत्येक चिन्तक, साधक एव मनस्वी ने भारत की इन दर्शन निधियो मे लाभ उठाया और इनके रूप, रस, माधुरी मे डूब कर अपनी कृतियो मे उनकी सर्वश्रेष्ठ भावनाओ को उतारा।

सगुण कवियो ने राम-कृष्ण के पद गान करके इन दर्शन व्याख्याओ को प्रकट किया, तो दूसरी ओर निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियो ने शैव, वैष्णव मे होते हुये झगडो को देखकर लाखो-करोडो देवी देवताओ की मूर्तियो पर होते हुये वाद-विवाद को देखकर अत्यन्त दुखित हुये और जब अपने नेत्र बन्द कर उन्होने ध्यान लगाया, तो सगुण रूप की अपेक्षा परमपिता परमात्मा के निर्गुण रूप पर ही अपनी भावनाओ का उभार व्यक्त किया, जो सगुण-रूप का खण्डन करता हुआ भी कल्याणकारी था। उन सब की कविताओ, साखियो एव पदो मे भारतीय-दर्शन की मूलभूत भावनाये बोली और उन सब को भी उस दर्शन भूमि-से एक दृढ प्रेरणाशक्ति का स्रोत मिला जिसने अन्तर के सारे तारो को झकृत कर दिया और सगुण-रूप से दूर निगुण भावो की ओर खीच लाया।

कबीर दास, रैदास, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास, चरनदास, गरीबदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि ज्ञानाश्रयी कवियो एव कवियित्रियो की धारा भी भारतीय-दर्शन का प्रसाद पाकर उतनी ही बलशालिनी बनी जितनी तुलसी, सूर व मीरा की।

निर्गुण-ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्त-कवियो ने साखियो के रूप मे जीव, जगत्, आत्मा, ब्रह्म स्वरूप पर दार्शनिक रूपो मे विचार-विनिमय किया है। साथ ही साथ दु ख, शोक, पीडा, अवसाद, मोह, ग्लानि को दूर कर लोकाचार एव झूठे कर्मकाडो से परे सत्य की आराधना करने मे भी अपनी रचनाओ का विकास किया। सर्व-साधारण के लिये निर्गुण कवि भारतीय-दर्शन की सहस्रो वर्ष पुरानी चली आने वाली परम्परा के ऋणी है।

निर्गुण-धारा के कवियो मे श्रेष्ठ कबीर दास जी साक्षर नही थे, किन्तु उनकी आत्मा से जो भी स्वर साखियो के रूप मे निकले उन्होने विश्व के महान् साहित्यकारो को आश्चर्य मे डाल दिया। मूर्तिपूजा, लाखो देवी-देवताओ की उपासना, जाति-भेद, मास-मदिरा पर कठोराघात करते हुये भी भारत की प्राचीन दार्शनिक परम्परा को का अक्षरश पालन किया। इनके लिये हिन्दू-मुसलमानो मे कोई भेद नही था। सब मे एक ही तो आत्मा है, फिर भेद-भाव या झगडा कैसा ?

ज्ञानाश्रयी कवियो ने गुरु की महिमा का गुणगान खूब किया, क्योकि उनका

विश्वास है कि लक्ष्यसिद्धि बिना गुरु के सम्भव नहीं है। गुरु ही तो साधक को साध्य के पास पहुंचा सकता है। कबीर दास जी के इस कथन में :

गुरु को कीजे दंडवत् कोटि कोटि परनाम।
कीट न जाने भृङ्ग को, वह करि ले आप समान॥

तथा

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय॥[1]

और

गुरु बड़े गोविन्द ते मन में देखु विचार।
हरि सुमरे सो है गुरु सुमिरे सो पार॥[2]

यह गुरु-भक्ति एकलव्य की भावना और निष्ठा का प्रतीक है।

भारतीय-दर्शन की सभी चिन्तनधाराओं ने स्वीकार किया है कि भक्त जब परमात्मा को पा लेता है, तो उसे बराबर परमानन्द की अनुभूति में अनहद नाद ऐसी ध्वनि सुनाई पड़ती है, जिसके आधार से वह परमपिता परमात्मा से साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। कबीर के शब्दों में इसे देखिये :

सुन्न मंडल में घर किया बाजे शब्द रसाल।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल॥[3]

परम पिता से साक्षात्कार करने के लिये अहंकार का दर्प चूर्ण करना चाहिए :

कबिरा गर्व न कीजिए काल गहे कर केस।
क्या जाने कित मारि है क्या घर क्या परदेश॥[4]

शरीर क्षण-भंगुर है, इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, आत्मा ही महान् है। यह भाव कबीर दास ने इस प्रकार प्रकट किया है

यह तन काचा कुम्भ है लिये फिरे था साथ।
टपका लागा फूटिया कुछ नहीं आया हाथ॥[5]

परमपिता ही शक्तिमान हैं, अहंकार और गर्व किसका चिरस्थायी रहा है।

---

१ कबीर ने स्वतः कहा था कि "मसि कागद छूओ नहीं, कलम गह्यो नहि हाथ।" इसी प्रकार अन्य संत-कवियों में भी स्थिति थी। सन्तों में सुन्दरदास सब से विद्वान् थे।

२. सं० बा० सं० भाग १, पृष्ठ २।

३ सं० बा० सं० भाग १, पृष्ठ ८-४।

४. सं० बा० सं० भाग १, पृष्ठ ८-१।

५. सं० बा० सं० भाग १, पृष्ठ १०-२०।

बडे-बडे महान् चिन्तक साधक इस ससार मे आये और चले गये। इसलिये अपने अस्तित्व को पहचानो

माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रौंदे मोहि।
इक दिन ऐसा होइगा, मैं रौंदूंगी तोहि॥[१]

अस्तु भक्ति द्वारा इस असार ससार से मुक्ति पाना ही सत-कवियो का चरम लक्ष्य बना

भक्ति नसेनी मुक्ति की, सन्त चढ़े सब धाय।
जिन जिन मन आलस किया, जनम जनम पछिताय॥[२]

माया सबमे बडी बाधक है, माया के प्रपच मे मनुष्य अपनी आत्मा की महानता को खो देता है। माया अविद्या और अज्ञान का ही रूप है। शकराचार्य के अद्वैत-दर्शन मे माया का विशद चित्रण है। सभी प्रमुख दर्शनो मे अविद्या माया का ही रूप है। निर्गुण-कवियो ने भी भारतीय-दर्शन की इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रक्खा। कबीर के शब्दो मे

(क) **माया छाया एक सी, बिरला जाने कोय।**
भगता के पीछे फिरै, सनमुख भागै सोय॥[३]

(ख) **माया तौ ठगनी भई, ठगत फिरै सब देस।**
जा ठग या ठगनी गई, ता ठग को आदेस॥[४]

तथा (ग) **माया के झक जग जरै, कनक कामिनी लागि।**
कहैं कबीर कस बाचि है, रुई लपेटी आगि॥[५]

कितना स्पष्ट है कि यदि माया रूपी आग, रुई अर्थात् मनुष्य मे लग गई है, तो वह किस प्रकार बच सकता है।

इसी कारण सत कवियो ने कनक, कामिनी, निद्रा, निन्दा, मद्य, मास से दूर रह कर शाश्वत सत्यता की प्राप्ति ही अपना लक्ष्य बनाया। ससार मे सुख-दुख दोनो ही हैं, परन्तु दुख की निवृत्ति ही चरम लक्ष्य को प्राप्त कराने मे सफल हो सकती है यदि यह समझ लिया जाय

---

१ स० बा० स० भाग १, पृष्ठ १०-१८।
२ स० बा० स० भाग १, पृष्ठ १४-८।
३. स० बा० स० भाग १, पृष्ठ ५६-१।
४ स० बा० स० भाग १, पृष्ठ ५७-२।
५ स० बा० स० भाग १, पृष्ठ ५७-६।

देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान से, मूरख भुगतै रोय ॥[1]

तो सभी समस्यायें स्वय ही सुलझ जाती हैं। प्राणी-मात्र सुख-दुःख की पीडा से दूर, शाश्वत-सत्य और परमानन्द की अनुभूति को अपने मे समाविष्ट कर परम-पद का अधिकारी बन बैठेगा।

उपर्युक्त उदाहरण मे कबीर की आत्मा भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास की भूमि बन बैठी है। भारतीय चिन्तन-क्षेत्र मे जितना भी कुछ सोचा गया है, वह कबीर की वाणी मे पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

केवल कबीर ही नही, वरन् सभी निर्गुण सत-कवियो ने भी वही बातें कही हैं, जो हमारे दर्शन-शास्त्र की परम्परायें कहती चली आ रही थी। भारत की समस्त विचारधाराओ का 'मूल-स्रोत' श्रुति ग्रन्थ ही हैं। सत-कवि श्रौत-दर्शन से पूर्णतया प्रभावित थे या नही इसके सम्बन्ध मे दो मत हैं। कुछ उन्हे वेद विरोधी मानते है और कुछ वेद अनुयायी मानते है। इस मतवैषम्य का कारण सतो मे पाई जाने वाली उक्तिया ही हैं। कही पर वेद-शास्त्र की निंदा की और कही पर दुहाई देकर उसके प्रति श्रद्धा प्रकट की है। निन्दात्मक उक्तियो को पकड कर चलने वाले उन्हे वेद-विरोधी मानते हैं।[2] परन्तु हमे इस ओर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि सन्त-कवियो ने वेद निन्दा की ही क्यो? इसका मुख्य कारण था कि सन्त अन्धानुकरण नही करते थे। विचार करने के पश्चात् ही वे किसी बात को सत्य मानते थे। सन्त कबीर के शब्दो मे

वेद कतेब कहो मत झूठा जो न विचारो।

ससार का भ्रमजाल इतना दुरूह है कि यहा ज्ञानी भी अज्ञानी हो जाते हैं। प्राणी परमार्थ का त्याग कर स्वार्थपूर्ति मे ही लग जाते हैं। इस पर भी झूठ ही वेद-वेदान्त का अर्थ विचारने का ढोग रचते है, माया-मोह को नहीं जानते है।[3] वेदो की उपेक्षा का एक कारण और भी था, वेदो का विस्तार संतो ने कहा है कि

---

१ स० बा० स० भाग १, पृष्ठ ६४।१२।

२ बिहारवाले दरिया साहब की यह उक्ति
द्वोचक औचारि चतुर दल वेद मत अरुझाना।

३ जग के करम बहुत कठिनाई।
ताते भरमि भरमि जहडाई।
ज्ञानवन्त अज्ञान होत है बढे करत लरकाई।
परमारथ तजि स्वारथ सेवहिं यह धौ कौनि बडाई।
वेद वेदान्त को अर्थ विचारहिं बहु विधि रुचि उपजाई।
माया मोह ग्रसित निस बासर, कौन बडो सुखदाई।
भीखा साहब की बानी—पृष्ठ २।

वेद वहुत विस्तार है नाना विधि के शब्द ।
पढ़ते पार न पाइये जो बीते बहु अब्द ।।[1]

इन्ही कारणो से सन्तो ने श्रुतियो के प्रति उदासीनता के भाव प्रकट किये हैं, परन्तु इसके यह अर्थ नही है कि वे उसके प्रति श्रद्धा ही नही रखते थे ।

यथार्थ मे सन्त-कवि उनकी विचारधारा से प्रभाविन थे, जैसा कि कवीर की "वेद कतेव कहहु मत झूठा" वाली उक्ति से स्पष्ट हो जाता है । सत वेदों के प्रति भी श्रद्धा रखते थे । सन्त सुन्दरदास के शब्दो मे तो वेद की मान्यता पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाती है

वेद सार तत्व सार सिम्रित पुराण सार
ग्रन्यन को सार सोई हृदय महि आन्यो है ।[2]

सन्त भीखा ने वेद को प्रमाण मानते हुये लिखा है

कहत है वेद वेदान्त सन्त पुनि गुरु कान मह टेरा ।
भीखा भाग बिना नहिं देखत निकट हि दीप अन्धेरा ।।[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-कवि वेद एव वेदान्त पर श्रद्धा रखते थे और उस विचारधारा से प्रभावित थे ।

वैष्णव विचारधारा के प्रति सन्तो की पूर्ण श्रद्धा थी । वे उससे अत्यधिक प्रभावित हुये थे । अनेक स्थलो पर इन कवियो ने वैष्णवो की प्रशसा की है । सुन्दरदास ने तो यहाँ तक लिखा है "सुन्दर विष्णु को भज विष्णु मे समाइये"

निर्गुण सन्त-कवि भारतीय दर्शन-धारा की समस्त चिन्तन धाराओ से प्रभावित थे । उन्होने अपने समय की लोक प्रचलित विचारधाराओ के सारभूत सिद्धान्तो को ग्रहण किया था । अन्य व्यर्थ की वातो को छोड दिया था । उनकी आलोचनात्मक उक्तियाँ शेष सिद्धान्तो को ध्यान मे रख कर कही गई हैं ।

'साखियो' एव 'शब्द' मे निर्गुण कवियो ने अपने विचार प्रकट किये और मानव मात्र को चेतावनी देकर सच्चा पथ-प्रदर्शन किया । इनमे भारतीय-दर्शन के मूल-सिद्धान्तो को काव्य-रूप मे उतारा गया है ।

(१) गुरु महत्व,
(२) नाम एव रूप महिमा,
(३) अनहद-नाद,
(४) चेतावनी,
(५) भक्ति,
(६) लव,
(७) प्रेम,
(८) विश्वास,
(९) दुविधा,
(१०) सामर्थ्य,

---

१ सन्त-सुधा-सार—पृष्ठ ५३२ ।
२. सुन्दर-विलास—पृष्ठ १० ।
३. भीखा साहब की वानी, पृष्ठ ३७ ।

(११) विनय, (१२) मन.चिन्तन,
(१३) साध-असाध का भेद, (१४) भेष,
(१५) समदृष्टि, (१६) सहज,
(१७) सार एव असार गहनी, (१८) सूक्ष्म-मार्ग,
(१९) सजीवन (२०) मौन,
(२१) पारख, (२२) परिचय,
(२३) अनुभव-ज्ञान, (२४) वाचक ज्ञान,
(२५) उपदेश, (२६) करनी और कथनी,
(२७) सत्य, (२८) उदारता,
(२९) सहनशीलता, (३०) शील,
(३१) क्षमा, (३२) दया,
(३३) सन्तोष, (३४) धीरज,
(३५) दीनता, (३६) विचार,
(३७) विवेक, (३८) काम,
(३९) क्रोध, (४०) लोभ,
(४१) मोह, (४२) कपट,
(४३) आशा, (४४) तृष्णा,
(४५) मन, (४६) आत्मा,
(४७) माया, (४८) कनक-कामिनी,
(४९) निद्रा, (५०) निन्दा,
(५१) मास आहार, (५२) नशा,
(५३) सादा जीवन, (५४) अहकार,
(५५) ब्रह्म, (५६) अद्वैत।

आदि विषयो पर मानव का ध्यान आकर्षित कर, मानव-मात्र के लिये सहज ज्ञान मे प्राप्त मोक्ष का मार्ग खोल दिया। भारतीय-दर्शन की प्रत्येक शाखाओ प्रशाखाओ ने भी उपर्युक्त विषयो पर गहनता के साथ विचार किया है, और उचित अनुचित का निर्णय करते हुये मानव-मात्र को दु ख से निवृत्ति का उपदेश देकर मुक्ति मार्ग तक पहुचाया। ठीक उसी प्रकार निर्गुण-कवियो ने भी भारतीय दर्शन-शास्त्र की शाखाओ एव प्रशाखाओ मे निहित सूक्ष्म सूक्तियो को अपने दृष्टिकोण से ग्रहण कर काव्य मे अविद्या माया का आवाहन करते हुये मानव के लिये मोक्ष का मार्ग खोला। अस्तु, निर्गुण काव्य-धारा की सामाजिक एव सास्कृतिक पृष्ठ-भूमि मे भारतीय-दर्शन की चिन्तन-धारा की अमूल्य थाती निहित है।

निर्गुण-सम्प्रदाय का विकास और प्रसार अनेक पथो मे हुआ। इन पथो और सम्प्रदायो द्वारा समय-समय पर निर्गुण-ब्रह्म के व्यापक एव अलौकिक रूप का उपदेश जनता मे प्रसारित हुआ। इन पथो ने पुरोहितवाद, जातिवर्ण की सकीर्णता, शोषण

और असमानता को दूर करने के लिये भाति-भाति मे उपदेश दिये और जनता के हेतु एक ऐसे पथ का मार्ग प्रशस्त किया, जहाँ सव समान, एव महान और एक ही परमपिता की सन्तान थे। इन सम्प्रदायो ने सकीर्णता, जातीयता, क्षुद्र, हीन भावनाओं, वाह्याचारो और परम्परा से चली आती हुई परिपाटियो के विरुद्ध डटकर विद्रोह किया। इन पथो और सम्प्रदायो ने अपने-अपने समय मे जनता के अभ्युत्थान और पुर्ननिर्माण मे आशातीत योग-दान प्रदान किया। इन पथो और सम्प्रदायो मे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं

(१) कवीर-पथ, (२) नानक-पंथ,
(३) लाल-पथ, (४) दादू-पथ,
(५) निरजनी-सम्प्रदाय, (६) वावरी-पथ,
(७) मलूक-पथ, (८) वावालाली-सम्प्रदाय,
(९) धामी-सम्प्रदाय, (१०) सत्तनामी-सम्प्रदाय,
(११) दरियादासी-सम्प्रदाय, (१२) दरियापथ-सम्प्रदाय,
(१३) शिवनारायणी-सम्प्रदाय, (१४) चरणदासी-सम्प्रदाय,
(१५) गरीब-पथ, (१६) रामसनेही-सम्प्रदाय।

अव हम यहा पर इन पथो एव सम्प्रदायो का सक्षिप्त परिचय और विवरण प्रस्तुत करेंगे

कवीर-पथ

कवीर-पथ का परिचय देते हुये प० परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि "इसमे सन्देह नही कि कवीर साहव के जीवन-काल मे ही उनके अनेक अनुयायी वन चुके थे, किन्तु फिर भी इतना निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है कि उनकी सहायता से इन्होंने किसी पथ विशेष के निर्माण का आयोजन भी किया था। सच तो यह है, कि कवीर साहव ने सदा एक अत्यन्त सार्वभौमिक धर्म का ही उपदेश दिया था, जिसे किसी प्रकार का साम्प्रदायिक रूप देने की आवश्यकता न थी और न उनका कोई पथ चलना अथवा उसे सगठित कर उसके प्रचारार्थ अपने शिष्यो को नियुक्त करना कोई अर्थ ही रखता है। उनके शिष्यो मे से भी कम से कम एक अर्थात् कमाल उन्हींकी भाँति पथ रचना के विरुद्ध थे, जैसा कि हम उनके प्रसग मे दिखा आये हैं।"[1] इतना होने पर भी कवीर-पथ की स्थापना हुई। कवीर के स्वर्गारोहण के कुछ ही पश्चात् कवीर-पथ के नाम पर अनेक प्रकार के सगठन हुये। इन सगठनो के तत्वावधान मे अनेक तीर्थों मे पृथक-पृथक मठों एव गद्दियों की स्थापना हुई। विक्रम की अठारहवी शताब्दी के अन्त तक उत्तर-प्रदेश से लेकर मध्य-प्रदेश, उडीसा, गुजरात, काठियावाड, वडोदा, विहार तक कवीर-पथ की अनेक शाखाए, उपशाखाए

---

१. उत्तरी भारत की सत-परम्परा, पृष्ठ २६१–२६२।

फैल चुकी थी। कबीर-पंथियो की ठीक-ठीक संख्या का अनुमान लगाना कठिन है, परन्तु फिर भी कबीर-पंथियो का प्रसार आज भी देश के कोने-कोने मे है। यहा तक कि हमारे युग-प्रवर्तक महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी भी कबीर-पंथी आदर्शो से बहुत अंशो मे प्रभावित थे। कबीर-पंथ के प्रमुख प्रवर्तको मे सुरत गोपाल विशेष उल्लेखनीय है। ये कबीर के शिष्य थे और इन्होने ही कबीर चौरायाली शाखा को प्रचलित किया था। कबीर-चौरायाली शाखा के अतिरिक्त कबीर-पंथ की अन्य शाखा है, छत्तीसगढी शाखा, जिसके प्रवर्तक धर्मदास थे। इन दो प्रमुख शाखाओ के अतिरिक्त कबीर-पंथ की अन्य शाखाए भी उल्लेखनीय है। ये हैं, कटक मे प्रचलित 'साहेबदासी-पंथ', काठियावाड मे वर्तमान 'मूलनिरंजन-पंथ', बडौदा का 'टकसारी-पंथ', भडोच मे पाया जाने वाला और तत्वाजीवा द्वारा प्रवर्तित 'जीवा-पंथ'।

कबीर-पंथ का प्रारम्भिक क्षेत्र पूर्वी उत्तर-प्रदेश, विहार, उत्कल एव मध्य-प्रदेश की सीमा थी। अपने समय मे कबीर-पंथ का जनता पर व्यापक प्रभाव पडा।

सिक्ख-धर्म या नानक-पंथ

कबीर-पंथ के अनन्तर निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने वाले पंथो मे नानक-पंथ या सिक्ख-धर्म विशेष उल्लेखनीय है। इसके संस्थापक गुरु नानक देव थे। इनका जन्म विक्रमीय संवत् १५२६ के वैशाख मास शुक्ल पक्ष की तृतीया को राइभोइ की तलवडी गांव मे हुआ था। गुरु नानकदेव के अनन्तर गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय, गुरु हरकृष्णराय, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्द सिंह, वीर बन्दा बहादुर, आदि ने सिक्ख-धर्म के आदर्शो का प्रचार जनता मे किया।

सिक्ख-धर्म का विकास अनेक सम्प्रदायो मे हुआ। उदाहरणार्थ 'उदासी सम्प्रदाय', 'सहजधारी', 'भगत-पंथी', 'गुलाबदासी - सम्प्रदाय', 'निर्मला', 'नामधारी-सम्प्रदाय', 'सथुराशाही-सम्प्रदाय', 'निरंजनी-सम्प्रदाय', 'मीना-पंथी', 'रामैया-पंथी', तथा 'हदली-सम्प्रदाय'।

कबीर-पंथ के अनन्तर नानक-पंथ सबसे व्यापक और बडा सम्प्रदाय है। नानक-पंथ, संत-मत के सभी सम्प्रदायो मे सबसे अधिक सुसंगठित, सजीव और व्यापक है।

लाल-पंथ

लाल-पंथ संस्थापक संत लालदास का जन्म संवत् १५९७ मे अलवर राज्यान्तर्गत स्थित धोली धूप गांव मे हुआ था। ये मेवो परिवार मे उत्पन्न हुये थे। लाल-पंथ के अनुयायी अलवर राज्य और उसके निकट प्रदेशो मे पाये जाते है। इस पंथ के अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनो जातियो के लोग हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायियो का रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-विचार, हिन्दुओ जैसा है। इस सम्प्रदाय मे

'राम' नाम जप और कीर्तन को बडा महत्व दिया जाता है। इस सम्प्रदाय मे पूजित ब्रह्म को राम ही कहा जाता है। लाल-दासी सम्प्रदाय मे आचार-शुद्धि, विचारो की पवित्रता और रहन-सहन के सयम पर बहुत जोर दिया जाता है। लाल पथी व्यक्ति बडे सरल स्वभाव और अनुरागी होते है।

दादू-पंथ

दादू-पथ के प्रवर्तक सत-कवि दादू थे। इनका जन्म समय फाल्गुन सुदी वृहस्पतिवार स० १६०१ माना जाता है। दादू का मृत्यु-स्थान नाराना ग्राम है और नाराना ही दादू-पथियो का मुख्य तीर्थ-स्थान माना जाता है। दादू-पथ के स्थापना काल के विषय मे प० परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि, "दादू दयाल अपने देश भ्रमण से लौट कर लगभग स० १६३० से साभर मे रहने लगे और वही पर उन्होंने अपने पथ के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम कार्य करना प्रारम्भ किया तथा उसके लिये अपने अपने अनुयायियो की बैठक भी नियम पूर्वक कराने लगे। ये लोग पहले इनके साथ ब्रह्म की उपासना के लिये एकत्र हुआ करते थे, और सतसग मे लाभ उठाया करते थे। उनका 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' ही आगे चल कर "परब्रह्म सम्प्रदाय" के नाम से प्रसिद्ध हुआ, और उसीको आज तक दादू-पथ नाम भी दिया जाता है।"[1] दादू-पथ राजस्थान का प्रमुख पथ है। राघोदास ने अपनी 'भक्तमाल' मे दादू के ५२ शिष्यो की सूची का उल्लेख किया है। इनमे से रज्जब, छोटे, सुन्दरदास, गरीबदास, हरिदास, निरजनी, प्रागदास, जगजीवनदास, वाजिद जी, बनवारी दास, मोहन दास, सतदास, जगन्नाथ दास, क्षेमदास, चपाराम, बडे सुन्दरदास, बषना जी, घडसीदास, माधोदास, शकरदास, जाइसा, जैमल, जग्गा जी, मिस्कीन दास, तथा चतुरभुजी प्रमुख हैं। दादू की विचारधारा पर कबीर दास का प्रचुर प्रभाव है।

दादू-पथ के महन्त जैतराम के समय मे ग्रथ के भीतर अनेक उप-सम्प्रदायो का आविर्भाव हुआ। ये उपसम्प्रदाय थे खालसा, नागा, उत्तरगढी, विरक्त और खाकी।

निरजनी-सम्प्रदाय

निरजनी-सम्प्रदाय का मूल-स्रोत नाथ-पथ है। इस सम्प्रदाय का कोई प्रामाणिक इतिहास नही उपलब्ध है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि "इसका बहुत कुछ प्रभाव उडीसा प्रान्त मे किसी न किसी रूप मे अभी तक वर्तमान है, और सत्रहवी शताब्दी (विक्रम) के मध्य काल मे स्थापित सिलहट के कतिपय पथ भी इसके द्वारा अनुप्राणितजान पढते है।"[2] आचार्य क्षितिमोहन सेन का मत है कि 'निरजनी-सम्प्रदाय के मत का प्रचार सर्व-प्रथम उडीसा से प्रारम्भ होकर पूर्व की

---

१ उत्तरी भारत की सत-परम्परा, पृष्ठ ४१५–४१६।

२. उत्तरी भारत की सत परम्परा, पृष्ठ ४६०-४६१।

ओर पहुचा होगा'[1] प्रचलित है कि इसके प्रवर्तक स्वामी निरजन भगवान निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे।[2] स्वामी निरजन भगवान का कोई परिचय नही उपलब्ध होता है। डाक्टर वडथ्वाल का मत है कि निरजन-सम्प्रदाय को नाथ-पथियो एव निर्गुण-कवियो के बीच की एक लडी मानना चाहिये। निरजन-सम्प्रदाय के प्रमुख बारह प्रचारक थे। इनके नाम इस प्रकार है :

लपट्यो जगनाथदास, स्वामदास, कान्हडदास, ध्यानदास, पेमदास नाथ, जगजीवन, तुरसीदास, आनदास, पूरण दास, मोहनदास और हरिदास।

वावरी-पथ

निर्गुण-धारा मे सम्बन्धित सम्प्रदायो मे वावरी-पथ का विशेष महत्व है। इस पथ का विस्तार क्षेत्र बडा व्यापक है। इसका विस्तार क्षेत्र दिल्ली एव उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिले है। इस पथ मे अनेक उच्च कोटि के साधक हुये जिन्होने अपने स्वतत्र सम्प्रदायो को भी जन्म दिया। इस पथ का श्री गणेश उत्तर-प्रदेश के गाजीपुर जिले मे हुआ था, किन्तु इसकी अन्तिम रूपरेखा दिल्ली मे निर्मित हुई। इस पथ के पांच प्रचारको ने इसको किसी भी प्रकार मे सगठित करने का प्रयत्न नही किया। इस पथ की चतुर्थ प्रवर्तिका वावरी साहिबा थी, जिनके नाम पर पथ का नाम करण हुआ। अनुमानत ये दादू और हरिदास निरजनी की समकालीन थी। वीरू साहब, यारी साहब, केशवदास, सूफी शाह, हरलाल साहब, गोविन्द साहब, पलटू साहब, इस पथ के प्रमुख साधक थे। इस पथ के कवियो ने प्रचुर साहित्य की रचना की। साहित्य के क्षेत्र मे दादू-पथ और वावरी-पथ के कवियो ने समान रूप से योग दिया है।

मलूक-पंथ

इस पथ के सस्थापक कडा (प्रयाग निवासी) मलूक दास थे। जिनका जन्म-सवत् १६३१ वि० माना जाता है। इनके भानजे सथुरादास ने 'मलूक-परिचयी' नाम से इनकी जीवनी लिखी थी। इनके गुरु थे विट्ठल दास द्रविड। इनके प्रमुख शिष्य थे, दयालदास कायस्थ, हृदयराम, गोमतीदास, मोहनदास, पूरनदास और रामदास। मलूक दास के भतीजे रामसनेही उनके अनन्तर गद्दी पर वैठे। रामसनेही के अनन्तर कृष्ण सनेही, कान्हग्वाल, ठाकुरदास, गोपालदास, कुज विहारीदास, रामसेवक, शिवप्रसाद, गगाप्रसाद और अयोध्याप्रसाद महन्त हुये।

वावालाली-सम्प्रदाय

पजाव-प्रान्त मे चार प्रसिद्ध महात्माओ का आविर्भाव हुआ, जिनके नाम वावालाल

१ मिडीवियल मिस्टीसिज़्म आफ इन्डिया, पृष्ठ ७०।

२ कवीर—डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ५२।

थे। बाबालाली-सम्प्रदाय के संस्थापक बाबालाल वे थे, जिनका दारा शिकोह से सम्पर्क स्थापित हुआ था। कहा जाता है कि ये बाबालाल-मालवा प्रान्त मे किसी खत्री दम्पति से उत्पन्न हुये थे। बाबालाली-सम्प्रदाय के अनुयायियो के मत से इनका जन्म स० १४१२ की माघ शुक्ल द्वितिया है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सीमा-प्रान्त की ओर बहुत सख्या मे पाये जाते है। बडौदा के निकट इनका एक मठ है, जिसे 'बाबालाल का शैल' कहा जाता है। इनका प्रधान केन्द्र पजाब प्रान्तान्तर्गत गुरुदासपुर जिले का श्री ध्यान पुर गाव है, जो सरहिन्द के निकट है।

धामी-सम्प्रदाय

धामी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक सत प्राणनाथ थे। प्राणनाथ ने हिन्दू-मुसलमानो के धर्म-ग्रथो का अध्ययन करके, उनके सामान्य तत्वो को सग्रहीत करके, एक नवीन विचार-धारा को लेकर एक नवीन सम्प्रदाय को स्थापित किया, जो धामी-सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है। इस प्रकार के सम्प्रदाय की स्थापना की प्रेरणा इन्हे देवचन्द साधु से मिली थी। प्राणनाथ द्वारा रचित ग्रथो की सख्या १४ बतलाई जाती है। इनकी रचनाए इस प्रकार हैं

'राम ग्रथ', 'प्रकाश ग्रन्थ', 'पटऋतु', 'कलस सम्बन्ध', 'किरतन', 'खुलासा', 'खेलबात', 'प्रकरण', 'इलाही', 'दुलहन', 'सागर सिंगार', 'बडे सिंगार', 'सिंधि भापा', 'मारफत सागर', तथा कयामत नामा।

सत्तनामी-सम्प्रदाय

डा० बडथ्वाल के मतानुसार इस सम्प्रदाय के मूल-प्रवर्तक दादू-पथी जगजीवन-दास थे। कुछ विद्वानो का मत है कि इसके प्रवर्तक साध-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक वीरभान थे। अन्य विद्वानो के अनुसार इस सम्प्रदाय का प्रचार जोगीदास द्वारा हुआ। इसकी तीन शाखाए प्रचलित हैं। प्रथम है नारनौल की शाखा और दूसरी कोटवा की शाखा, तीसरी छत्तीसगढी शाखा। सत्तनामी-सम्प्रदाय मे अनेक विचारको और कवियो का आविर्भाव हुआ, जिनमे जगजीवन दास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होने हिन्दू-मुसलमानो मे कोई भेद-भाव नही रखा और दोनो को समान रूप मे शिक्षा प्रदान की। इनके प्रमुख हिन्दू शिष्य थे, दूलन दास, देवीदास, गुसाई दास, खेमदास तथा उपाध्याय।

दरियादासी-सम्प्रदाय

दरिया नाम से एक ही समय मे दो सन्त-कवियो का आविर्भाव हुआ। प्रथम थे मारवाड वाले दरिया साहब तथा द्वितीय थे बिहारवाले दरिया साहब। यहाँ पर [illegible]रा तात्पर्य बिहारवाले दरिया साहब से है। इनके पिता उज्जैन-वशी क्षत्रिय [illegible] मालवा से आकर बिहार-प्रान्त मे बस गये थे। इनका समय कार्तिक सुदी

१५ स० १६६१ बताया जाता है। मृत्यु के समय इनकी अवस्था १४६ वर्ष की थी। इन्होने अनेक ग्रथो की रचना की, जिनमे मे 'प्रेममूल', 'ज्ञानरत्न', 'भक्ति हेतु', 'मूर्ति उखाड', 'ज्ञानस्वरोदय', 'दरिया सागर', 'ज्ञान दीपक', 'ब्रह्म विवेक', 'अमर सार', 'निर्भय ज्ञान', 'सहस्रानी', 'ज्ञान माला', 'दरिया नामा', तथा 'अग्रज्ञान' है। इस पथ पर भी कबीर की विचार-धारा का प्रचुर प्रभाव पडा है। इनके सम्प्रदाय का प्रसार बिहार-प्रान्त में बडे व्यापक रूप मे हुआ है। इस सम्प्रदाय मे ब्रह्म सत्-पुरुष के रूप मे पूजित हुआ है। स्वरोदय साधना इस सम्प्रदाय की प्रमुख प्रक्रिया है।

दरिया-पथ

दरिया साहब (मारवाड के) मुसलमान जाति के वशज थे। एक स्थान पर आत्म-परिचय देते हुए इन्होने कहा है :

जो धुनियां तो भी मैं राम तुम्हारा,
अधम कमीन जाति मति हीना,
तुम तो हो सिरताज हमारा।

इनका जन्म मारवाड़ के जैतारन नामक गाव मे भादो वदी अष्टमी स० १७३३ को हुआ था। प्रसिद्ध है कि ८२ वर्ष की आयु पाकर इनका निधन हुआ। इनकी रचनाओ का सकलन वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। जनश्रुति है कि दरिया साहब सन्त दादू के अवतार थे। इनके दीक्षा गुरु थे प्रेम दयाल, जैसा कि निम्नलिखित कथन से प्रकट होता है

सतगुरु दाता मुक्ति का दरिया प्रेम दयाल।

शिवनारायणी-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के सस्थापक शिवनारायण साहब थे। इनकी जन्म-तिथि और मरणकाल अभी तक निश्चित नही हो पाया है। प० परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि "इनका जन्म काल स० १७६७ मे कम से कम १०-१५ वर्ष पहले ले जाकर उसे स० १७५० के लगभग अनुमान करना कदाचित् अधिक युक्तिसगत प्रतीत होगा।" इनके गुरु का कोई निश्चित पता नही है। परन्तु ये बडे गुरु-भक्त थे। कहा जाता है कि इनके गुरु दु खहरन दास थे। इनके ग्रथो की सख्या ग्यारह है। महर्षि शिवव्रतलाल के अनुसार ये ग्रथ निम्नलिखित हैं

'ग्रथ', 'मत विलास', 'भजन ग्रथ', 'सत सुन्दर', 'गुरुन्यास', 'सत अचारी', 'सत उपदेश', 'शब्दावली', 'सत परवान', 'सत महिमा', 'सतसागर।' इस सम्प्रदाय मे परमात्मा को निराकार एव सर्वगुणातीत माना गया है, और सन्त शिवनारायण पृथ्वी पर उसके प्रतीक समझे गये हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सभी लोग हो सकते हैं, चाहे वे हिन्दू हो या मुसलमान। इस सम्प्रदाय मे चार प्रमुख मठ हैं, जो "चारधाम" के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये ससना बहादुरपुर भेलसरी, चदवार एव गाजीपुर मे स्थित हैं।

चरनदासी-सम्प्रदाय

सन्त चरनदास अलवर राज्य के अन्तर्गत स्थित डेहरा ग्राम के निवासी थे। इनके गुरु का नाम शुकदेव तथा पिता का नाम मुरलीधर था। वाल्यावस्था से ही ये वडे भक्त, श्रद्धालु और सरल हृदय थे। इनके प्रिय शिष्य रामरूप मे इनकी जीवनी वडे सुन्दर शब्दो मे व्यक्त की है। 'ब्रज चरित', 'अमरलोक अखडधाम वर्णन', 'धर्म जहाज', 'अष्टागयोग वर्णन', 'योगसन्देह सागर', 'ज्ञान स्वरोदय', 'पचोपनिषद्सार', 'भक्तिपदार्थ वर्णन', 'मनविकृतकरण गुटक सार', 'ब्रह्म ज्ञान-सागर', 'शब्द' तथा 'भक्ति सागर' इनकी प्रमुख रचनायें हैं। योग, भक्ति और ब्रह्म-ज्ञान से सम्वन्धित इनकी रचनाए वडी हृदयग्राही है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी विरक्त और गृहस्थ दोनो होते है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी पीला वस्त्र पहनते है, गोपी चन्दन का एक लम्वा तिलक ललाट पर धारण करते है और तुलसी की माला एव सुमिरिनी भी अपने पास रखते हैं। इनकी टोपी छोटी एव नुकीली होती है, जिस पर पीला साफा भी वाँध लेते हैं। चरनदास की श्रद्धा गुरु पर अपार थी। वे कहते हैं

राम तजू पै गुरु न विसारू,
गुरु के सम हरि को न निहारू।

इनके सम्प्रदाय का विशेष प्रचार दिल्ली, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश और विहार प्रान्त हैं।

गरीब-पथ

इस पथ के प्रवर्तक सन्त गरीवदास रोहतक जिले की तहसील झज्जर के छुडानी नामक गाव मे स० १७७४ की वैशाख सुदी १५ को उत्पन्न हुये थे। प्रसिद्ध है कि वारह वर्ष की अवस्था मे जव ये गाय चरा रहे थे, उस समय इन्हे कवीर साहव ने दर्शन दिये। गरीबदास ने आमरण गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया। इन्होंने साधुओ का वेष कभी नही धारण किया। इनके देहान्त के वाद इनके प्रमुख शिष्य सलोतजी गद्दी पर वैठे। गरीवदास चरनदासी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक सत चरनदास के शिष्य थे। गरीवदास ने कवीर के प्रति वडी श्रद्धा प्रकट की है। इन्होने परमात्मा को सत्तपुरुष नाम दिया है। उनकी दृष्टि से वह ब्रह्म निराकार, निर्लेप, निर्विशेष, निर्गुण, अकल, अनूप, अनादि, अन्त है। इनके पथ का विकास और प्रसार पजाव और दिल्ली प्रान्त मे विशेषकर हुआ।

रामसनेही-सम्प्रदाय

सन्त रामचरन का जन्म जयपुर राज्य ढूढण प्रदेश के सूरसेन गाव मे स० १७७६ की माघ सुदी १४ को हुआ था। इनके गुरु का नाम महात्मा कृपाराम था। कृपाराम जी सन्तदास के शिष्य थे, जो स्वामी रामानन्द जी के शिष्य अनन्तानन्द

के शिष्य कृष्ण दास पयहारी के भी शिष्य अग्रदास की पाचवी पीढी मे थे। सन्त रामचरन ने स० १८२५ मे रामसनेही-सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इनकी विचारधारा पर रामानन्दी-सम्प्रदाय का प्रचुर प्रभाव था। इनके मत से ब्रह्म

निस्नेही निर्वैरता निराकार निराधार।
सकल सृष्टि मे रमि रह्यो ताको सुमिरन सार।

रामसनेही-सम्प्रदाय मे ब्रह्म सर्व-शक्तिमान और सृष्टि का पालक, सहारक, तथा विधायक माना गया है। इस पथ मे निर्गुण राम की नाम-साधना पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

इस्लाम एवं सूफी-दर्शन और उसका योगदान

सातवी शताब्दी के प्रारम्भ मे अरब देश के इतिहास मे एक नवीन युग का सूत्र-पात हो रहा था। इस नवीन युग के प्रवर्त्तक हज़रत मुहम्मद थे। मुहम्मद से पूर्व अरब देश अनेक छोटे-छोटे राज्यो मे विभाजित था। ये राज्य परस्पर सघर्ष किया करते थे। उनके मध्य राजनैतिक एव राष्ट्रीय एकता का अभाव था। उस समय अरब देश धार्मिक दृष्टि से भी पिछडी हुई एव अविकसित दशा मे था। हज़रत मुहम्मद ने अरब की इस ह्रासमान दशा मे सुधार किया। उन्होने सामान्य जनता को बताया कि अल्लाह (ईश्वर) एक है, जो निराकार है। उसका कोई आकार नही है, और न जिसकी पूजा के लिये मन्दिर अथवा मस्जिद की ही आवश्यकता है। सब मनुष्यो का वही एक निर्माता है। इसलिए मानव-समाज मे भेद-भाव अनावश्यक और अपमानजनक हैं। इसी कारण इस्लाम के अनुयायियो मे भेद-भाव की भावना के लिए कोई अवकाश नही है। इस्लाम मे सब 'बिरादरे-इस्लाम' माने जाते है।

मुहम्मद के विचारों का प्रारम्भ मे बहुत विरोध हुआ। परन्तु कुछ ही समय मे समस्त अरब मुहम्मद का अनुयायी हो गया। मुहम्मद ने जिस नवीन धर्म का प्रारभ किया, उसे 'इस्लाम धर्म' कहते है। इस्लाम 'अरबी' भाषा का शब्द है, इसका अर्थ 'शाति मे प्रवेश करना' होता है। अत मुसलमान वह व्यक्ति हुआ, जो परमात्मा और मनुष्य के साथ पूर्ण शाति का सम्बन्ध रखता हो। इस प्रकार 'इस्लाम' शब्द का लाक्षणिक अर्थ होगा वह धर्म जिसके द्वारा मनुष्य भगवान की शरण लेता है तथा अन्य मनुष्यो के प्रति अहिंसा एव प्रेम का व्यवहार करता है।[1] मुहम्मद उसका रसूल है। प्रत्येक मुसलमान जिस प्रकार अल्लाह मे विश्वास करता है, वैसे ही रसूल

---

१. मोहम्मद अली–रेलिजन आफ इस्लाम।

मे भी विश्वास स्थापित करना उसके लिए आवश्यक है। ईश्वर और रसूल को न मानना कुफ़ है तथा कुफ़ करने वाला काफिर है।

शनै शनै इस्लामी झडे का उत्कर्ष होने लगा। इस्लामी पताका पूर्व की ओर बढने लगी। विदेशियो के आक्रमण भारत के लिए सामान्य बात हो गई। अरबो और तुर्कों से पहले भी अनेक विदेशी जातियो ने विजेता के रूप मे भारत मे प्रवेश किया था। यवन, शक, कुषाण, हूण आदि कितनी ही जातियो ने भारत के अनेक प्रदेशो पर विजय प्राप्त करके, यहा अपने राज्य की स्थापना की थी। राजनैतिक दृष्टि मे ये जातिया चाहे विजयी ही रही हो, परन्तु धर्म, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र मे ये जातिया भारतीयो द्वारा परास्त हुई थी। इस्लाम मे एक अद्भुत जीवनी-शक्ति थी। वह नवीन महत्वाकाक्षाओ को लेकर ही अपनी शक्ति के विस्तार मे तत्पर थी। इस्लाम के अनुयायी ईश्वर की सत्ता मे विश्वास रखते थे और मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे। इतना ही नही, मूर्तियो का भजन करने मे वे गौरव का भी अनुभव करते थे। इस युग के मुसलमान धर्मों के समन्वय और सामञ्जस्य को लेशमात्र महत्व नही देते थे। जो मुसलमान नही है, वह काफिर है और जो इस्लाम को स्वीकार कर लेता है, वह हमारा एक अग है। उस समय इस्लाम का उद्देश्य सम्पूर्ण विश्व को अपने रग मे अनुरजित करना था। मुसलमान बन जाने के बाद ऊँच-नीच, छुआछूत का भेद-भाव नही रह जाता था।

भारतवर्ष के प्रमुख धर्मों मे हिन्दू-धर्म की गणना होती है। परन्तु विश्वास के क्षेत्र मे हिन्दू-धर्म प्रमुख होते हुये भी भेद-भाव के अभिशाप से ग्रस्त था। इस्लाम-धर्म कम से कम इस प्रकार के दोषो से अभिशप्त नही था। यह बात बडे महत्व की थी कि इस्लाम मे हर व्यक्ति सामाजिक और धार्मिक दृष्टि मे समान स्थिति का अधिकारी था।

मुसलमानो के सम्पर्क मे आने के बाद हिन्दुओ को अपने धर्म और समाज की विषमताओ का परिज्ञान हुआ। उन्होने देखा कि इस्लाम मे हर व्यक्ति समान स्थिति का उपभोक्ता है, और हिन्दू-जाति पग-पग पर भेद-भाव के कारण दुखी और शोषित है। इसीलिये हिंदुओ को इस्लाम-धर्म बहुत कुछ अशो तक आकर्षक प्रतीत होने लगा। हिंदू-धर्म का परित्याग कर, इस्लाम-धर्म को स्वीकार कर लेने मात्र से ही वे अछूतो की हीन स्थिति से ऊपर उठ सकते थे, और साथ ही शासक-श्रेणी मे भी सम्मिलित हो सकते थे। इस कारण मुसलमानो को भारत मे अपने धर्म-प्रसार का बहुत ही अच्छा अवसर मिला।

ज्यो ज्यो इस्लाम का विकास और उत्तरोत्तर उन्नति होती गई, त्यो-त्यो भारत-वर्ष मे हिंदू-धर्म एव हिंदुओ की साधना शिथिल, पथभ्रष्ट और दुरूह होती गई। हिंदू-धर्म के सहज एव सरल रूप मे भांति-भाति की गुह्य साधना, तन्त्र-मन्त्र आदि की प्रबलता होती गई। वज्रयान, वाममार्ग आदि सम्प्रदायो के विकास के कारण भारत के धर्मों का स्वरूप इस प्रकार हो गया था, जिसमे लोक-हित और मानव-

कल्याण की भावना का अन्त हो गया था, और गुह्य सिद्धियो की प्राप्ति की उत्कठा हिंदुओ मे प्रबल हो गई थी। मानव का मानव के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? धर्म का क्या लक्ष्य और स्वरूप है ? जीवन का क्या प्रेय और क्या श्रेय है ? मनुष्य-जीवन की सार्थकता किस बात और कर्म मे है, धर्म मानवता के विकास मे कहा तक और कैसे सहायता कर सकता है ? इन विषयो की पूर्णतया उपेक्षा होने लगी थी। मानव-जीवन और साधन में सरलता का स्थान कृत्रिमता ने ले लिया था। धर्म की ध्वजा को फहराने वाला और अपनी स्थिति से लाभ उठाने वाला उच्च वर्ग अपने को निम्न-वर्ग से सब प्रकार से पृथकता का अनुभव करने लगा। मुसलमानो का उत्कर्ष-काल ही हिंदुओ की सस्कृति और हिंदू-धर्म के ह्रास या पतन का युग था।

यद्यपि मुसलमान शासक इस्लाम के नाम पर भारतवर्ष पर राज्य कर रहे थे, परन्तु सत्य यह है कि उनकी सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक-नीति का सचालन करने वाले सकीर्णमति उलमा लोग थे। शक्तिशाली एव अल्पसख्यक मुसलमान बहुसख्यक हिंदुओ पर प्रतिशोध की दृष्टि और प्रतिकार की भावना से राज्य कर रहे थे। वे प्रत्येक समय यही सोचते थे कि उनकी प्रजा काफिर है और उनको उत्पीडित करना परम धर्म है। उन्हे तलवार की धार के पार उतार देना पाक काम और गाज़ी बनने का पहला कदम है। मुसलमान शासक सदैव प्रत्येक कर्म के द्वारा इस्लाम को उन्नत बनाना चाहते थे। यही उनका ध्येय, यही उनका कर्त्तव्य था।

'कुरान' इस्लाम-धर्म की दार्शनिक विचारधारा का प्रमुख ग्रथ है। इसके अनुसार ईश्वर एक है, वह बहुत कुछ साकार सा है। वह इस ससार से दूर, बहुत दूर छः आसमानो को पार कर सातवें आसमान पर निवास करता है। वह सर्वशक्तिमान और सर्वसामर्थ्य से सम्पन्न है। उसने दुनिया को सिर्फ "कुन्" कह कर अभाव से निर्मित किया है। उसकी कुदरत के प्राणियो मे आग से बने फरिश्ते और मिट्टी से निर्मित मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। फरिश्तो मे से कुछ गुमराह होकर हमेशा के लिये अल्लाहताला के दुश्मन बन गये हैं। ये गुमराह फरिश्ते आदमियो को गुमराह करने की सतत चेष्ठा किया करते हैं। इन्हे दूसरे शब्दो मे 'शैतान' भी कहा जाता है। इन गुमराह फरिश्तो के सरदार का नाम है 'इब्लीस', जिसका फरिश्ता होते समय नाम अज़ाज़ील था। मानव ससार मे केवल एक बार जन्म ग्रहण करता है। मनुष्य कुरान के द्वारा विहित और निषिद्ध कर्म करके उसके फलतस्वरूप अनन्त काल तक के लिये बिहिश्त या दोज़ख हासिल करता है। बिहिश्त मे खूबसूरत महल, अगूरो के बाग, शहद एव शराब की नहरें, हूरें तथा गिलमन होते है। दया, सत्य-सम्भाषण, चोरी न करना, आदि कामो के अलावा नमाज,रोज़ा,ज़कात और हज्ज ये चार मुख्य फर्ज हैं। निषिद्ध कर्मों मे बुतपरस्ती, शराबपीना, हराम मास खाना आदि हैं। सक्षेप मे यही इस्लामी दर्शनका तत्व है।

इस्लाम-दर्शन मे अनेक विचारको और चितको का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने अपनी मौलिक विचारधारा के द्वारा जनता और धर्मानुयायियो का पथ-प्रदर्शन किया। इस्लाम के प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं

(१) मोतजली-सम्प्रदाय ।
(२) करामी-सम्प्रदाय ।
(३) अशअरी-सम्प्रदाय ।

'मोतजली सम्प्रदाय' के प्रमुख आचार्य थे अल्लाफ, नज्जाम (८४५ ई०), जहीज़ (८६६ ई०), मुअम्मर (८०० ई०), अबूहाशिम वस्त्री (६३३ ई०) । इसी प्रकार पूर्वी इस्लामी दार्शनिकों में मुख्य रूप से अजीजुद्दीन राजी का उल्लेख आवश्यक है । पूर्वी इस्लामी-दार्शनिकों में अबूयाकूब किन्दी, फाराबी, बू अली मस्कविया और बू अली सीना का नाम बड़े समादर के साथ उल्लिखत होता है । इन चिंतकों और दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से बड़ी मौलिकता के साथ अपने विचारकों की अभिव्यक्ति करके इस्लाम को शक्ति प्रदान की ।

सूफीमत

सूफीमत का विकास-सूत्र इस्लाम-धर्म के मूल में सन्निहित है । इस्लाम-धर्म ही सूफीमत और सूफी-दर्शन का मूल-स्रोत है । इसके उद्‌भव एवं विकास के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । सूफीमत के सूक्ष्म-विवेचन और चिंतन के फलस्वरूप इस्लाम में इनका मतभेद स्पष्ट हो गया है । चिंतकों ने सूक्ष्म-विवेचन करके यह स्पष्ट कर दिया कि इस्लाम और सूफीमत की विचारधारा में क्या अंतर है ।[1]

किसी मत अथवा दर्शन के उद्‌भव और क्रमिक विकास का अध्ययन करने से उसके संबंध में अनेक प्रकार की भ्रांतियां दूर हो जाती हैं, और उसका सच्चा स्वरूप स्वतः सामने आ जाता है । कुछ सूफी चिंतकों का कथन है कि सूफीमत का आदम में बीज वपन, नोह में अंकुर, इब्राहीम में कली, मूसा में विकास, मसीह में परिपाक एवं मुहम्मद में मधु का फलागम हुआ । एक और प्रवाद है कि सूफियों के आठ गुणों का आविर्भाव क्रमशः इब्राहीम, इस्हाक, अयूब, जकरिया, यहीमसा, ईसा एवं मुहम्मद साहब में हुआ । इसी प्रकार अन्य मत भी प्रचलित हैं । सारांश रूप में हम यह कह सकते हैं कि सूफी-सम्प्रदाय का संबंध शामी विचारधारा से प्रभावित इस्लाम धर्म से है । अब हम शामी जातियों की उस भावभूमि पर विचार करेंगे, जिसके गर्भ में सूफीमत का मूल आज भी सन्निहित पड़ा है ।

शामी-जातियों के पूज्य देवता बाल का देश आदि के मन्दिरों में समर्पित सन्तानों का जमघट था ।[2] धीरे-धीरे ये मन्दिर वासना के केन्द्र बन गये, किन्तु यहोवा के अनुयायियों ने इस प्रकार के मादन भाव का विरोध किया । शनैः-शनैः इन देवताओं की पूजा तथा सन्तान समर्पण की प्रथा कम होती गई, किन्तु उसकी अवशिष्ट भावना

---

१. तसव्वुफ इस्लाम, पृष्ठ ६६ ।
२. द् रेलिजन आफ द् सेमिट्स,
ले० राबर्ट स्मिथ, एम० ए०, एल एल० डी०, पृष्ठ ५१५ ।

'प्रेम और विरह' को आगे आने वाले सूफियो ने ग्रहण किया। सूफियो की प्रेम-भावना का उदय इन्ही समर्पित सन्ताओ के माध्यम से हुआ तथा कर्म-काण्डी नत्रियो के घोर विरोध ने उसे परिमार्जित करके परम प्रेम के रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार उसका लोक से कुछ सम्बन्ध ही न रह गया। प्रेम के सुनहरे पखो पर बैठकर क्षितिज के उस पार जाने का प्रयत्न किया जाने लगा। भक्त सन्तो ने प्रेम को जो अलौकिक रूप दिया उसके मूल मे वही रति भाव है, जिसको लेकर सूफी-साधना के क्षेत्र मे उतरे थे।[१] शामी मुबारको के कट्टर विरोध के कारण उसको कुछ दिव्य बनाकर जनता के समक्ष रखते थे।

इस्लाम एव सूफी-दर्शन

इस्लाम-दर्शन मे अनेक देवताओ की स्थिति मानी गई है। यह तौहीद का समर्थक है। इसके मतनुसार ईश्वर इस सृष्टि का कर्त्ता, सहारक एव रक्षक सभी कुछ है। उसकी इच्छा ही सर्वश्रेष्ठ है। उसके एक शब्द 'कुन'[२] मात्र से सृष्टि की रचना हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस्लामी दर्शन जीवात्मा, परमात्मा और जड जगत तीनो को पृथक तत्व मानता है। एकेश्वरवाद का समर्थक इस्लाम परमात्मतत्व की कल्पना स्थूल रूप मे एक देव के ही रूप मे करता है। कुरान मे अल्लाह के स्वरूप के सम्बन्ध मे लिखित आयतो मे उसके कर्त्ता, रक्षक एव सहारक स्वरूप का वर्णन है। इसके साथ ही उसे सबसे महान् भी कहा गया है। ससार की सुन्दरतम कल्पना से भी वह अधिक सुन्दर एव ऐश्वर्यवान है। अल्लाह तीन शक्तियो सृजन, पालन एव सहार का परिचय कुरान के अध्याय तीस की बीसवी एव चौबीसवी आयतो मे मिलता है। 'अल्लाह के अस्तित्व का सकेत इस बात से मिलता है कि उसके तुम्हारी रचना धूल से की और देखो मानव मात्र कितने अधिक विस्तार मे स्थिति हैं''।[३] इसी प्रकार सातसौ बान्नवे अध्याय मे अल्लाह के एकत्व, असमानत्व एव शाश्वतता का वर्णन किया गया है, ''अल्लाह वह है, जो केवल एक है, शाश्वत है, स्वयभू है। उसका कोई पुत्र नही है। वह किसी की सन्तान नही है। उसके सदृश और कोई नही है''।[४]

---

१ सन्त-दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित,
पृष्ठ ८६ से १०१ तथा पृष्ठ १०४ से ११५।

२ सूफीमत भी इसे मानता है —
एकै शब्द कहा कुन केरा।
सिरजा भूमि अकाश घनेरा॥ 'भापा प्रेम-रस'—शेख रहीम।

३ व मिन आयाते ही अन खलाकाकुम मिन तुराविन।
सुम्मा इजा अन्तुम व शरून तन्तरोरून॥

४. कुलवल्लाहो अहदअल्लादुस्मद लम यलिद वलम यू।
लद वलम यकुल्लहू कोफोवन अदह॥

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह सृष्टिकर्त्ता होते हुये भी नियमो से परे है। कुरान के इन मूल उद्‌गारो के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि अद्वैत-दर्शन वाली भावना कुरान के एकेश्वरवाद मे नही है। पैगम्बरी एकेश्वरवाद मे सृष्टि एव अल्लाह की जो पृथकता है, उसी के कारण पैगम्बर की महत्ता बताई गई है।

सूफी दार्शनिक-विचारको ने अल्लाह की सृष्टि से इस पृथकता को सहन नही किया। क्योकि वह भारतीय अद्वैतवाद की भाँति परमात्मा और आत्मा की एकता मे मग्न होना चाहते थे, यद्यपि इस्लाम-धर्म के अनुसार यह कुफ्र की बात है। प्रारम्भ मे कुछ सूफियो को इसी एकत्व की भावना "अनलहक" अर्थात् "मैं ही ब्रह्म हू" के कारण मृत्यु दड भी भोगना पडा, जिससे सूफियो को यह भी स्पष्ट हो गया कि इस्लाम से पृथक रहकर वे अपनी पद्धति को स्थिर नही रख सकते है।

कुरान मे उल्लेख हुआ है कि "वही आदि और अन्त है, गुप्त और प्रकट है, जहा कही भी हो तुम्हारे साथ है"। कुरान के इस प्रकार के कथनो मे सूफियो की उदार भावना को प्रचुर सहारा मिला और उन्होंने अपने स्वतत्र विचारो को "तनज्जुल" के सिद्धान्त के द्वारा प्रकट किया। 'तनज्जुल' का अर्थ है 'अवतरण', जिसके अनुसार अल्लाह को सगुण रूप मे अवतरित माना गया। अल्लाह के एकत्व से अनेकत्व की स्थिति प्राप्त होने तक सूफियो ने कई स्वरूपो की कल्पना की जिसके कुछ रूप निम्नलिखित हैं

(१) शहूद (चेतना),

(२) नूर (ज्योति),

(३) इल्म (ज्ञान),

(४) वजूद (अस्तित्व),

इन विभिन्न रूपो मे ईश्वर या अल्लाह के स्वरूपो को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। ब्रह्म अव्यक्त होता हुआ भी इन शब्दो के द्वारा व्यक्त किया गया है।

ईश्वर इस ससार के कण-कण मे परिव्याप्त है, अथवा ससार से परे है, इसके सम्बन्ध मे सूफी-दर्शन मे पाच मत मिलते है। अधिकाश विचारक इस मत के समर्थक हैं कि ईश्वर ससार से परे रहकर भी उसमे सर्वत्र लीन रहता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि साधक ईश्वरत्व (लाहूत) और मनुष्यत्व (नासूत) को एक ही मान ले। जिस प्रकार शराब और पानी मिलकर एक हो जाते है परन्तु वही नही हो जाते हैं, उसी प्रकार ईश्वर जगत मे व्याप्त अवश्य है, परन्तु सीमाबद्ध नही है।

अपने ग्रन्थ 'लावेह' मे जामी ने परमतत्व को दो रूपो मे व्यक्त बताया है

(१) **फैजे अकदास या अक्लेकुल** (आन्तरिक व्यक्तीकरण)।

(२) **फैजे मुकद्दस** (वाह्य स्वरूप)।

'प्रेम और विरह' को आगे आने वाले सूफियो ने ग्रहण किया। सूफियो की प्रेम-भावना का उदय इन्ही समर्पित सन्ताओ के माध्यम से हुआ तथा कर्म-काण्डी नवियो के घोर विरोध ने उसे परिमार्जित करके परम प्रेम के रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार उसका लोक से कुछ सम्बन्ध ही न रह गया। प्रेम के सुनहरे पखों पर बैठकर क्षितिज के उस पार जाने का प्रयत्न किया जाने लगा। भक्त सन्तो ने प्रेम को जो अलौकिक रूप दिया उसके मूल मे वही रति भाव है, जिसको लेकर सूफी-साधना के क्षेत्र मे उतरे थे।[1] शामी सुधारको के कट्टर विरोध के कारण उसको कुछ दिव्य वनाकर जनता के समक्ष रखते थे।

इस्लाम एव सूफी-दर्शन

इस्लाम-दर्शन मे अनेक देवताओ की स्थिति मानी गई है। यह तौहीद का समर्थक है। इसके मतनुसार ईश्वर इस सृष्टि का कर्त्ता, सहारक एव रक्षक सभी कुछ है। उसकी इच्छा ही सर्वश्रेष्ठ है। उसके एक शब्द 'कुन'[2] मात्र मे सृष्टि की रचना हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस्लामी दर्शन जीवात्मा, परमात्मा और जड जगत तीनो को पृथक तत्व मानता है। एकेश्वरवाद का समर्थक इस्लाम परमात्मतत्व की कल्पना स्थूल रूप मे एक देव के ही रूप मे करता है। कुरान मे अल्लाह के स्वरूप के सम्बन्ध मे लिखित आयतो मे उसके कर्त्ता, रक्षक एव सहारक स्वरूप का वर्णन है। इसके साथ ही उसे सबसे महान भी कहा गया है। ससार की सुन्दरतम कल्पना से भी वह अधिक सुन्दर एव ऐश्वर्यवान है। अल्लाह तीन शक्तियो सृजन, पालन एव सहार का परिचय कुरान के अध्याय तीस की बीसवी एव चौबीसवी आयतो मे मिलता है। "अल्लाह के अस्तित्व का सकेत इस बात से मिलता है कि उसके तुम्हारी रचना धूल से की और देखो मानव मात्र कितने अधिक विस्तार मे स्थिति हैं"।[3] इसी प्रकार सातसौ बान्नवे अध्याय मे अल्लाह के एकत्व, असमानत्व एव शाश्वतता का वर्णन किया गया है, "अल्लाह वह है, जो केवल एक है, शाश्वत है, स्वयभू है। उसका कोई पुत्र नही है। वह किसी की सन्तान नहीं है। उसके सदृश और कोई नही है"।[4]

---

१ सन्त-दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित,
पृष्ठ ८६ से १०१ तथा पृष्ठ १०४ से ११५।

२ सूफीमत भी इसे मानता है —
एकै शब्द कहा कुन केरा।
सिरजा भूमि अकाश घनेरा॥ 'भाषा प्रेम-रस'—शेख रहीम।

३ व मिन आयाते ही अन खलाकाकुम मिन तुराविन।
सुम्मा इजा अन्तुम व शरून तन्तरोरून॥

४ कुलवल्लाहो अहदअल्लादुस्मद लम यलिद वलम यू।
लद वलम यकुल्लहू कोफोवन अदह॥

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह सृष्टिकर्त्ता होते हुये भी नियमो से परे है। कुरान के उन मूल उद्गारो के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि अद्वैत-दर्शन वाली भावना कुरान के एकेश्वरवाद मे नही है। पैगम्बरी एकेश्वरवाद मे सृष्टि एव अल्लाह की जो पृथकता है, उसी के कारण पैगम्बर की महत्ता बताई गई है।

सूफी दार्शनिक-विचारको ने अल्लाह की सृष्टि से इस पृथकता को सहन नही किया। क्योंकि वह भारतीय अद्वैतवाद की भाँति परमात्मा और आत्मा की एकता मे मग्न होना चाहते थे, यद्यपि इस्लाम-धर्म के अनुसार यह कुफ्र की बात है। प्रारम्भ मे कुछ सूफियो को इसी एकत्व की भावना "अनलहक" अर्थात् "मै ही ब्रह्म हू" के कारण मृत्यु दड भी भोगना पडा, जिससे सूफियो को यह भी स्पष्ट हो गया कि इस्लाम से पृथक रहकर वे अपनी पद्धति को स्थिर नही रख सकते हैं।

कुरान मे उल्लेख हुआ है कि "वही आदि और अन्त है, गुप्त और प्रकट है, जहा कही भी हो तुम्हारे साथ है"। कुरान के इस प्रकार के कथनो से सूफियो की उदार भावना को प्रचुर सहारा मिला और उन्होने अपने स्वतन्त्र विचारो को "तनज्जुल" के सिद्धान्त के द्वारा प्रकट किया। 'तनज्जुल' का अर्थ है 'अवतरण', जिसके अनुसार अल्लाह को सगुण रूप मे अवतरित माना गया। अल्लाह के एकत्व से अनेकत्व की स्थिति प्राप्त होने तक सूफियो ने कई स्वरूपो की कल्पना की जिसके कुछ रूप निम्नलिखित हैं

(१) शहूद (चेतना),

(२) नूर (ज्योति),

(३) इल्म (ज्ञान),

(४) वजूद (अस्तित्व),

इन विभिन्न रूपो मे ईश्वर या अल्लाह के स्वरूपो को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। ब्रह्म अव्यक्त होता हुआ भी इन शब्दो के द्वारा व्यक्त किया गया है।

ईश्वर इस ससार के कण-कण मे परिव्याप्त है, अथवा ससार से परे है, इसके सम्बन्ध मे सूफी-दर्शन मे पाच मत मिलते हैं। अधिकाश विचारक इस मत के समर्थक है कि ईश्वर ससार से परे रहकर भी उसमे सर्वत्र लीन रहता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि साधक ईश्वरत्व (लाहूत) और मनुष्यत्व (नासूत) को एक ही मान ले। जिस प्रकार शराब और पानी मिलकर एक हो जाते है परन्तु वही नही हो जाते है, उसी प्रकार ईश्वर जगत मे व्याप्त अवश्य है, परन्तु सीमाबद्ध नही है।

अपने ग्रन्थ 'लावेह' मे जामी ने परमतत्व को दो रूपो मे व्यक्त बताया है .

(१) फैजे अकवास या अक्लेकुल (आन्तरिक व्यक्तीकरण)।

(२) फैजे मुकद्दस (वाह्य स्वरूप)।

प्रथम को दूसरे शब्दो मे जगत् मे व्याप्त बुद्धि-तत्व भी कह सकते है। दूसरा बाह्य-स्वरूप है, जब वह किसी अवस्था मे मूर्त-स्वरूप धारण करता है।

दार्शनिको ने परम-सत्ता की तीन गुप्त आन्तरिक उद्भावनाओं (यानिनी) की भी चर्चा की है

(१) लाविशर्ती शय,
(२) विशर्ती शय,
(३) विशर्ती लाशय,

ये क्रमश उसके अनपेक्ष, सापेक्ष एव वस्तुनिरपेक्ष स्वरूप हैं।

इसी प्रकार सूफी दार्शनिको ने परमतत्व की कल्पना को क्रमश एक देववाद से प्रारम्भ कर अद्वैतवाद तक पहुचा दिया। भारतीय-दर्शन का भी इस पर प्रभाव पडा। क्योंकि एकेश्वरवाद मानने वाले इस्लाम मे उत्पन्न होकर भी सूफी चिन्तन-धारा मे क्रमश अद्वैत एव विशिष्टाद्वैत की भावना का समावेश हुआ। सूफी-दार्शनिको ने ईश्वर को पालक, सरक्षक एव सहायक माना, साथ ही वे यह भी विश्वास करने लगे कि समस्त सृष्टि मे एक ही परम सत्य व्याप्त है। इसी प्रणाली के आधार पर ब्रह्म सम्बन्धी विचारो को सूफियो ने तीन भागो मे बाटा। ये तीनो वर्ग निम्नलिखित है

(१) इजादिया,
(२) वजूदिया,
(३) शहूदिया।

'इजादिया' विचार-धारा के अनुयायी ईश्वर का अस्तित्व सृष्टि से भिन्न मानते हैं। अल्लाह या ईश्वर सर्वशक्तिमान है। मनुष्य भय के कारण उससे श्रद्धा कर सकता है, पर प्रेम नही। सम्भव है कि आरम्भिक सूफियो मे भय की भावना ही रही हो। उनके लिये ईश्वर का भय ही प्रधान था। इस मत के अनुसार परमतत्व एव सृष्टि का सम्बन्ध कर्ता और कृति का है। यह मत इस्लाम धर्म की मूल विचारधारा के अनुकूल है। इस कारण सभी मुसलमानो को मान्य भी है।

सूफियो का अधिक सम्बन्ध 'वजूदिया' एव 'शहूदिया' सम्प्रदाय से है। 'वजूदिया' विचारधारा के अनुयायी उसी एक तत्व को सृष्टि रूप मे प्रसारित मानते हैं। 'शहूदिया सम्प्रदाय' वाले ईश्वर को इस सृष्टि मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब की भाति व्याप्त मानते है। इस सृष्टि और ब्रह्म मे अश-अशी का सम्बन्ध न होकर बिम्ब प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है। जिस प्रकार दर्पण मे प्रतिबिम्ब दिखता है, उसी प्रकार इस सृष्टि मे उस परम-सत्ता का प्रतिबिम्ब पडता है। दूसरे शब्दो मे वजूदिया विचारधारा के समर्थको के अनुसार ब्रह्म और ससार का वही सम्बन्ध है, जो सूर्य और सूर्य की किरणो का सम्बन्ध है। शहूदिया विचार वालो के मत से ब्रह्म और ससार का वही सम्बन्ध है जो सूर्य और सूर्य के प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध होता है।

सूफीमत का प्रभाव भारतीय मुसलमान शासकों पर भी पड़ना अनिवार्य था। दिल्ली के शासक किसी न किसी सूफी साधक के शिष्य बन जाते थे या उन्हें विशेष सम्मान प्रदान करते थे। देहली पर सूफियों का प्रभाव होने के कारण सूफी मतानुयायी उत्तर-भारत में फैल गये और बंगाल तक इन लोगों ने अपने धर्म का प्रचार किया। इतिहास के पृष्ठों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुगल-राज्य के विस्तार के साथ ही साथ सूफियों का भी प्रसार होता गया। कारण कि सूफी-साधकों ने भी अपने को इस्लाम-धर्म से अलग नहीं हटने दिया। उनका दर्शन कुरान पर ही आधारित था।

अकबर के युग तक सूफीमत प्रेम एवं भक्ति पर आधारित होकर सर्वमान्य हो चुका था। धीरे-धीरे सूफीमत में भारतीय संगीत, नृत्य, देवोपासना की भावना, योगियों के चमत्कारों आदि का भी समावेश होता गया। सूफीमत ने प्रेम की भावना तथा सत्पुरुषों के आदर्शों से ऐसा अनुरंजित किया कि इस्लाम की कट्टरता क्षीण होती गई।

भारतीय-सूफी कवियों ने सूफीमत में प्रचलित जितने भी सिद्धान्त थे, सभी को थोड़े बहुत रूप में अपनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने शुद्ध हृदय से सदाचार सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुये, प्रेमस्वरूप जगत के कण-कण में उस ईश्वर की सत्ता को व्याप्त देखकर उसकी उपासना करना ही अपना ध्येय समझा। इनका उद्देश्य इस दृष्टि से अधिकाधिक सामञ्जस्य एवं समन्वय पूर्ण था।

सूफियों ने ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटाने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जीवन में प्रेम की भावना ही उच्च और प्रधान है। सूफियों के दर्शन में प्रेम की भावना इतनी सरल और मधुर थी, कि जनता ने उसे बड़े हर्ष और प्रेम के साथ आत्मसात् कर लिया।

मध्य-युगीन-संस्कृति हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का समन्वित रूप है। यह समन्वय साहित्यिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा कला सम्बन्धी क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। फैजी अकबर के एकेश्वरवाद का समर्थक था, और साथ ही राजकुमारों को शिक्षा भी देता था। अबुलफजल में भी समस्त धर्मों का सार जानने की उत्सुकता थी।

जहाँगीर और शाहजहाँ का ध्यान धार्मिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं की ओर अधिक न था। परन्तु दारा शिकोह (शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र) उदार हृदय था। वह भारतीय धर्मों का गहन अध्ययन करना चाहता था। उसने भारतीय-ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में करवाया। कबीर एवं दादू के शिष्य उसके प्रिय मित्रों में से थे। निर्गुण काव्यधारा के कवियों ने भी सूफीमत के एकेश्वरवाद को माना है। साथ ही उसकी प्राप्ति के साधनों में प्रेम का साधन मुख्य माना है।

सूफी-कवि उदार प्रकृति के थे। इस कारण उनके प्रेमाख्यानों में धार्मिक कट्टरता के दर्शन कम होते हैं। इसके साथ ही उस समय में प्रचलित धार्मिक-सम्प्रदायों का भी प्रभाव सूफी-दर्शन पर पड़ा। प्रत्येक सूफी प्रेमाख्यान में शिव की प्रतिष्ठा है।

सूफी चिन्तनधारा पर वैष्णव-भक्ति पद्धति का भी प्रभाव पडा। अहिंसा के वे कट्टर पक्षपाती थे। सूफी हृदय की शुद्धि पर विशेष ध्यान देते थे। क्योंकि जब दो विभिन्न धर्मो एव सस्कृतियो के लोग देर तक एक साथ निवास करते हैं, तो उन पर एक दूसरे का प्रभाव पड ही जाता है। अत हिन्दू-धर्म के युक्ति-युक्ति सिद्धान्तो के सामने इस्लाम की कट्टरता दूर होती गई। इसी सत्य को श्रीयुत मौलाना अल्ताफ हुसेन हाली ने इन शब्दो मे व्यक्त किया

वह दीने हिजाजी का बेबाक बेडा।
निशा जिसका अक्साए आलम मे पहुचा॥
मजाहम हुआ कोई खतरा न जिसका।
न अम्मा मे ठटका न कुत्जम मे झिझका॥
किये पै सिपर जिसने सातो समुन्दर।
वह डूबा वहाने मे गगा के आके॥[1]

अर्थात् "अरब देश का वह निडर बेडा, जिसकी ध्वजा विश्व भर मे फहरा चुकी थी, किसी प्रकार का भय जिसका मार्ग न रोक सका था और न जो लाल-सागर मे झिझका था, जिसने सातों समुद्र अपनी ढाल के नीचे कर लिये थे, वह गगा के दहाने मे आकर डूब गया।"

इन पक्तियो पर किसी भी किसी ने आक्षेप नही किया है। परन्तु हमारे विचार से वह बेडा डूबा नही, वरन् उसने गगा-स्नान किया, जिसमे इस्लामी कट्टरता का रग दूर होता गया और वह ऐसे रग मे रग गई कि उनसे पहचानना भी कठिन हो गया।

इस्लाम पर हिन्दुओ के धर्माचरण का इतना प्रबल प्रभाव पडा कि सर्वसाधारण के आचार-व्यवहार मे कोई भेद न रहा। यदि विशिष्ट मुस्लिमो के हृदय भी पक्षपात मे उपराम हो जाते तो अरबी और फारसी भाषा के स्थान पर हिन्दी और सस्कृति को इस्लामी विचार का साधन बना लिया जाता। परन्तु मुसलमान शासको ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। वे अपनी सकीर्ण नीति के द्वारा हिन्दू और मुसलमानो के मध्य भेद-भाव की खाई को बढाने मे सदैव तत्पर रहे। पडित और मौलवियो द्वारा प्रदर्शित मार्ग सन्तो के मार्ग से सर्वथा भिन्न था। सतजन तत्वदर्शी होते हैं।[2] इनसे कुछ भी छिपा नहीं रहता है। वे आत्मानुभूति मे रमने वाले और दूर-दर्शी होते हैं। सन्त कबीर ने भी तत्व-दर्शन पर जोर दिया है

तू तो कहत है पुस्तक लेखी।
मैं कहता हू आखों देखी॥

---

१ मुसद्दए हाली—मौलाना अल्ताफ हुसेन हाली।

२ योगेश्वर श्रीकृष्ण के कथनानुसार

"उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि "

अर्थात् सत्य और असत्य का अन्त तत्व-दर्शियो द्वारा देख लिया गया है।

तथा सन्त दादू के शब्दो मे

जे पहुचे ते कहि गए तिनकी एकै बात।
सर्वं सयाने एक मत तिनकी एकै जात॥

इसी कारण सन्तो मे मतभेद नही विद्यमान है। मौलाना रूम की मसनवी मे गीता और उपनिषदो के सिद्धान्त के कोष भरे मिलते हैं, जब कि उन्हे हिन्दू धार्मिक-साहित्य का बिल्कुल ज्ञान न था। मत-मत के सम्बन्ध मे उनका यह कथन है

मिल्लते इश्क अजहमा मिल्लत जुदास्त।
आशिका रा मजहबो मिल्लत खुदास्त।

अर्थात् "भक्ति मार्ग सब सम्प्रदायो मे भिन्न है। भक्तो का सम्प्रदाय और पंथ तो भगवान् ही है।"

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच।
काम जु आवै कामरी, का लै करै कमाच॥

इसी सिद्धान्त पर मुसलमान कवियो ने भी जो उपदेश दिये वे जनता को सर्वमान्य हुये। संत-कवियो ने बुद्धिवादिता के सहारे बाह्याडम्बरो का जो खडन किया, उसने हिन्दू और मुसलमान दोनो के विरोधी-तत्वो मे सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, जिससे समाज मे सुधार सम्भव हो सका। सूफियो की रचनाओ, पदो तथा गजलो ने समाज संस्कार मे भी सहायता की। सन्तो की चुनौती देने वाली कुछ उक्तियों, स्पष्टवादिता और व्यग्यो से भारतीय जनता के सामाजिक, धार्मिक और साधनात्मक दोष तो दूर हुये और उनमे आशा का भी संचार हुआ, परन्तु उसमे सरसता के संचार और माधुर्य का प्रसार करने का श्रेय सूफी प्रेमाख्यानकारो को ही प्राप्त है। सूफियो से बहुत पूर्व कबीर ने भी उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुये कहा था

ढाई आखर प्रेम का पढै सो पडित होय।

अन्त मे हम यही कहेंगे कि यद्यपि मध्ययुगीन भारत मे राजनैतिक क्षेत्र मे विदेशी ही विजयी हुये। किन्तु सास्कृतिक दृष्टि से विजित वर्ग ने ही विजेता को जीत लिया था। राजनैतिक दृष्टि से निर्बल होते हुये भी मध्ययुगीन भारत सांस्कृतिक दृष्टि से पर्याप्त सजीव था। वह उस वृक्ष के सदृश था, जो जड़े काटने वाले को भी छाया प्रदान करता था, वह वर्षा, आँधी तथा सूर्य की किरणो को सहता हुआ भी सुगन्धित पुष्प तथा सुमधुर फल देता था।

हिन्दी-साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव

मध्य-युगीन जीवन पर इस्लाम का व्यापक प्रभाव पडा। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम

परिच्छेद में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियो का चित्रण करते समय स्थान-स्थान पर इस्लाम के प्रभाव को व्यक्त किया गया है। वास्तव मे इस्लाम का मध्ययुगीन जीवन पर व्यापक प्रभाव पडा। मध्ययुगीन हिन्दी-कवियो ने फारसी एव अरबी शब्दो का प्रयोग किया है। कारण कि, जो फारसी एव अरबी शब्द उस समय अधिकतर बोले जाते हैं, उनका साहित्य मे प्रयुक्त होना बडा स्वाभाविक था। काव्य का वाह्य-रूप तो इस्लामी-सस्कृति से प्रभावित था ही, आभ्यान्तरिक-रूप भी किसी न किसी रूप मे मुसलमान विचारधारा से प्रभावित था। हिन्दी-काव्य के निर्गुण-शाखा के कवियो की रचनाओ मे अरबी और फारसी भाषा के शब्द प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है। बहुत दिनो तक साथ रहते-रहते हिन्दू और मुसलमानो मे परस्पर एकदूसरे के प्रति सहनशीलता और उदारता की भावना का विकास होने लगा। दोनो के हृदयो मे एक दूसरे के प्रति सवेदना का विकास हुआ। दोनो ने एक दूसरे की सस्कृति, रीति-नीति, आदान-प्रदान, व्यवहार और जीवन को निकट से देखना प्रारम्भ किया। इन दोनो मे से एक सस्कृति अत्यन्त प्राचीन, लोक एव परलोक को प्रमुखता देती थी और दूसरी उत्पीडन के आधार पर ठहरी हुई थी, जिसका मौलिक विश्वास पृथ्वी के भोग मे था। इस कारण इस सस्कृति मे ज्ञान की गहराई कम, आनन्द, भावुकता और जोश का उभार अपेक्षाकृत अधिक था।

गीता मे कर्म-फल से तटस्थ रहने की शिक्षा दी गई है। हिन्दू इसी कारण बडे से बडे दुख एव सुख मे भी अधिक व्यथा, क्षोभ या आनन्द का अनुभव नही करता था। हिन्दू विवेक और विचार के द्वारा तत्कालीन धार्मिक एव लौकिक घटनाओ के समझने का प्रयत्न करता था। परन्तु एक साधारण मुसलमान जीवन के आलोकन का प्रेमी था, इस कारण दुख से अत्यधिक व्याकुल और सुख मे शीघ्रतापूर्वक ही आनन्द की लहरो मे डूबने लगता था। हिन्दू जीवन मे कर्त्तव्यपरायणता और त्याग मे विश्वास करते थे और मुसलमान उपभोग तथा आनन्द मे ही जीवन की सार्थकता मानते थे।

हिन्दू-सस्कृति को तुलना मे इस्लामी-सस्कृति नवीन थी। अत दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते हैं कि तरुणावस्था की सी भावुकता भी इसमे थी। इस भावुकता ने हिन्दू-सस्कृति मे सक्रमण किया और मध्य-युग मे जो साहित्य हमारे सम्मुख आया वह फारसी या उर्दू से प्रभावित था। हिन्दी-साहित्य मे पहले की अपेक्षा अब अधिक भावुकता थी। यह स्पष्टतया इस्लाम एव फारसी का प्रभाव था। मुसलमानो मे भावुकता आने का कारण था जीवन के प्रत्येक आलोडन को सत्य मानना।

हिन्दी-साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव अत्यधिक भावुकता के रूप मे पडा। कबीर और मीरा की प्रेमानुभूति मे व्यग्रता, बोधा और घनानन्द की विह्वलता, विद्यापति और सूरदास की भावाकुलता मे इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दृष्टिगत होता है।

हिन्दी के प्रथम मुसलमान कवि अमीर खुसरो हुये हैं। उसके पश्चात् रहीम विशेष उल्लेखनीय है। ज्ञानाश्रयी-शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर के विचारो मे हिंदू-

मुस्लिम समन्वय का भाव अत्यन्त पुष्टता पर पहुच चुका था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है

"जो ब्रह्म हिंदुओ की विचारपद्धति मे ज्ञान मार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियो के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नही प्रेम का भी विषय बनाया। उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियो की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियो के भावात्मक रहस्वाद, हठयोगियो के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवो के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पथ खड़ा किया।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर धार्मिक-कवि थे, और उनकी दृष्टि भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार सासारिकता की ओर कम और परलोक की ओर अधिक थी। मानव-जीवन को भी उन्होने महत्व दिया। वह समाज-सुधारक के रूप मे भी उल्लेखनीय है। उनकी समाज सुधार से सम्बन्धित कविताओ मे प्रचलित बाह्याडम्बरो के प्रति विरोध की ध्वनि थी। किन्तु अपने सिद्धात का जो अश उन्होने सूफियो से लिया, वह स्पष्टतया इस बात का पोषक है कि वे इस्लाम सस्कृति से किसी न किसी सीमा तक प्रभावित थे। प्रेम की बेचैनी और विरह की व्याकुलता का जो चित्रण सन्त कबीरदास ने किया, उससे हिंदी-साहित्य मे एक नवीन परम्परा की स्थापना हुई। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि भारतीय एवं सूफियो की भावुकता का सामञ्जस्य कबीर की कविता मे हुआ। कबीर के द्वारा स्थापित इन मान्यताओ का पालन अन्य सन्तो ने भी किया।

कबीर की निम्नलिखित पक्तियो मे प्रेम की पीडा और प्रेमी के हृदय की जो व्यग्रता वर्णित है उसे देखिये

अखियन तो झाई पडी, पथ निहारि निहारि।
जिह्वा तो छाला पडे, नाम पुकारि पुकारि॥

यह भारतीय-साहित्य के लिये नवीन बात थी। इसमे सूफियो की विरहानुभूति का ही प्रभाव है।

सूफियो के दर्शन के अनुसार जीव ब्रह्म से मृत्यु के पश्चात् मिल सकता है। इससे दूसरा सिद्धात यह निकला कि शीघ्र से शीघ्र मृत्यु को प्राप्त किया जाय, जिससे ब्रह्म मे मिलन हो। भारत मे इसके पूर्व बौद्ध भी जीवन के दीपक को बुझा देने को अपना परम उद्देश्य मानते थे। जैन-साधक तो जीवन-दीप बुझने के पूर्व शरीर को अधमरा कर देने के समर्थक थे। मृत्यु काम्य है, यह बात अभी तक स्पष्ट शब्दो मे किसी ने भी नही कही थी। परन्तु सत कबीर को जब ब्रह्म वियोग की तीव्र अनुभूति हुई, तो उन्होने यह स्पष्ट कर दिया कि मृत्यु त्याज्य नही काम्य है .

जिस मरने थे जग डरै सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूँ कब देखिहैं पूरण परमानन्द॥

भारतीय जीवन मे इस प्रकार की विचारधारा को प्रश्रय नही दिया जाता था, परन्तु इस्लाम या सूफी प्रभाव के कारण इस प्रकार की भावना का विकास हुआ। भक्त कवियो ने जीवन की उपयोगिता भगवान की सेवा करने मे ही बताई। उनकी दृष्टि मे सेवा के सामने मोक्ष प्राप्त भी तुच्छ था[१], परन्तु निर्गुण मतो पर इसका प्रभाव न पडा। वे फारसी के सूफी कवियो से ही अधिक प्रभावित हुये और मृत्यु को काम्य और मोहक बना दिया। यह प्रभाव हम आधुनिक हिन्दी कविता मे भी देखते है।[२]

इस प्रकार सत-कवि सूफियो के प्रेम की विरहानुभूति एव प्रिय से मिलन की आकाक्षा से प्रभावित हुये। कबीर ने परमात्मा को पति और अपने को 'बहुरिया' माना है। विरह एव मिलन की बेचैनियो का भी मार्मिक चित्रण किया, जिसका प्रभाव अन्य कवियो पर भी बिना पडे हुये न रहा .

नैनो की करि कोठरी, पुतली पलग बिछाइ।
पलको की चिक डारि कै, पिय को लिया रिझाय ॥

इसी परम्परा मे आने वाले संत-कवि दादू ने भी इसी भाव को लेकर लिखा है

पुरुष हमारा एक है, हम नारी बहु अग।
जे जे जैसी ताहि सो खेले तिस ही रग ॥

सूफी कवियो द्वारा नर-नारी के शारीरिक मिलन से जीव ब्रह्म मिलन की जो उपमा दी गई, उसका भी प्रत्यक्ष प्रमाण हमे भारतीय भक्तिधारा मे दृष्टिगत होता है। श्रृङ्गारिकता का गहरा पुट इसी कारण आया है। परन्तु यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस धारा का आगमन मुसलमानो के पूर्व भी अल्पाश मे हो चुका था।

---

१ "देवा तेरी भक्ति न छाडौ, मुक्ति न मागौ,
तव जस सुनौ सुनावौं"।

२ कहा करौ बैकुण्ठहि जाय,

ब्रज रज तजि मेरी जाय बलाय।

—परमानन्द दास।

इस असीम तम मे मिल कर
मुझको पल भर सो जाने दो।
बुझ जाने दो देव।
आज मेरा दीपक बुझ जाने दो।

—महादेवी वर्मा।

अब यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सूफी-काव्य का प्रभाव किस वातायन से आया। ज्ञानाश्रयी-शाखा के कवियों के प्रेम का आलम्बन निर्गुण-ब्रह्म था। इसी कारण प्रेम को दीप्त करने का कोई स्पष्ट आधार इन कवियों को नही प्राप्त था। अतएव प्रेम-भाव की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिये इन कवियो ने विरह की अनुभूति पर, आश्रित आहो के आधार पर हृदय के फटने, आँखो मे झाई पड़ने, जीभ मे छाले पड़ने के माध्यम से यह भी स्पष्ट कर दिया कि जो "शीश उतारे भुइ धरै" वही 'उसको' प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार निर्गुण-शाखा के कवियों द्वारा इस्लाम एवं हिन्दू-संस्कृतियो का समन्वय हुआ।

———

सन्तों के सामान्य-विश्वास

विश्वास धर्म का अभिन्न और अनिवार्य अग है। धर्म के क्षेत्र मे विश्वास की अत्यधिक आवश्यकता होती है। विश्वास और भावना मे भी अभिन्नता है। जीवन के विकास एव धार्मिक-भावना के उत्थान के लिए विश्वास का अपना महत्व होता है। विश्वास एक प्रकार का बल, एक प्रकार की प्रेरणा, एव एक शक्ति है। विश्वास की शक्ति के द्वारा अनेक असम्भव कार्य सम्भव और सरल बन जाते हैं। धर्म और विश्वास का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित और अविच्छिन्न होता है। साधना के क्षेत्र मे श्रद्धा एव भक्ति के अनन्तर 'विश्वास' की स्थिति का आगमन हो जाता है। ब्रह्म पर पूर्णरूप से निर्भर रहना ही 'विश्वास' है। अपने समस्त कष्टो एव आवश्यकताओ के हेतु ब्रह्म पर निर्भर रहना ही विश्वास है।

भरोसा और निर्भरता विश्वास के आवश्यक अग हैं। विश्वास का सम्बन्ध भाव-जगत से है, यह हृदय की वस्तु है। हृदय मे श्रद्धा एव भक्ति के विकसित होने पर ही विश्वास के लिए स्थान होता है। भक्ति मे प्रेम का घनत्व अधिक है, और श्रद्धा मे विस्तार। प्रिय का चिन्तन हम आँख मूँदे हुये ससार का विस्मरण करके भी कर सकते है, और साथ ही श्रद्धा होने पर जागरण अवस्था मे भी कर सकते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है, तो श्रद्धा जागरण। जहा प्रेम और श्रद्धा का मिलन होता है, वहीं विश्वास का सामाजिक-भाव हमारे मन मे आता है। हम अपने प्रेमी पर पूर्णरूपेण विश्वास कर लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वास के निर्माण मे श्रद्धा एव भक्ति आधारशिला है। इसी नीव पर साधक अपनी साधना के भव्य-भवन का निर्माण करता है।

विश्वास के तीन प्रकार है : मनसा, वाचा एव कर्मणा। पूर्णरूपेण विश्वास तभी किया जा सकता है, जब कि मनसा, वाचा एव कर्मणा ब्रह्म मे समस्त भावनाओ को केन्द्रीभूत किया जाय। ब्रह्म के प्रति साधको के विश्वास मे हम तीनो ही तत्वो का समावेश रहता है। तभी चित्त मे एकाग्रता, मन मे दृढता एव भक्ति मे बल प्राप्त होता है।

ज्ञानाश्रयी-शाखा के सन्त-कवियो ने विश्वास के विषय मे अपने विचारो को साखियो मे व्यक्त किये है। इन कवियो मे विशेष उल्लेखनीय संत कबीरदास,[१] दादू,[२] मलूकदास,[३] सुन्दरदास,[४] चरनदास,[५] पलटूसाहब[६] एव गरीबदास है।[७] इन सभी सन्तो ने विश्वास का विवेचन सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

निर्गुण-सन्त कवियो ने विश्वास को दो रूपो मे ग्रहण किया है। प्रथम व्यक्तिगत-विश्वास तथा द्वितीय सामान्य-विश्वास। सन्त-कवियो के व्यक्तिगत विश्वास का मूलाधार और प्रमुख सिद्धान्त है कि मनुष्य को ब्रह्म पर सर्वथा निर्भर रहना चाहिये। जिस ब्रह्म ने संसार की सृष्टि की है, जो जगत नियन्ता है, वह सब का परिपालन किसी न किसी प्रकार अवश्य करेगा। मानव व्यर्थ की चिंता मे फसा रहता है। उदर-पूर्ति के लिये मानव जो अनेक प्रकार के अध्यवसाय करता रहता है, उसकी कोई उपयोगिता नही है। इसी व्यक्तिगत विश्वास के कारण सन्त-कवि साधारण जनसमूह से ऊपर उठ कर एक ऐसे भाव-जगत मे पहुचे, जहां से उनके दर्शन करके प्रत्येक मनुष्य लाभान्वित हो सकता है। सन्तो के व्यक्तिगत-विश्वास के अन्तर्गत उन विश्वासो का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्हे हम किसी सिद्धांत पर आधारित पाते है। इन सन्तो के विश्वास का दूसरा रूप है, सामान्य-विश्वास। इसके अन्तर्गत साधारण सामाजिक-जीवन के सामान्य-विश्वासो की परिगणना होती है। सामान्य-विश्वासो को हम तीन रूपो मे ग्रहण कर सकते है—दार्शनिक, सामाजिक एव साधनात्मक। अब यहा पर हम सन्तो के दार्शनिक-विश्वासो पर विचार करेंगे।

दार्शनिक-विश्वास

निर्गुण संत-कवियो के विश्वास का आधार है व्यक्तिगत-साधना। चित्त को

---

१ कबीर क्या मैं चिन्त हू मम चिन्ते क्या होय।
मेरी चिंता हरि करै, चिंता मोहि न कोय॥

२ मनसा वाचा कर्मना, साहिब का वेसास।
सेवग सिरजनहार का, करै कौन की आस॥

३ औरन्हि चिन्ता करन दे तू मत मारे आह।
जाके मोदी राम से, ताहि कहाँ परवाह॥

४. सुन्दर कहत तोहि वाकी तौ भरोसा नाहि।
एक विश्वास बिन याही भाति रोइ है॥

५. बिन कामना करूं चाकरी, आठो पहरे तेरी।
मनसब भक्ति कृपा कर दीजै, यही मोहि बहुतोरी॥

६. सन्त वचन युग युग अचल, जो आवै विस्वास।
विस्वास भये पर ना मिले तो झूठा पलटू दास॥

७. सील संतोष विवेक बुधि, दया धर्म इक तार।
बिन निहचै पावै नही, साहिब का दीदार॥

वृत्तियों का अहंकारशून्य होकर ब्रह्माकार बन जाना सम्प्रज्ञात-समाधि का स्वरूप है। अभ्यास एवं अध्यास द्वारा इसे प्रौढ़ बना लेना चाहिये। समाधि-योग छः प्रकार का होता है। सन्तों के साधनात्मक विश्वासों के अन्तर्गत हम इनका विशद विवेचन करेंगे। इन सन्त-कवियों ने यौगिक-क्रियाओं पर भी जोर दिया। इस योग-साधना का लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति है। ब्रह्म निर्गुण-निराकार होते हुये भी सर्वत्र व्याप्त है। उनका नाम स्मरण करके मानव भवसागर से उत्तीर्ण हो सकता है। उसका नाम स्मरण करना ही सबसे बड़ी साधना है। इस प्रकार हम देखेंगे कि निर्गुण सन्त-कवियों के ज्ञान का स्रोत सद्गुरु की ही कृपा है—मानव को ईश्वर की कृपा से ही सांसारिक बन्धनों से छुटकारा मिल सकता है। सभी सन्त-कवियों ने गुरु की महिमा का गान किया है।

सन्तों के दार्शनिक विश्वासों को देखने से पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि इनके विश्वासों का महत्व 'स्व' और 'पर' सबके हेतु समानरूपेण है। इनकी दृष्टि में 'स्व' और 'पर' के लिये कोई भी भेद शेष नहीं रह जाता है।

सन्तों के विश्वासों का रूप कटुता से परे है। अपनी मधुरता के कारण वह सर्व-मान्य हो सका और यही कारण है, कि उनकी ब्रह्म की भावना हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये समानरूप से प्रिय है। साथ ही नाम, सद्गुरु, आत्मा और जीव आदि क्षेत्र में निर्गुण-कवियों ने किसी का विरोध नहीं किया।

सन्तों का ब्रह्म-निर्गुण, निराकार, निर्विकार और अद्वैत है। चराचर सृष्टि की लघुतम वस्तु में भी उस ब्रह्म की अनन्त सत्ता का प्रसार है। सभी सन्त अद्वैत-ब्रह्म के उपासक और समर्थक हैं। कबीर, दादू, नानक, मलूकदास, सुन्दरदास, चरनदास सभी की कविताओं में अद्वैतवाद की भावना प्रधान है।

कबीर की दृष्टि में हिन्दू एवं मुसलमानों में कोई भी भेद नहीं है। एक ही परब्रह्म की सत्ता उसमें प्रसारित रहती है :

कहै कबीर एक नाम जपहु रे
हिन्दू तुरक न कोई।[1]

तथा,

हिन्दू तुरक का कर्त्ता एकै
ताकी गति लखी न जाई।[2]

सन्तों का मत है कि संसार का सृजक, पालक और संहारक वही एक ब्रह्म है। सन्त मलूकदास के कथनानुसार

सर्वव्यापी एक कोहारा,
जाकी महिमा और न पारा।

---

१ कबीर-ग्रन्थावली, १०६—५७।

२. कबीर-ग्रन्थावली, १०६—५८।

हिन्दू तुरुक का एकै करता,
एकै ब्रह्म सबन को भरता ॥[१]

यह ब्रह्म सबके साथ एक सा ही व्यवहार करता है, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। उसमे भेद-भाव की प्रवृत्ति ही नही रहती है, वह हिन्दू एव मुसलमानो को एक सा ही मानता है।[२] सत सुन्दरदास ने भी सरल शब्दो मे इसी भाव को व्यक्त किया है :

ईश्वर एक और नहि कोई।
ईश शीश पर राषहु सोई ॥[३]

सुन्दरदास के शब्दो मे ब्रह्म और जगत मे भिन्नता कहा रह जाती है।

तोहि मे जगत यह तू ही है जगत माहि।
तो मे अस जगत मे भिन्नता कहां रही ॥[४]

मलूकदास के अनुसार इस जगत का कर्त्ता एक ही है, फिर दूसरे की कल्पना करना व्यर्थ है।

एक जगत का एकै करता।
दूसर ब्रह्म कहां है रहता ॥[५]

जिन साधकों ने एक ही ब्रह्म की साधना की है उनकी साधना सफल है

एक एक जिन जाणिया, तिनही सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौलीन मन, ते बहुरि न आया ॥[६]

सन्त कबीरदास तो स्पष्ट शब्दो मे कहते है

केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना।[७]

इसी एक की ही शरण मे रहना चाहिए। वह सब कुछ सम्भव कर सकता है। आग से तिनके को सुरक्षित रख सकता है।[८] उसकी कृपा से तूफान मे दीपक जलता

---

१. शब्द-सग्रह।

२ पारब्रह्म सब समकरि जानै,
हिन्दू तुरक एक करि मानै।
शब्द-सग्रह।

३. सुन्दर-ग्रन्थावली, भाग १, पृष्ठ २१९।

४. सुन्दर-ग्रन्थावली, भाग २, पृष्ठ ६४९।१४।

५. सन्त कबीरदास ने भी कहा है

दुइ जगदीस कहा से आये,
कहो कौन फरमाया।

६. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १२९-१८१।

७. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १९८-१४४।

८. अग्नि माहि तृण घास बचावै।
चरन दास।

रह सकता है, राई को पर्वत कर सकता है। यह सब उस ब्रह्म की ही सामर्थ्य है। ऐसे ब्रह्म की उपासना का उपदेश इन निर्गुण सत-कवियो ने दिया।

नाम

निर्गुण सन्त-कवियो ने 'नाम' की महिमा का बडा गुणगान किया है, क्योकि साधना के क्षेत्र मे नाम-जप का अपना एक विशेष महत्व होता है। श्रीमद्भागवत मे लिखा है, जिस प्रकार सूर्य तम तथा प्रचड वायु बादलो को छिन्न-भिन्न कर देते हैं, उसी प्रकार नाम-कीर्तन समस्त पापो को विध्वस कर देता है।[1] कलियुग मे नाम महिमा का बहुत ही महत्व है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नही है।[2] विवश होकर भी नाम का उच्चारण करने वाला मानव भव-बन्धन से मुक्ति पा जाता है।

जापन्न ससृति घोरा यन्नाम विवशो गृणन्।
तत सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वय भयम्॥[3]

'अध्यात्म रामायण' के मतानुसार हरिनाम का स्मरण करने वाला अज्ञजन भी हरि मे लीन हो जाता है।[4] गीता मे भी स्पष्ट शब्दो मे यही विचार व्यक्त हुये हैं

अनन्यचेता· सतत यो मा स्मरति नित्यश·।
तस्याह सुलभ पार्थ नित्य युक्तस्ययोगिन॥[5]

इसी कारण कहा जाता है कि जिसकी जिह्वा पर ब्रह्म का नाम रहता है, वह श्वपच भी महान् है

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्,
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवु सस्नुरार्या,
ब्रह्मानुचूर्नाम गृणन्ति ये ते॥[6]

---

१. सकीर्त्यमानो भगवाननन्त
श्रुतानुभावो व्यसनम् हि पुसाम।
प्रविश्य चित्त विधुनोत्यशेप
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवात·।
श्रीमद्भागवत, १२, १२, ४७।

२ हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नाम केवलम्
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।
नारद-पुराण, १।४१।११५।

३. श्रीमद्भागवत, १।१।१४।

४. अध्यात्मरामायण, (अर० का०) ७।१९।

५. गीता, ८।१४।

६. श्रीमद्भागवत, ३।३३।७।

निर्गुण सन्त-साहित्य देखने से यह ज्ञात होता है, कि नाम की महिमा का गान सभी सन्तों ने किया है। सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर से लेकर छोटे से छोटे निर्गुण संत-कवि ने नाम के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा एवं विश्वास प्रगट किया है। कबीर दास के अनुसार नाम ही आदि और मूलवस्तु है। समस्त वेद और मंत्र इसी से उत्पन्न हुये हैं। बिना नाम का ध्यान किये हुये सभी भवसागर में डूब कर विलीन हो गये हैं।

आदि नाम सब मूल है, और मन्त्र सब डार।
कहे कबीर निज नाम बिनु, बूडि मुआ संसार ॥[1]

यह नाम सभी घटों में समा रहा है।[2] इस राम नाम का पान करते ही समस्त रोग दूर हो जाते हैं,[3] शरीर के समस्त विकार दूर हो जाते हैं।

परन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि निर्गुण संत-कवियों का ब्रह्म नाम, रूप, जाति और वर्ण से रहित है। वह अगम और अगोचर है, उसकी शक्ति एवं स्वरूप मानवीय कल्पना से उच्च एवं विस्तृत है। फिर भला उसका वर्णन कौन कर सकता है? इस प्रकार की भावना रखते हुये भी उन्होंने ब्रह्म को प्राकृत और गुणधारी बताया है। उनकी रचनाओं में राम और निरंजन आदि नाम बारम्बार आये हैं। दीनानाथ, दीनदयाल, आदि शब्दों द्वारा ब्रह्म के गुणों का प्रकाशन किया गया है। कबीर के राम समस्त जगत में व्याप्त हैं, वे दीनदयाल, दीनबन्धु हैं, जो सभी का पालन-पोषण करते हैं। बिना उसके स्मरण किये इस भवसागर से निकला नहीं जा सकता है। इस नाम के सदृश संसार में कोई अन्य पदार्थ या तत्व नहीं है। सुन्दरदास के शब्दों में प्रस्तुत भाव देखिये :

राम नाम जाके हिये, ताहि नवें सब कोय।
ज्यों राजा की सकते, सुन्दर अति डर होय ॥[4]

सन्त चरनदास ने नाम को समस्त धर्मों से श्रेष्ठ माना है :

सकल सिरोमन नाम है, सब धरमन के माहि।
अनन्य भक्ति वह जानिये, सुमिरन भूले नाहि ॥[5]

चरनदास के मतानुसार नाम की महिमा बड़ी विशाल है। नाम सारतत्व है। नाम से विमुख और यज्ञों में संलग्न व्यक्ति कभी भी साधना में सफलीभूत नहीं हो

---

१. सन्त-बानी-संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४।२।

२. पावक रूपी नाम है, सब घट रहा समाइ।

३. राम नाम मिसरी पिये, दूर जाहिं सब रोग।
स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १०८।४।

४. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १०८।५।

५ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १४४।१।

सकता है।[1] राम का नाम जीवन की प्रत्येक दिशा, प्रत्येक गति और प्रत्येक भाग मे समाहित कर लेना चाहिये।

नामहि लें जल पीजिये, नामहि लेकर खाह।
नामहि लेकर बैठिये, नामहि लें चल राह॥[2]

वेद-शास्त्रादि का सारतत्व रूप नाम ही है :

चार वेद किये व्यास ने, अर्थ विचार विचार।
तामे निकसी भक्ति ही, राम नाम ततसार॥[3]

अतएव राम नाम-जप करना ही जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिये।[4] अन्त मे राम नाम की महिमा का गान करने-करते जब सन्त चरनदास थक गये, तो उन्होंने कहा

सभी निचोरे कहत हू, भक्ति करो निष्काम।
कोटि तपस्या यही है, मुख सू कहिये राम॥[5]

सुन्दरदास ने भी नाम जप को समस्त कर्म काण्डों और धर्म मे श्रेष्ठ माना है :

नाम बराबर तौलिया, तुलै न कोऊ धर्म।

सुन्दरदास के मतानुसार नाम का जप बडे गोपनीय एव शान्त ढग से करना चाहिये

काहू को न दिखाइये राम नाम की वस्तु।
सुन्दर बहुत कलाप करि आई तेरे हस्त॥
हृदय मे हरि सुमिरियै अन्तर्जामी राह।
सुन्दर नीके जत्न सो अपनी वित्त छिपाइ॥[6]

नाम भी प्रत्येक घट मे सर्वदा व्याप्त है

---

१. कई बार जो यज्ञ करि, योग करे चित लाय।
चरन दास कहै नाम बिन, सभी अफल हो जाय॥
भक्ति-विवेक, पृष्ठ १८५।

२ भक्ति-विवेक, पृष्ठ १८६।

३ भक्ति-विवेक, पृष्ठ १८५।

४ भक्ति-विवेक, पृष्ठ १८६।

५. भक्ति-विवेक, पृष्ठ १८९।

६. सुन्दर-ग्रन्थावली, भाग २, पृष्ठ ६७६।
सहजो बाई ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है

सहजो सुमिरन कीजिये हिरदे माहि दुराय।
होठ होठ सै ना हिलै सकै न कोई पाय॥

नाम न रटा तो क्या हुआ जो अन्तर है हेत।
पतिरवता पति को भजे मुख से नाम न लेत ॥[1]

मलूकदास के शब्दों में राम नाम देखने में अत्यन्त लघु है, परन्तु उसका महत्व महान है। वह मानव के कोटिश पर्वत पापों को नष्ट कर देता है—

राम नाम एकै रती, पाप के कोटि पहाड़।
ऐसी महिमा नाम की, जारि करै सब छार ॥[2]

मलूकदास के मतानुसार वही पुत्र सुपुत्र है जो राम का भक्त है, और वही माता सुन्दरी है, जिसका पुत्र राम नाम से प्रेम रखता है।

सोई पूत सपूत है, जाहि नाम सो हेत।

तथा,

सोई माता सुन्दरी जहां भक्त औतार।[3]

राम नाम का बड़ा व्यापक तथा गम्भीर प्रभाव पड़ता है।[4] राम नाम के स्मरण मात्र से सभी भेद-भाव नष्ट हो जाते हैं और सांसारिक वस्तुएं निस्सार प्रतीत होने लगती हैं। शिव, ब्रह्मा तथा सनकादि भी राम-नाम की महिमा का वर्णन नहीं कर सकते हैं।[5]

इसी प्रकार दूलनदास, सहजोबाई, गरीबदास, पलटू साहब, दरिया साहब आदि ने भांति-भांति से नाम-महिमा का गान किया है।

सहजोबाई ने हर प्रकार के कष्टों को सहन करते हुये भी नाम जप का उपदेश दिया है

भेद सहै सहजो कहै, सहै सीत औ घाम।
पर्वत बैठो तप करै, तो भी अधिको नाम ॥[6]

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ४१।११।

२ मलूकदास जी की बानी, पृष्ठ ३३।

३ मलूक दास की बानी, पृष्ठ ३५।
गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखा है
युवती पुत्रवती जग सोई, रघुवर भक्त जासु सुत होई।

४ सकल वस्तु के भेद मिटाना। कंचन कांच से एक समाना ॥
भक्ति-विवेक।

५ राम नाम की हरि भक्तिन के आदि।
बरनत पार न पावहि शिव विरंचि सनकादि ॥
भक्ति-विवेक।

६. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १५५।४।

सन्तकबीर दास ने स्पष्ट शब्दों से कहा है कि नाम को न जानते हुये राम का जप व्यर्थ है। क्योंकि नाम के अभ्यास से ही सतगुरु ईश्वर के दर्शन होते हैं

राम नाम सब कोई कहै, नाम न चीन्है कोय।
नाम चीन्ह सतगुरु मिलै, नाम कहावै सोय ॥[1]

गरीबदास के अनुसार

अगम अनाहद भूमि है, जहाँ नाम का दीप।
एक पलक बिछुरै नहीं रहता नैनों बीच ॥[2]

नाम के स्पर्श मात्र से मन रूपी लोहे का मैल दूर हो जाता है और वह स्वर्णवत चमकने लगता है।[3] नाम सूर्य के समान प्रकाशवान है और भ्रमों का नाश करनेवाला है। नाम के प्रभाव से आवागमन से प्राणीमात्र मुक्त हो जाते हैं। संत दादू ने तो कोटिश विकारों का नाशक नाम बताया है

राम नाम निज औषधि काटै कोटि विकार।[4]

दयाबाई ने स्पष्ट रूप से कहा है कि हरि को भजने से स्वयं ही हरिमय हो जाता है

दया दास हरि नाम लै, या जग मे यह सार।
हरि भजते हरी ही भयो, पायो भेद अपार ॥[5]

सहजो ने 'नाम' को नाव, हरि को केवट और संसार को भवसागर माना है।

दया नाव हरि नाम की सतगुरु खेवनहार।
साधू जन के संग मिलि तिरत न लागै बार ॥

पलटू दास तो उन सन्तों की पनही की धूल तक बनने के आकांक्षी हैं, जो राम नाम का उच्चारण करते हैं

राम नाम जेहि उच्चरै, तेहि मुख देहु कपूर।
पलटू तिनके नफर की पनही का मैं धूर ॥[6]

---

१ सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ४।४।

२ सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ १८४।७।

३ आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया छूटन बंधन मोह ॥

४ सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ७१।७।

५ सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ १६८।२।

६. इसी भाव से साम्य रखने वाले गोस्वामी तुलसीदास जी की ये पंक्तियाँ देखिये
तुलसी जाके मुखन ते धोखेहु निकरहि राम।
ताके पगकी पैंतरी मेरे तन को चाम ॥

मध्यकाल मे नाम उपासना की प्रधानता थी। महत स्वामी मगलदास के शब्दो मे "मध्यकाल के सभी सन्तो ने चाहे वे निर्गुण निरजन के उपासक हो या सगुण के, नामोपासना को प्रधनता दी है, और सभी ने नाम के महत्व को स्वीकार किया है इस तरह नाम निर्गुण से बडा है "[1]

निर्गुण मत-कवियो को नाम पर पूर्ण विश्वास था। इसी विश्वास पर उन्होने अपने जीवन का दृष्टिकोण ही बदल दिया था और नाम की महिमा का गान करते रहे। नाम की भौतिक एव व्यावहारिक दोनो ही प्रकार के जीवनो मे उपयोगिता हो।

आत्मा

भारतीय-दर्शन के अनुसार आत्मा अजर-अमर है। शरीर क्षय एव विनाश को प्राप्त होना है, परन्तु आत्मा नही। शरीर अनित्य और असत्य है, परन्तु आत्मा ज्ञान-स्वरूप, नित्य, सत्य और अविनाशी है। कठोपनिषद् मे कहा गया है कि आत्मा, अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। यह शरीर के साथ विनष्ट नही होती है

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥[2]

माण्डूक्योपनिषद् के मतानुसार

सोऽयमात्माध्यक्षरमोकारोऽधिमात्र पादा मात्रा।
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥[3]

आत्मा ही दिव्य-शक्ति है। वह उसी समय तक ज्ञाता भोक्ता एव कर्ता होती है जब तक चित्त के साथ उसका सम्पर्क रहता है। नित्यता और सनातनता ही आत्मा की विशेषता है। गीता मे कहा गया है, कि जीवात्मा प्रकृति मे ही रहकर उसके गुणो का भोग करती है, और अच्छे एव बुरे शरीरो मे जन्म उसके विविध गुणो के सग वश ही होते है।[4] परमात्मा जीवात्मा का निरीक्षक है और वही जीवात्मा मे व्याप्त है। आत्मा मे ही मन, बुद्धि, चित्त और अहकार का आधार प्राप्त होता है।

---

१ श्री दादू दयाल जी की वाणी भूमिका।
सम्पादक-स्वामी मगलदास।

२ कठोपनिषद्, १।२।१८।

३ माण्डूक्योपनिषद्, ८।

४ प्रकृति पुरुष चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकाराश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति सभवान् ॥
पुरुष प्रकृतिस्थो हि भुक्ते प्रकृति जान्यगुणन्।
कारण गुणसगोऽस्य सदसद्यो निजन्मसु ॥
गीता, अध्याय १३। २१।

निर्गुण सन्त-कवियो ने भी आत्मा के विषय मे अपने विचारो को प्रगट किया है। उनके मतानुसार आत्मा सब घटो मे निवास करती है

सूरज ब्रह्म अकास मे, मास भूमि परकास।
किरन जीव यह आतमा, सब घट कीन्हे वास ॥[1]

यह आत्मा ही उस परब्रह्म का स्वरूप है।[2] आत्मा की भी अपनी एक स्थिति है। परब्रह्म के समान ही आत्मा के भी स्वरूप तथा आकार का अनुमान लगाना दुष्कर है, वह भी उसी परब्रह्म के समान ही उस ससार मे व्याप्त है।[3] मलूकदास ने तो आत्मा को आकाश से भी अधिक विस्तृत और व्यापक माना है

है आकासहु ते बडो ऐसो आतम जान।

आत्मा मुक्ति स्वरूप है, प्रकाशवान है, इसी कारण निर्गुण सन्त-कवियों ने आत्मा को परब्रह्म की किरण रूप मे माना है।[4]

अज्ञानी मानव माया के बन्धनो मे बधकर जगत मे ही स्थित अपनी आत्मा को पहचानने का प्रयत्न नही करता है। वह यत्र-तत्र ब्रह्म की खोज मे भटका करता है। उस ब्रह्म का सत्य रूप जो कि उसके हृदय मे ही स्थित है, उसकी ओर ध्यान नही देता। आत्मा तो अजर-अमर है, शरीर नष्ट हो जाता है, पर आत्मा नष्ट नहीं होती। जैसे बादल नष्ट हो जाते है, पर आकाश नही नष्ट होता है, इसी प्रकार आत्मा भी शरीर के नष्ट हो जाने पर स्वय नष्ट नही होती है।

सन्त मलूकदास के शब्दो मे देखिये

नहि आतम जनमै मरै।
काहू काल न बूडै तरै ॥
जैसे घन मठ नास ते नाहि नसै आकास।
तैसे देहन के नसै नहि कछु ताको आस ॥

यह आत्मा दिव्य-शक्ति है, परन्तु जिस प्रकार एक अच्छा ब्राह्मण बुरे व्यक्ति के सम्पर्क मे आकर स्वकुल की मर्यादा खो बैठता है, उसी प्रकार आत्मा भी नीच कर्मो मे लीन शरीर के सम्पर्क मे आकर मलिन प्रतीत होती है।[5]

निर्गुण सन्त-कवियो ने आत्मा को विभिन्न नामो से सम्बोधित किया है। सार-तत्व, प्रकाश, अमर, पछी, चेतना, चुम्बक, कचन, प्राण, अजर, अविनाशी आदि

---

१ सन्त बानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ २३८।२१।
२ जेती देखी आतमा तेते सालिगराम।
३ जीव आदि मा आ पडे कहत है वेद बखान।
४ किरन जीव यहि आतमा।
5. Philosophical Views of Malukdas, Sunderdas and Charandas by Dr T N. Dikshit, Vol. I, P. 304.

शब्दो का प्रयोग आत्मा के लिए किया गया है। कहीं-कहीं पर उसे ब्रह्म या ब्रह्म के निवासस्थान के रूप मे ग्रहण किया गया है।

सन्त कबीर दास के शब्दो देखिये

कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूंढै वन मांहि।
ऐसे घट मे पीव है, दुनिया देखै नाहि॥

तेरा साईं तुज्झ में, ज्यो पुहुपन मे बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूंढै घास॥

सब घट मेरा साइया, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट्ट की, जा घट परघट होय॥

ज्यो तिल माही तेल है, ज्यो चकमक मे आगि।
तेरा साईं तुज्झ मे जागि सकै तो जागि॥

पावक रूपी साइया, सब घट रहा समाय।
चित चकमक लागै नहीं, ता तें बुझि बुझि जाय॥[1]

इसी प्रकार मानव उस ब्रह्म को अन्यत्र ढूंढता फिरता है और अपने ही हृदय मे स्थित उस ब्रह्म को पहचानने की चेष्टा नहीं करता है। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि निर्गुण सन्त-कवियो ने बारम्बार इस ओर ध्यान दिलाया है कि आत्मा सर्वव्यापी और अविनाशी है, देह नाशवान है। जब देह के पाचो तत्व निकल जाते है, तब आत्मा उसका परित्याग कर देती है। मलूकदास ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि जो देह और आत्मा को एक कहता है, उससे बडा अज्ञानी और कौन है ?[2] देह अनित्य है और आत्मा अमर है[3]। शरीर और आत्मा की भिन्नता को निर्गुण सन्त-कवियो ने बारम्बार स्पष्ट किया है। शरीर की महत्ता, शोभा एव दिव्य शक्ति आत्मा ही है। आत्मा के निकलते ही शरीर के समस्त कार्य समाप्त हो जाते है। सुन्दरदास के शब्दो मे प्रस्तुत भाव देखिये .

सुन्दर देह परी रही निकसि गये जब प्रान।
सब कोऊ यो कहत है अब लै जाहु मसान॥

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा ही शरीर का सौन्दर्य है, शरीर की क्रियाशीतलता का एक मात्र कारण आत्मा ही है। शरीर की क्रियाशीलता का रहस्य प्राण ही है। प्राण के ससर्ग से शरीर उसी प्रकार गतिशील बन जाता है, जैसे चुम्बक

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ३५।

२ देह आतमा एक कहै तातो कौन अज्ञानी।

३ देह अनित्य आपु नित जान।
याको नाम कहै है ज्ञान॥

के स्पर्श से लोहा उसकी ओर खिचने लगता है।[1] सुन्दर दास ने तो शरीर की उपमा उद्यान से और आत्मा की माली से दी है

सुन्दर पाणी सींचती क्यारी फल के हेतु।
चेतन माली चलि गयो सूखी काया खेत ॥ [2]

यह आत्मा ब्रह्म का अश है, वह स्थिर और अमर है

ना वह उपजै बीनसे ना कबहु मरमाया।
अश ब्रह्म का होइ रहै ना आवै न जाय ॥ [3]

यह आत्मा, नित्य-अविनाशी और दिव्य-शक्ति है। सभी सत कवियो ने आत्मा की महत्ता का उल्लेख करते हुये उसे विभिन्न आदरसूचक शब्दो से सम्बोधित किया है। कबीर दास,[4] चरनदास,[5] मलूकदास,[6] सुन्दरदास,[7] तुलसी साहब,[8] सहजो बाई,[9] गरीबदास,[10] आदि सभी ने इस बात को बारम्बार आदेश दिया है, कि आत्मा

---

१ चुम्बक सत्ता कर जथा लोहा नृत्य कराइ।
सुन्दर चुम्बक दूर ह्वै चचलता मिटि जाइ ॥
शुन्दर देह हलै चलै चेतनि के सजोग।
चेतनि सत्ता चल गई कौन करै रस भोग ॥

सुन्दर-ग्रन्थावली, भाग २, पृष्ठ ७१०
'देह बिछोह को अग'।

२. सुन्दर-ग्रन्थावली 'देह बिछोह अग'।

३. भक्ति-सागर—चरन दास ।

४. पावक रूपी साइया सब घट रहा समाय।
चित चकमक लागे नही, ताते बुझि बुझि जाय ॥ (कबीरदास)

५ सूक्ष्म शरीर आतमा, भिन्न लखै नहि कोय।
यही जो मन की गाठ है, खुले मुक्ति ही होय ॥ (चरनदास)

६ जैसे दूध माह घृत होई। चतुर विवेकी जानै कोई ॥
देह माहि नेकु आतमा जतन ते प्राप्ती होई।
बिना जतन कछु नाहि वा कहत सत जन सोई ॥ (मलूकदास)

७ सुन्दर अन्दर पैसि करि, दिल मे गोता मारि।
तौ दिल ही मे पाइये, साई सिरजन हारि ॥ (सुन्दरदास)

८ यह अज्ञानी जीव की, क्यों कर करू बखान।
अपनी बुद्धि विकार की, करै न मन पहिचान ॥ (तुलसी साहब)

९ तुरिया इक रस आतमा, इन ते परें निहार।
इन्द्री मन गहि ना सकै, सहजो तत्त अपार ॥ (सहजो बाई)

१०. दिल के अन्दर देहरा, जा देवल मे देव।
हर दम साखी भूत है, करो तासु की सेव ॥ (गरीब दास)

को पहचानने की चेष्टा करो। उस आत्म-ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। आत्मा उस परब्रह्म मे लीन हो जाती है.

जल मे कुम्भ कुम्भमे जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तत कथ्यो गियानी ॥
(कबीरदास)

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण सत-कवियो की आत्मा के सबध मे जो विचारधाराये है, उनमे बहुत साम्य है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के सम्बन्ध मे जो विचार प्रगट किये गए है, उनका आधार भारतीय-दर्शन है।

सद्गुरु

भारतीय-सस्कृति मे गुरु की महिमा का गान परम्परा से होता चला आया है। गुरु का स्थान भारतीय-समाज मे बहुत उच्च है। गुरु ही धर्म एव समाज को सत्य-पथ पर सचालन करने वाला होता है। गुरु ही माता-पिता है, और यहा तक कि गुरु ही ईश्वर है, उसकी सेवा मन, वचन एव कर्म से करनी चाहिये। उसकी कृपा से सभी वस्तुए सुलभ हो जाती है।

गुरु पिता गुरुर्माता गुरुर्देवा न सशय ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वं प्रसेव्यते ॥
गुरु प्रसादत सर्व लभ्यते शुभ मात्मन ।
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभ भवते ॥[1]

यदि हम हिन्दी-साहित्य की ओर दृष्टिपात करे, तो हमे ज्ञात होता है कि आदि-काल से लेकर 'नाथ-सम्प्रदाय' तक गुरु के गुणगान के कुछ ही उदाहरण मिलते है। सिद्ध और जैन कवियो के काव्य मे गुरु की महिमा का खूब गान हुआ है। पग-पग पर गुरु की आवश्यकता की ओर ध्यान दिया गया और उसके पथ-प्रदर्शन पर बारम्बार प्रकाश डाला गया।[2] निर्गुण सन्त-कवियो ने भी सद्गुरु की भूरि-भूरि महिमा गाई है। सद्गुरु अपूर्ण को पूर्ण बनाने वाला, और ब्रह्म-तत्व को प्रकाशित करने वाला है। इसी कारण सन्त कबीरदासने गुरु को गोविन्द से भी बडा बताया है

गुरु गोविन्द दोऊ खडे काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय ॥

इस साखी मे कबीर की दूरदर्शिता का पता चलता है। गुरु किसी न किसी मार्ग मे मुक्ति दिला ही सकता है। गुरु से तटस्थ हो जाने पर किस का सहारा

---

१ घेरण्ड सहिता, १३,१४।
२. हिन्दी काव्यधारा, श्री राहुल साकृत्यायन, पृ० ३,७ ।

ग्रहण किया जा सकता है ? कौन उस संकटपूर्ण स्थिति मे सहायक होगा।[1] दूलन दास ने तो गुरु का ही भजन करने का उपदेश दिया है। क्योंकि उन्होने गुरु को ही शकर, विष्णु और ब्रह्ममय माना है। सब शक्तिया गुरु मे ही विद्यमान है।

गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु हैं, गुरु शकर गुरु साध
दूलन गुरु गोविन्द भलु, गुरुमत अगम अगाध ॥[2]

गुरु की महिमा ब्रह्म से भी उच्च है। वह भी पत्थर को पारस और मिट्टी को सोना बना देता है। चरनदास के मतानुसार तीनो ही लोको मे अर्थात् आकाश, पाताल एव पृथ्वी मे कोई भी शक्ति सद्गुरु की समानता नही कर सकती है। उसके नाम के स्मरण मात्र मे समस्त पाप धुल जाते है, और ध्यान करने से ध्यानी भी हरि सदृश ही हो जाता है।

गुरु समान तिहु लोक, मे और न दीखै कोय।
नाम लिये पातक नसै, ध्यान किये हरि होय॥

सन्त पलटूदास ने तो गुरु को समस्त देवताओ का देवता माना है।[3] इस कारण वही सबसे बडा भक्त है, जो अपने गुरु की सेवा करता है[4] गुरु की चार पल की सेवा हरि की सौ वर्ष की सेवा से अधिक महत्व रखती है।

हरि सेवा कृत सौ बरस गुरु सेवा पल चार।
तो भी नहीं बराबरी बेदना कियो विचार॥[5]

गुरु की ही कृपा से इस भवसागर मे छुटकारा प्राप्त हो सकता है। सन्त मलूक दास के कथनानुसार

जीतो बाजी गुरु प्रताप ते माया मोह निवार।
कहै मलूक कृपा ते उतरा भव जल पार॥

---

१ कबीर ते नर अन्ध है, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहि ठौर॥
सत-दर्शन 'सतो के सद्गुरु' परिच्छेद

२. (अ) इसी प्रकार सुन्दरदास ने भी गुरु के रूप मे ही ब्रह्म का आभास किया है.

सुन्दर सतगुरु ब्रह्ममय पर सिष की समदृष्टि।
सूघो और न देखिई देखै दर्पन दृष्टि॥

(ब) दयाबाई के अनुसार भी गुरु ब्रह्म ही है

सद्गुरु ब्रह्म स्वरूप है, मनुष भाव मत जान।
देह भाव मानै दया ते है प्रभू समान॥

३. "सब देवन को देव"।

४ "पलटू वा है भक्ति जो सद्गुरु अपना सेव"।

५ चरन दास जी की बानी, पृष्ठ ८।

फिर भला ऐसे गुरु की प्रशंसा किन शब्दों में की जाय ? कबीरदास गुरु की महिमा को अनिर्वचनीय मानते हैं।[१] गुरु की महत्ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि जिस कवि ने कभी स्याही और कागज[२] स्पर्श नहीं किया, वह भी गुरु की महिमा करने का यह स्वप्न देख रहा था। उसकी लेखनी भी गुरु की महिमा वर्णन करते-करते थक जाती।

गुरु के लिए निर्गुण सन्त-कवियों ने सूरमा[३], अमृत की खान,[४] कुम्हार,[५] स्वर्णकार,[६] जहाज,[७] खेवट,[८] तैराक,[९] चन्द्रमा,[१०] शिकारी,[११] नावक,[१२] रंगरेज,[१३]

---

१ धरती सब कागद करूँ, लेखनि सब बन राय।
सात समुन्द्र की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय॥

२. मसि कागद छूयो नहीं, कलम गह्यो नहिं हाथ।

३ सतगुरु साचा सूरमा, नख सिख मारा पूर।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकनाचूर॥

४ यह तन विष की बेलि री, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान॥

५. गुरु कुम्हार सिष कुंभ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार है, बाहर वाहै चोट॥

स० ग्रा० स०, भाग १, पृष्ठ ३,४।

६. सुन्दर काटै सोध करि, सतगुरु सोना होइ।
सिष सुवरन निर्मल करै, टाका रहै न कोइ॥

(सुन्दर दास)।

७ दरिया भव जल अगम है, सतगुरु करहु जहाज।
तेहि पर हम चढ़ाइ कै, जाय करहु सुख राज॥

दरिया साहब (बिहार वाले)।

८. सुकृत पिरेमहि हितु करहु, सत बोहीत पतवार।
खेवट सतगुरु ज्ञान है, उतर जाव तो पार॥

९. दरिया गुरु तैरू मिला कर दिया पैले पार। दरिया साहब (मारवाड़ वाले)

१०. श्रीमत गुरु मुख चन्द्र ते, सबद सुधा झरि लाग।
हृदय सरोवर राखु भरि, दूलन जागे भाग॥ (दूलन दास)।

११. मैं मिरगा गुरु पारधी, सबद लगायो बान।
चरन दास घायल गिरे, तन मन बीधे प्रान॥

१२. सतगुरु सबदी लागिया, नावक का सा तीर।
कसकत है निकसत नहीं, होत प्रेम की पीर॥ (चरन दास)।

१३ सहजो गुरु रंगरेज सा, सबही कूं रंग देत।
जैसा तैसा वसन हो जो कोई आवै सेत॥ (सहजो बाई)

पारस[1] आदि शब्दो का प्रयोग किया है। इनमे सूरमा शब्द का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। इसके अतिरिक्त 'जहाज' तथा 'खेवट' शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। इन सभी शब्दो द्वारा सद्गुरु की उद्धारक शक्ति का परिचय मिलता है।

गुरु की कृपा का फल बडा कल्याणकारी है। उनकी कृपा मे दया, प्रेम, सुख और मुक्ति सभी कुछ मिल जाती है। क्षण मात्र मे उसके प्रभाव मे जीव ब्रह्म बन गया

बलिहारी गुरु आपने, तन मन सदके जांव।
जीव ब्रह्म छिन मे कियो, पाई भूली ठाँव ॥[2]

सन्त चरनदास भी उनकी कृपा से जगत की व्याधि से छुटकारा पा गए और राग-द्वेष की भावनाये मिट गई।

गुरु के ही परताप सू, मिटै जगत की व्याध।
राग दोष दुख ना रहे, उपजे प्रेम अगाध ॥[3]

इस प्रकार सद्गुरु की कृपा से फल के विषय मे सभी सन्तकवि एकमत है। कबीर तो सद्गुरु की कृपा मे ही अपने को गौरवान्वित समझते थे

ज्ञान समागम प्रेम सुख, दया भक्ति विश्वास।
गुरु से वाते पाइये' सतगुरु चरन निवास ॥
गुरु मिला तब जानिये, मिटा मोह तन ताप।
हर्ष सोक व्यापै नहीं, जब गुरु आवै आप ॥

साराश मे हम यही कह सकते हैं कि ससार की दृष्टि मे सद्गुरु और ब्रह्म भले ही भिन्न हो, और दो प्रतीत हो, परन्तु निर्गुण सन्त कवियो ने उनमे कोई भेद नही देखा है। सन्त कबीर ने रामानन्द मे लोहे को स्वर्ण मे परिवर्तित कर देने की शक्ति का अनुभव किया। सुन्दरदास ने भी सन्त दादू मे उसी दिव्य शक्ति को पाया। इस विशाल ससार मे सद्गुरु के समान कोई भी उदार व्यक्ति नही है।

गुरु का निन्दक सदैव आवागमन के चक्र मे फसा रहता है

गुरु निन्दक नहिं मुक्ति गर्भ फिर आवई।
चौरासी लखि मुक्ति महा दुख पावई ॥

(चरनदास)।

---

१ सतगुरु पारस रूप है, हमरी लोहा जात।
पलक बीच कचन करै, पलटै पिंडा गात ॥

(गरीब दास)।

२. स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ १४२।८।

३ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ १४२।२।

परन्तु इसके साथ ही सद्गुरु का मिलना दुष्कर है, वह भी ईश्वर की असीम कृपा से ही मिलता है।

सतसंग

सन्त कवियों का पूर्ण विश्वास है कि सत्संग से क्षणभर में ही जीवन सुधार सकता है। इसीकारण वे सदैव सज्जन व्यक्तियों के साथ सत्संग करने का उपदेश देते हैं और दुर्जनों से दूर रहने का आदेश देते हैं। सन्त कबीरदास के मतानुसार सन्तों की संगति व्याधियों का हरण कर लेती है।

कबीर संगत साध की हरै और की व्याधि।
संगत बुरी असाध की, आठों पहर उपाधि ॥[1]

कबीर के मत से साधु की संगत जौ की भूसी खाकर भी करनी चाहिये

कबीर संगत साध की, जौ की भूसी खाय।
खीर खांड भोजन मिलै, साकठ संग न जाय ॥[2]

यही नहीं, जो सुख साधु की संगति में मिलता है, वह वैकुण्ठ में भी नहीं मिलता है

राम बुलावा भेजिया दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधू संग में सो वैकुण्ठ न होय ॥[3]

सन्तों का सत्संग पर बड़ा अटूट विश्वास था। कबीरदास उस विश्वास को प्रगट करते हुए कहते हैं :

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी हू से आध।
कबीर संगति साध की, कटै कोटि अपराध ॥[4]

कबीर दास जीवन में सत्संग के अतिरिक्त और किसी बात के अभिलाषी नहीं थे

ऋद्धि सिद्धि मांगो नहीं, मांगो तुम पै येह।
निस दिन दरसन साध का, कह कबीर मोहि देय ॥[5]

---

१. सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ३०।२।
२. सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ३०।३।
३. सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ३०।७।
४. सं० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ३०।११।
५. सं० बा० सं० भाग १, पृष्ठ ३०।५।

इस प्रकार सन्त दादू,[1] मलूकदास,[2] सहजोईबाई,[3] दयाबाई,[4] आदि ने भी साधुओ की सगति को श्रेष्ठकर बताया है। सन्त गरीबदास के मतानुसार पडित और ज्ञानी तो ससार मे अनन्त है, पर साधु-सन्त बिरले ही होते है '

पडित कोटि अनन्त हैं, ज्ञानी कोटि अनन्त।
स्रोता कोटि अनन्त हैं, बिरले साधू सन्त ॥

सज्जन व्यक्तियो का सत्सग प्राप्त होते ही सुख का अनुभव होता है

जिन्ह मिलते सुख ऊपजे, भेटे कोटि उपाध।
भुवन चतुरदस ढूढिये, परम सनेही साध ॥

ऐसे ही सन्त व्यक्तियो की सगति करनी चाहिये

सगत कीजे साध की, ससारी भटकत।
पिजर सुआ बसत है, किस कू बूझै पथ ॥[5]

इस प्रकार निर्गुण सन्त कवियो ने वारम्वार सज्जनो का सत्सग करने का उपदेश दिया है। इतना ही नही उन्होने दुष्ट एव दुर्जनो के हृदय एव क्रिया-कलापो का अच्छा वर्णन किया है। सन्तो और असन्तो के स्वभाव मे आकाश और पाताल का जो वैपम्य रहता है, उसे स्पष्ट शब्दो मे भी उन्होने व्यक्त किया है। सन्त दूसरो की चिन्ता से चिन्तित रहते हैं, तो असन्त दूसरो को मिटा देने की चिन्ता मे व्यस्त रहते है। एक अपना अस्तित्व मिटाकर भी दूसरो को सुख पहुचाना चाहते हैं, तो

---

१ साधू जन ससार मे, पारस परगट गाइ।
दादू के ते ऊधरै, जेते परसे आइ ॥
साध मिले तब उपजै हिरदे हरि का हेत।
दादू सगति साध की, कृपा करै तब देत ॥

२ जहा-जहा बच्छा फिरै, तहा-तहा फिरै गाय।
कहै मलूक जहा सत जन, तहाँ रमैया जाय ॥

३ साध मिले दुख सब गये, मगल भये शरीर।
बचन सुनत ही मिट गई, जनम जनम की पीर।

४ साध सग ससार मे, दुरलभ मनुप सरीर।
सत सगति सू मिटत है, त्रिविध ताप की पीर ॥
सत सग छिन एक को, पुन्न न बरन्यो जाय।
रति उपजै हरि नाम सू, सब ही पाप विलाय ॥

५ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २०।१।

दूसरे अन्य के अहित मे ही सुख प्राप्त करते है। कबीर,[१] दादू,[२] मलूकदास,[३] मुन्दर दास,[४] गरीब दास,[५] तुलसी साहब,[६] आदि ने जहा सत्सग को अच्छा बताया है, वही दुर्जन व्यक्तियो के स्वभाव का भी विस्तृत विवेचन किया है। दुर्जन व्यक्ति मुख से कुछ कहते है और करते कुछ है। सुन्दर दास कहते है

सुन्दर कबहु न धीजिये, सरस दुष्ट की बात।
मुख ऊपर मीठी कहै, मन मे घालै घात ॥

इसी कारण दुर्जन व्यक्ति सतत् त्याज्य व्यक्ति है। कारण कि काली कमली पर दूसरा रग नही चढ सकता है .

कमरी के रग ना चढ़ै कोइला नहीं सपेद।
(गरीब दास)

साराश मे हम यही कहेगे कि निर्गुण सन्त-कवियो ने सत्सग को ही अच्छा माना है। यद्यपि सत्सग भी भगवान की कृपा बिना नही प्राप्त हो सकता है।[७] इसी कारण सन्त कबीर ने पल भर के लिए भी साधु की सगति को श्रेष्ठ बताया है।

सन्तो के सामाजिक-विश्वास

सन्तों ने सत्य, क्षमा, दया, त्याग, विश्व-बन्धुत्व, विनय, समता, समदृष्टि, करनी और कथनी, सन्तोष, दीनता आदि सामाजिक-विश्वासों के द्वारा समाज को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया। भेदभाव को मिटाकर उन्होने विश्व-बन्धुत्व का एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। प्रस्तुत ग्रन्थ के 'सन्तो की सामाजिकता' परिच्छेद मे इन विचारो को पूर्णरूपेण स्पष्ट किया गया है। यहा पर हम सक्षेप मे सन्तो के सामाजिक विश्वासो की ओर दृष्टिपात करेंगे।

---

१ जानि बूझि साचो तजै, करै झूठ से नेह।
ताकी सगति हे प्रभू, सपनेहू मति देहु ॥ (कबीर)।

२ दादू दूध पिलाइये, विषहर विष करि लेइ।
गुण का अवगुण करि लिया ताही को दुख देइ ॥ (दादू दयाल)।

३. कलपि डाहि जे लेत है, या ते पाप न और।
कह मलूक तेहि जीव के, तीन लोक नहि ठौर ॥ (मलूक दास)

४. सुन्दर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ४४०।

५. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २०१।

६. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २३५।

७. बिनु सतसग विवेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
रामचरित मानस-गोस्वामी तुलसीदास

सत्य

सत्य को निर्गुण सन्त कवियो ने ब्रह्म का ही रूप माना है। इसी कारण सन्त कबीरदास सत्य की महत्ता का उल्लेख करते हुए कहते हैं :

> साच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
> जाके हिरदै साच है, ताके हिरदै आप ।।[1]

कबीर दास की भाँति ही गरीबदास भी ब्रह्म को सत्य का पर्याय मानते हैं।

> साचे का सुमिरन करो, झूठो दयो जजाल ।
> साचा साहिब आप है, झूठ कपट सब काल ।।[2]

मानव को सदैव सत्यता का ही व्यवहार करना चाहिये। क्योकि ईश्वर को सत्य ही प्रिय रहता है। कबीर के मतानुसार 'साचे को साचा मिले अधिका बढै सनेह'। इसलिये मानव का सत्य ही बोलना चाहिये।[3] दादू तो सच्चे के वैभव का वर्णन करते हुये लिखते हैं।

> साचे का साहिब धणी, समरथ सिरजनहार ।।
> पाखड की यहु पिर्थमी, परपच का ससार ।[4]

सच्चे व्यक्ति का दर्शन कर लेने के पश्चात् गगा नहाने की कोई आवश्यकता नही रहती है।[5] कबीरदास सत्य मे सलग्न व्यक्ति को काल के प्रभाव से परे मानते है

> साचे स्राप न लागई साचे काल न खाय ।
> साचे को साचा मिलै, साचे मांहिस माय ।।[6]

निर्गुण सन्त-कवियो की यह सत्यप्रियता उनकी सात्विकी प्रवृत्ति का परिचय कराती है।

> झूठा सब ससार है, साचा है सो एक ।
> पार ब्रह्म सत्य रूप पद सब न सुधा की टेक ।।

---

१ सत दादू के यह विचार कबीर से साम्य रखते है
' जाके हिरदे साच है ता हिरदै गुरु आप' ।

२ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ २०३।३ ।

३ साई से साचा रह्यो साई साच सुहाइ ।

४ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ ६४।८ ।

५ साचे जिनके उर वसै झूठ कपट नहिं अग ।
तिनका दरसन न्हान है, कह परबी फिर गग ।।

६ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ ४६।४ ।

क्षमा

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में व्यक्त राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि मध्य युग चतुर्दिक अशान्ति, दुर्व्यवस्था और विषमता का समय था। उस युग में सामाजिक जीवन में अशान्ति व्याप्त थी, और चारों ओर षडयन्त्र एवं विद्रोह हो रहे थे। निराश जनता को कुचल डालना शासक-वर्ग के लिये हंसी-खेल के समान साधारण काम था। उस युग में प्रतिहिंसा की ज्वाला में मानवता दग्ध हो रही थी। मानव एक दूसरे के रक्त का प्यासा हो रहा था। ऐसे समय में क्षमा का उपदेश देकर निर्गुण सन्त-कवियों ने समाज को सुधारने का प्रयत्न किया। क्षमा जैसे महान् गुण की महिमा का गान उन कवियों ने जनता में उदारता का भाव प्रसारित किया। कबीर ने क्षमा में ब्रह्म के औदार्य और उदात्त गुण के दर्शन किये।

जहा छिमा तह आप [१]

कबीर दास ने समझाया कि 'छिमा बड़ेन को चाहिये, छोटन को उतपात। कहा विस्नु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ॥'[२] क्षमावान व्यक्ति में ही सहन-शक्ति होती है।[३] वही संसार में अच्छे मार्ग पर चलता है। इस कारण सदैव क्षमा गुण को धारण करना चाहिये।

दया

तेरहवीं शताब्दी से अट्ठारहवीं शताब्दी तक होने वाले अत्याचारों का वर्णन हम राजनीतिक परिस्थिति के अन्तर्गत कर चुके हैं। उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उस समय शासक-वर्ग के हृदय से दया का भाव दूर होता जा रहा था। साथ ही जनता भी उसके प्रभाव के कारण क्रूर हृदय हो रही थी। दया का भाव विलीन हो रहा था। तभी सन्त-कवियों ने दया भाव को धारण करने का उपदेश किया। सन्तों ने दया को ही सबसे बड़ा धर्म माना। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में बताया कि देह का धर्म यही है कि उससे दूसरों को कुछ लाभ हो।[४] दया का महत्व गान करते हुये सन्त दादू का कथन है कि

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५०१२।

२. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५०११।

३. कुटिल वचन साधू सहै और सो सहा न जाय।

४. देह धरें को गुन यही देह देह कछु देह।
बहुरि न देही पाइये अब की देह सो देह ॥

काल जाल पै काढि करि आतम अगि लगाइ।
जीव दया यहु पालिये, दादू अमृत खाइ ॥[१]

बिहार वाले दरिया साहब के मतानुसार .

जौ लगि दया न ऊपजै, सम जुग जाहिं अनत।
तौ लगि भगति न प्रेम पद, सुकृत सोक बिनु कत ॥[२]

चरन दास का कथन है कि किसी को भी दुखी नही करना चाहिये तथा मनुष्य को समदृष्टिवान बनना चाहिये —

दुखी न काहू को करै, दुख सुख निकट न जाए।
समदृष्टी धीरज सदा, गुन सात्विक कू पाय ॥[३]

दया नम्रता दीनता, छिमा सील संतोष।
इन कू लै सुमिरन करै, निस्चै पावै मोख ॥[४]

सन्त पलटू तो स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि वही पीर है जो दूसरे की पीर को जनता है

पलटू सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
जो पर पीर न जानई सो काफिर बे पीर ॥[५]

सन्त कबीरदास ने तो दया को धर्म का मूल माना है

जहा दया तहा धर्म है[६]

सन्त मलूकदास ने उसी को उच्च बताया है, जिसके हृदय मे दया है।[७] साथ ही हरी घास को तोडने को क्रूरता का प्रतीक माना है।[८]

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ९५।१।

२ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १२४।१।

३ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १४८।१।

चरन दास की दृष्टि मे मोक्ष को प्राप्त करने का एक साधन दया भी है

४ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १४८।२।

५ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २२५।१६।

६ गोस्वामी तुलसी दास के विचार भी कबीर के विचारो से साम्य रखते है

"परहित सरिस धर्म नही भाई"।

७. दया धर्म हिरदै बसै बोलै अमृत बैन।
तेई ऊचे जानिये जिनके नीचे नैन ॥
स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १०४।४।

८ हरी घास ना तोड़ियो, लागै छूरा बान।
दास मलूका यो कहै अपना सा जिव जान ॥
स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १०४।२।

सारांश मे हम यही कहेंगे कि निर्गुण सन्त-कवियों ने दया जैसे महान गुण को धारण करने का उपदेश देकर जनता को सुधारने का प्रयत्न किया।

काम, क्रोध, मद, मोह एव लोभ

सन्तों ने पच महाविकारो को सामाजिक-जीवन के लिये अभिशाप स्वरूप माना। ये पच महाविकार व्यक्तिगत या व्यष्टि और समष्टि दोनो के जीवन के लिये अभिशाप के रूप मे है। जीवन को विषम बनाने मे इनका प्रमुख योगदान रहता है। ये मनुष्य की मति को भ्रष्ट करके, निम्नातिनिम्न कार्यों मे नियोजित करते है। इसी कारण कवियो ने जीवन को समुन्नत बनाने के लिये इनको परित्याग करने का उपदेश दिया। जीवन की प्रत्येक दिशा इन दुष्प्रवृत्तियो से अछूती रहे, यही मानव-जीवन की सार्थकता है, और साधना के लिये प्रत्येक मनुष्य को इनके सम्पर्क से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। सन्तों ने इसी हेतु इनकी अत्यधिक निन्दा की है। सन्तो के प्रतिनिधि कवि कबीर ने इनकी कटु आलोचना करते हुये कहा है कि

कामी क्रोधी लालची इनमे भक्ति न होय।
भक्ति करै कोई सूरमा, जाति बरन कुल खोय॥

क्रोध के सम्बन्ध मे विचारो को प्रकट करते हुये कबीर ने कहा

कोटि करम लागे रहै, एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया, जब आया अहकार॥

मद मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है, इस मद की आलोचना करते हुये, कबीर ने कहा

कबिरा गर्व न कीजिए काल गहे कर केस।
क्या जाने कित मारि है क्या घर क्या परदेश॥

तथा

कबिरा गर्व न कीजिए, कबहु न हसिये कोय।
अजहू नाव समुद्र मे न जाने का होय॥

मोह और लोभ के सम्बन्ध मे इसी प्रकार कबीर ने अनेक सुन्दर उपदेशात्मक उक्तियो की रचना की। लोभ और मोह सबके लिए बड़े प्रबल शत्रु हैं। ये क्षण-भगुर जीवन को और भी अधिक असारपूर्ण तथा अनस्थिर बना देने वाले तत्व है। मोह और लोभ के सम्बन्ध मे कबीर की निम्नलिखित साखिया विशेष रूप से पठनीय है

सलिल मोह की धारमे, बहि गये गहरि गभीर।
सुच्छम मछरी सुरत है, चढिहै उलटे नीर॥

जब मन लागा लोभ से, गया विषय मे मोय।
कहै कबीर बिचारि कै, कस भक्ती धन होय॥

इसी प्रकार सभी सन्त-कवियो ने मानव की निम्न-प्रवृत्तियो की आलोचना की और ऐसा कल्याणकारी पथ दर्शाने का प्रयत्न किया, जो सबके लिए समान रूप मे हितकर और कल्याणकारी है।

विश्वबन्धुत्व

मध्ययुगीन समाज जातिगत, धर्मगत एव समाजगत भेदभावो से अभिशप्त था। हिंदू-मुसलमान का भेद-भाव, ऊच नीच की भेद-भावना, अन्त्यज और कुलीन का भेद-भाव ऐसे तत्व थे, जो सामाजिक-जीवन मे विप के बीजो का वपन कर रहे थे। मध्ययुगीन सामाजिक-परिस्थितियो का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है, कि उस समय जनता का जीवन प्रतिकार, प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की प्रचड लपटो मे दग्ध हो रहा था। महत्वाकाक्षा की पूर्ति के हेतु भाई-भाई का, पुत्र पिता का हनन और व्यक्ति समाज के समस्त नियमो का उल्लघन कर रहा था। तत्कालीन जीवन विपमताओ की एक विस्तृत गाथा है। इसीलिए सतो ने विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार करने के लिए बार बार कहा कि व्यक्ति मे कोई अन्तर नही है। एक ही आत्मा सबके हृदय मे समाई हुई है। फिर भेदभाव कैसा ?

समता

निर्गुण सन्त-कवियो ने समदृष्टि का भी उपदेश दिया है। साधु पुरुष समदृष्टि वाला होता है। समदृष्टिवान के लिए, ऊच, नीच, धनी, निर्धन, हिन्दू-मुसलमान किसी मे भी भेदभाव नही होता। सब एक ही ब्रह्म की कृतिया हैं। जैसे कुम्हार की कृतियो मे अन्तर नही है, उसी प्रकार मानव-मानव मे अन्तर नही है। समदृष्टि मे ममता की भावना आती है। वह सब जीवो मे एक ही आत्मा देखता है

समदृष्टी सतगुरु किया, मेटा भरम बिकार।
जह देखौ एक ही तह, साहिब का दीदार॥
समदृष्टी तब जानिये, सीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा लखै एक सी सोय॥

समता की भावना का उपदेश देकर, कबीर के समान ही अन्य सन्त-कवियो ने उस समय की सामाजिक विपमताओ को दूर करने का प्रयत्न किया।

करनी और कथनी

निर्गुण सन्त-कवि करनी और कथनी के समन्वय मे विश्वास करते थे। 'वे पर उपदेश कुशल बहुतेरे' व्यक्तियो मे नही थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य को कोरा

उपदेशक नहीं बन जाना चाहिये। मनुष्य जो कुछ कहे, उसे कार्यरूप मे परिणत करके दिखाना चाहिये। इन सन्त-कवियो ने जनता के सम्मुख कथनी और करनी का साम्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। केवल कथन मात्र से ही कार्य नही होता, जब करनी ठीक होगी तभी वह कार्य हो सकता है

कथनी मीठी खाड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करै, तो विष से अमृत होय ॥[1]

सन्त दादू स्पष्ट शब्दो मे करनी और कथनी के साम्य का उपदेश देते हुये कहते हैं, कि जो कहते कुछ और करते कुछ है, उनमे मेरा जी डरा करता है। न जाने वे क्या करके असन्तुलन समुपस्थित कर दें

दादू कथणी और कुछ, करणी करै कछु और।
तिन थे मेरा जीव डरै, जिनके ठीक न ठौर ॥[2]

सन्त-कवि कथनी मे ही विश्वास नही करते थे। कारण कि केवल कथनी के द्वारा लक्ष्य की पूर्ति दुष्कर होती है। परन्तु मनुष्य दूसरो को उपदेश तभी दे सकता है, जब वह स्वत क्रियाशील हो। सन्त-कवि स्वय ही इस दिशा मे क्रियाशील थे। तभी स्पष्ट शब्दो मे कहने मे समर्थ हो सके कि

जैसे मुखते नीकसै, तैसी चालै चाल।
तेहि सतगुरु नियरे रहै, पल मे करै निहाल ॥

इसलिए कथनी को तज कर करनी की ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये

कथनी करनी छाडि के, करनी से चित लाय।
नरहि नीर प्याये बिना, कबहु प्यास न जाय ॥

चरनदास के मतानुसार करनी और कथनी मे समन्वय स्थापित कर लेने वाला सन्त स्वत· ही ब्रह्मवत हो जाता है, जो केवल दम्भवश कथनी मे ही पडे रहते हैं, वे काल-कवलित हो जाते हैं और उनका नाम-निशान भी शेष नही रहता है

बहु डिम्ब करनी बिना, कथि कथि कर मूये।
सन्तो कथि करनी करी, हरि के सम हूये ॥

कोरी कथनी इसी प्रकार है, जिस प्रकार बाझ स्त्री पालना झुलाती हो और उसमे बालक न हो

बाझ झुलावै पालना, बालक नहिं माहीं।
वातु विहीना जानिये, जह करनी नाहीं ॥

---

१ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ ५७।१।

२. स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ ८०।३।१।

सार कथन में कुछ नहीं हो सकता । जैसे दीपक दिया, तेल एवं बाती के कथन मात्र से ही अन्धकार नहीं दूर हो जाता है ।[1]

सन्त कवि धरनीदास के अनुसार इस भवसागर और तीनों लोकों से युक्त संसार में मानव का उद्धार करने वाली प्रवृत्ति 'करनी' ही है, अब यदि करनी न हो तो मानव का उद्धार होना दुर्लभ हो जाय । 'करनी' का समन्वय गुरु से होना चाहिए । धरनीदास तो पुकार-पुकार कर यही कहते हैं कि "करनी पार उतारि है" ।

सन्त गरीबदास जी ने तो सभी निर्गुण सन्त-कवियों का सार ही इन पंक्ति में व्यक्त कर दिया है .

कथनी मे कुछ है नहीं, करनी मे रस लाय ।

इस प्रकार निर्गुण सन्त-कवियों ने उसी को विश्वासनीय बताया, जिसकी कथनी एवं करनी में साम्य हो ।

सन्तोष

मध्ययुग की आर्थिक-परिस्थितियों की विषमता का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में हो चुका है । विदेशी-वर्ग ने शासन में [illegible] बना दिया था । इसका प्रभाव मध्य-वर्ग, निम्न वर्ग और किसान तथा मजदूर वर्ग पर बहुत अधिक पड़ा था । अकाल, अनावृष्टि और लूट ने तो सार्वजनिक [illegible] जीवन में अशान्ति स्थापित कर दी थी । इस विषम परिस्थिति में निर्गुण सन्त-कवियों ने सन्तोष धारण करने का उपदेश देकर जनता की विक्षिप्तावस्था को सुधारने का प्रयत्न किया । सन्त कबीरदास ने सन्तोष को सभी धनों से श्रेष्ठ माना है ।

गोधन गजधन वाजि धन, और रतन धन खान ।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान ॥

सन्तोष-धन तभी प्राप्त हो सकता है, जब कि मानव अपनी तृष्णाओं का शमन करता रहे । नहीं तो उसकी तृष्णायें नित्य ही नवीन रूप धारण करती रहेंगी । सुन्दरदास के शब्दों में देखिये

जो दस बीस पचास भये सत,
होइ हजार तु लाख मगैगी ।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य,
पृथ्वी पति होन की चाह जगैगी ॥
स्वर्ग पताल को राज करौ,
तृष्णना अधिकी अति आग लगैगी ।

---

१ बाती तिमिर न भाजई, दीवा बाती तेल ।
(मलूक दास) ।

सुन्दर एक सन्तोष बिना सठ,
तेरी तो भूख कधी न भगेगी ॥[१]

तृष्णावान मानव कभी भी सुख नही प्राप्त कर सकता है। इसलिए सन्तोष आवश्यक है। मानव को चाहिये कि स्वय चाहे जितना भी ठगा जाय, पर दूसरे को कभी न ठगे।[२] इस प्रकार का उपदेश देकर हमारे सन्त-कवियो ने सन्तोष धारण करने की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया।

सन्तोषी व्यक्ति के दर्शन एव स्पर्श से सुख प्राप्त होता है

साध सतोषी सर्वदा, निरमल जा के बैन।
ता के दरस र परस ते, जिय उपजै सुख चैन ॥[३]

सन्तोषी व्यक्ति को कबीर दास ने शाहशाह माना है : "जिनको कछू न चाहिये सोई साहसाह।"

इस प्रकार निर्गुण सन्त-कवियो ने सन्तोष का उपदेश जनता को दिया।

दीनता

मध्ययुग महत्वाकाक्षा, वैभव-प्रदर्शन तथा असतुलन का युग था। दर्प, गर्व, अहकार, अभिमान, प्रतिकार आदि मानव की हीन प्रवृत्तिया समाज को भ्रष्ट, पतित और हीनावस्था मे पहुचाती जा रही थी। इसीलिए मध्य-युग की आवश्यकतानुसार निर्गुण सन्त कवियो ने दीनता का महत्व प्रदर्शित करके दीन और भुक्तभोगी जनता को अपनी स्थिति मे सन्तुष्ट रहकर ईश्वर के प्रेम मे रत रहने का उपदेश दिया। इन सन्त कवियो ने समय-समय पर गरीबी की सराहना की है। सन्त कबीरदास ने गरीब को "द्वितिया के चन्द्र के समान" वन्दनीय माना है।[४] गरीब व्यक्ति सभी के अत्याचारो को सहन कर लेता है और स्वय उसके प्रतिकार मे किसी को कष्ट नही पहुचाता। दीन व्यक्ति देवता रूप हो जाता है

दीन लखै मुख सबन को, दीनहि लखै न कोय।
भली बिचारी दीनता, नरहु देवता होय ॥[५]

---

१ स० बा० स०, भाग २, पृष्ठ १२१।
२ कबिरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै और ठगे दुख होय ॥
३. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५.१।१।
४ सब ते लघुताई भली लघुता ते सब होय।
जस द्वितिया को चन्द्रमा सीस नवै सब कोय ॥
५. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५.१।१।

कवीरदास के मत से ससार मे मुझ से बुरा और दोपमय अन्य कोई नही है। दीनता की यह चरम अभिव्यक्ति है।

बुरा जो देखन मै चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजौं आपना, मुझसा बुरा न होय ॥[१]

दीनता ग्रहण किये विना ब्रह्म नही मिल सकता है

आपा मेटे पिउ मिलै, पिउ मे रहा समाय।
अकथ कहानी प्रेम की, कहै तो को पतियाय ॥[२]

चरनदास तो सद्गुरु से गरीवी का ही वरदान मागते हैं

सतगुरु मे मागू यही, मोहि गरीवी देहु।

सहजो वाई ने भी दीनता को ही श्रेष्ठ बताया है

भली गरीवी नवनता, सकै नहीं कोई मार।
सहजो रुई कपास की, काटै ना तरवार ॥
सहजो पूरन भाग सू, पाय लिये सुख दान।
नख सिख आई दीनता, भजे वढाई मान ॥[३]

इस प्रकार समय की आवश्यकतानुसार सन्त-कवियो ने दीनता का उपदेश जनता को दिया।

पातिव्रत-धर्म

समाज की अव्यवस्थता को देख कर, सन्त-कवि अत्यधिक व्यथित हुये। कनक और कामिनी के मोह मे फसा मानव नित्यप्रति उनकी प्राप्ति के लिए षड्यन्त्रो की रचना किया करता था। मध्ययुग मे स्त्री भी अपने धर्म को भूल कर विलासिता की सामग्री हो गई थी। इसी कारण निर्गुण सन्त-कवियो ने पातिव्रत-धर्म की ओर स्त्रियो का ध्यान आकृष्ट किया। कामिनी के परम निन्दक सन्त कवीर ने भी पतिव्रता स्त्री के व्यक्तित्व पर, चाहे वह कुरूप ही क्यो न हो, करोडो स्वरूपवतियो को निछावर करने का विचार प्रकट किया है

पतिवरता मैली भली, काली कुचिल कुरूप।
पतिवरता के रूप पर, वारौं कोटि स्वरूप ॥

वह मैली पतिव्रता स्त्री सभी सखियो मे इस प्रकार देदीप्यमान होती है, जैसे रवि और शशि की ज्योति।

---

१ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ ५१।६।

२ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ ५१।३।

३ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ १६१।११,१५।

पतिवरता मैली भली, गले काच की पोत ।
सब सखियन मे यो दिखै, ज्यो रवि ससि की ज्योति ॥

सन्त कबीरदास की ही भांति दादू,[१] सुन्दरदास,[२] चरनदास,[३] आदि ने भी पतिव्रता स्त्री की भूरि-भूरि प्रशसा की और समाज मे उसका स्थान उच्च बताया ।

इस प्रकार निर्गुण सन्त-कवियो ने इन समाज विश्वासो के द्वारा सामाजिक-जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया । अब हम निर्गुण सन्तो के जीवन-दर्शन की व्याख्या करेंगे ।

सन्तो का जीवन-दर्शन

'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत भाषा मे 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'' है । मानव की भौतिक एव पारमात्मिक अनुभूति विषयक जिज्ञासा को शान्त और सयत मार्ग पर लाने वाला 'दर्शन' ही है । 'दर्शन' एक प्रयास है, जिसके माध्यम से मानव वास्तविकता के नियम परायण चिन्तन तक पहुचता है । विचारक पैट्रिक के शब्दो मे "दर्शन वस्तुओ के सम्यक् विचारणीकरण की कला है" ।[४] रसल के मतानुसार "विज्ञान एव धर्म के मध्य मे जो स्थान है, वही दर्शन है ।"[५] ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने दर्शन का सम्बन्ध यथार्थ से बताया है ।[६] सक्षेप मे हम इस प्रकार कह सकते है कि समस्त वस्तुओ को विधिपूर्वक चिन्तन करने की कला ही दर्शन है ।

दर्शन जगत के क्षितदर्शन का एक वैज्ञानिक एव बुद्धिवादी प्रयास है । इसी मे हम मानव जीवन का मूल्याकन करते है । अब प्रश्न यह उठता है कि जीवन क्या है ? श्वासो-प्रश्वासो का क्रमिक सचालन, आगम एव प्रत्यागमन ही जीवन है । इस जीवन के अनेक आधार माने गये है, और उन्ही भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से इसे देखने का प्रयत्न किया गया है । जीवन-दर्शन की धारा मे क्रान्ति उपस्थित करने के कारण एव हेतु उस काल की सामाजिक, सास्कृतिक एव आर्थिक परिस्थितिया ही होती है । भारत मे जीवन-दर्शन के परिवर्तित करने मे धार्मिक एव आर्थिक-तत्व ही सदैव से

---

१. नीच ऊच कुल सुन्दरी सेवा सारी होइ ।
सोई सोहागिन कीजिये, रूप न पीजै धोइ ॥
२. जो पिय को व्रत लै रहे, कत पियारी सोइ ।
अजन मजन दूरि करि, सुन्दर सनमुख होइ ॥
३. पति की ओर निहारिये, औरन सू क्या काम ।
सबै देवता छाडि कै जपिये हरि का नाम ॥
4. Introduction of Philosophy Patric—P 5
5. Russel says 'Philosophy is no man's land between Science and religion
6 Philosophy is the relationship with reality -(Plato)

सहायक रहे है । आर्थिक-विषमताओ एव नवीन आविष्कारो के कारण आज का जीवन-दर्शन प्राचीन जीवन-दर्शन से सर्वथा भिन्न हो गया है, जिसका प्रतिविम्ब हमे साहित्य मे देखने को मिलता है । साहित्य कलाकार के व्यक्तित्व का प्रतिविम्ब होता है । उसके विचार, मनोभाव एव चिन्तन-शैली का अध्ययन उसके साहित्य द्वारा ही होता है । निर्गुण सन्त-कवियो के पद्य-साहित्य से हमे उनके जीवन-दर्शन का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

सभी निर्गुण सन्त-कवियो का जन्म प्राय एक साधारण परिवार मे ही हुआ था, जहा भौतिक-जीवन मे समृद्धि के लिए कोई अवसर नही थे । जीवन मे उत्थान एव पतन का कोई प्रश्न ही उनके सम्मुख न उठता था । क्योकि एक निम्नवर्गीय व्यक्ति के जीवन मे विकास, उत्थान और कौतूहल आदि के लिए बहुत ही अल्प अवसर प्रस्तुत होते है । इन निर्गुण सन्त-कवियो का जीवन आध्यात्मिक-क्षेत्र मे महान् व्यक्तियो की विचारधाराओ से प्रभावित हुआ । महापुरुषो से प्रभावित होकर इन कवियो ने शान्ति, सन्तोष, सयम, सदाचार, सत्य और साम्य-भावना का सदेश देना शुरू किया । इन तत्वो ने निश्चय ही हमारे सन्तो के जीवन को किसी अश तक प्रभावित किया था ।

निर्गुण सन्त-कवियो के जीवन-दर्शन का अध्ययन करने के पूर्व उस समय के वातावरण की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है, जिससे प्रेरणा ग्रहण करके हमारे सन्त-कवियो के हृदय मे जनजीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ , और जो आगे चल कर लोकरजक तथा लोक मगलकारी भावना मे परिवर्तित हुआ ।

मध्ययुग मे महत्वाकाक्षा और लोभ से प्रेरित होकर मुसलमान नित्य प्रति उत्तर पश्चिम से आक्रमण कर रहे थे । धन को इतना अधिक महत्व दिया जा रहा था कि उसके हेतु भगवान की सर्वोत्तम कृति मानव को तलवार के घाट उतारा जा रहा था । राज्य प्राप्ति के लिए पिता तथा भाई का वध किया जा रहा था । मुहम्मद तुगलक ने गयासुद्दीन तुगलक को लकडी के महल के अन्दर कुचलवाकर राज्य प्राप्त किया था । अलाउद्दीन खिल्जी ने अपने ससुर जलालुद्दीन को तलवार के घाट उतार कर राज्य प्राप्त किया । औरगजेब ने शाहजहा को वन्दी बनाकर राज्य प्राप्त किया था । इन्ही घटनाओ को देखकर निर्गुण सन्त-कवियो के हृदय मे प्रतिक्रिया की भावना जाग्रत हुई और हृदय मे दीनता, करुणा तथा प्रेम का स्रोत प्रवाहित होने लगता । इन भावनाओ के उद्रेक से इन सत-कवियो ने सतोष, सयम, दीनता आदि ग्रहण करने का उपदेश दिया । इन्होने विचार किया कि जब एक ही साई सब मे निवास करता है, तो मानव एक दूसरे की हत्या क्यो करता है ? इन्ही विचारधाराओ मे उलझ कर सत-कवियो के मुख से अहिसा, समता एव त्याग के उपदेश निकल पडे ।

सतो के जीवन-दर्शन का मुख्य आधार है, नश्वरता या क्षण-भगुरता । निर्गुण सत-कवियो के मतानुसार तूफान मे दीपक एव वर्षा मे बालू की भित्ति पर मानव भरोसा कर सकता है, उनकी स्थिरता पर विश्वास कर सकता है । परन्तु मनुष्य का जीवन इनमे भी नि सार और क्षणिक है । कबीर के शब्दो मे इस ससार की स्थिति पठनीय होगी

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात ।
देखत ही छिपि जायगी, ज्यो तारा परभाति ।।[1]

इस नि मारता का ज्ञान होते हुए भी, मानव मृत्यु की ओर से बेखबर होकर भौतिकता मे ननग्न है

पाव पलक की सुधि नहीं, करै काल्ह का साज ।
काल अचानक मारसी, ज्यो तीतर को बाज ।।[2]

चार दिनो के जीवन के लिए मानव इतना आयोजन, इतना सघर्ष एव छीना-झपटी करता है, और वह उसी की चिन्ता मे सदैव लगा रहता है । कबीर दास जी का कथन है

कबीर थोडा जीवना, माडे बहुत मडान ।
सबहि ऊभा मे लगि रहा, राव रक सुलतान ।।[3]

मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर निकृष्ट से निकृष्ट कार्य करता है, और उसे इस सब मे किंचित मात्र का भी सकोच नहीं होता है । हमारे सन्त-कवियो ने उपदेश दिया कि इस ससार मे कुछ भी स्थिर नहीं है । कबीर दास जी के शब्दो मे देखिये :

का मागूं कुछ थिर न रहाई ।
देखत नैन चला जग जाई ।।
एक लख पूत सवा लख नाती ।
ता रावन घर दिया न बाती ।।
लका सा कोटि समद सी खाई ।
ता रावन की खबर न पाई ।।
आवत सग न जात सगाती ।
कहा भयो दर बांधे हाथी ।।
कहै कबीर अत की बारी ।
हाथ झाड़ जैसे चले जुवारी ।।

इस क्षणिक ससार मे सभी कुछ तो अस्थिर है । फिर मानव गर्व ही किस बात पर कर सकता है । चरनदास के शब्दो मे देखिये

क्या दिखलावे सान यह कुछ थिर न रहेगा ।
दारा सुत अरु माल मुलुक का कहा करै अभिमान ।।

---

१. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ६।७ ।
२. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ६।११ ।
३. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ६।१८ ।

रावन कुम्भकरन हरनाकुस राजा कर्न समान।
अरजुन नकुल भीम से जोधा माटी हुये निदान ॥
छिन-छिन तेरो तन छीजत है सुन मूरख अज्ञान।
फिर पछताये कहा होयगा जब जम घेरे आन ॥
विनसै जलथल रवि ससि तारे सकल सृष्टिकी हानि।
अजहू चेत हेत करु हरि सू ताही के पहिचान ॥

पलटू साहिव के शव्दो मे यह भाव निम्नलिखित है —

पलटू नर तन पाइ के, मूरख भजै न राम।
कोऊ ना सग जायगा, सुत दारा धन धाम ॥[1]

यह जीवन छाया की तुलना मे भी हीन है। फिर इससे सम्बन्धित अन्य विपयो के लिए क्या कहा जाय ? एक दिन यह शरीर ओले के समान नष्ट हो जायगा, काच के वर्तन की भाति ठोकर लगते ही छिन्न-भिन्न हो जायगा, इसके लिये व्यर्थ ही मानव झूठ, कपट एव छलवल करता है, तथा वाजीगर के वन्दर के सदृश नाचा करता है

यह तन का कह गर्व करत है।
ओला ज्यो गलि जावै रे ॥
जैसे वरतन वनो काच को।
उपक लगे विनसावै रे ॥
झूठ कपट अरु छल वल करि के।
खोटे कर्म कमावै रे ॥
वाजीगर के वादर सा ज्यो।
नाचत नाहिं लजावै रे ॥

कवीरदास भी शरीर को कच्ची मिट्टी के घडे की भाति समझते हैं

यह तन कांचा कुम्भ है, लिये फिरे था साथ।
टपका लागा फूटिया, कछु नाहिं आया हाथ ॥[2]

फिर मानव दम्भ क्यो करता है ? मलूक दास जी का कथन है।

इस जीने का गर्व क्या, कहा देह की प्रीति।
वात कहत ढह जात है, वारू की सी भीति ॥[3]

---

१ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ २१४।
२ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ १०।२०।
३ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ १०४।४।

सहजोबाई के शब्दो मे नश्वरता का चित्र देखिये ।

धन जोबन सुख सम्पदा, बादर की सी छांहि ।
सहजो आखिर धूप है, चौरासी के माहि ॥[1]

ससार मे आसक्ति रखने वाला मानव चौरासी योनियो मे ही घूमता रहता है ।

चौरासी योनी भुगत, पायो मनुष सरीर ।
सहजो चूके भक्ति बिनु, फिर चौरासी पीर ॥[2]

जिस समय प्राण शरीर से निर्गत हो जाते है, सब यही रखा रह जाता है

आस पास जोधा खडे, सभी बजावे गाल ।
मझ महल से ले चला, ऐसे काल कराल ॥[3]

इन निर्गुण सन्त-कवियो ने जीवन का आदर्श महान् एव वृहत बताया है

दो दिन का जग मे जीवना है करता क्यो गुमान ।
ए बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान ॥
बाबा खुदी का दूर कर अपने तु दिल सेती ।
चलता है अकड अकड के ज्वानी का जासे आन ॥
मुरसिद का ज्ञान समझ के हुशियार हो सिताब ।
गफलत को छोड सुहबत साधो की खूब जान ॥

फिर भी मानव इस ओर ध्यान नही देता है । वह तो विद्रोह, षड्यन्त्र, हत्या आदि मे ही सलग्न रहता है । एक के बाद एक तृष्णा उसके हृदय को बिजली की भाति कौंधा करती है । भावुकता और उद्वेगजनक अत करण लेकर वह सासारिक कार्यो मे व्यस्त रहता है । ममता की घटाएँ सदैव उसे घेरे रहती है । प्रकृति की निस्तब्धता की ओर मानव का ध्यान भी नही जाता है । दिन-रात बाह्याडम्बरो मे लिप्त मानव निम्न-प्रवृत्तियो का चेरा बना रहता है । तृष्णा उसके शरीर को भस्म कर डालती है ।

त्रिस्ना अग्नि प्रलय किया तृप्त न कबहूं होय ।
सुर नर मुनि और रंक सब भस्म करय है सोय ॥[4]

(कबीर)

सन्त-कवियो ने बताया कि इस जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य भौतिकता का विसर्जन करके, ब्रह्म की आराधना करना ही है । प्रत्येक घट मे वही साई विद्यमान है । इसलिए मनुष्य को मानव मात्र के प्रति सहानुभूति होनी चाहिए । इन सन्तो ने अपनी मधुर

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १६६।५ ।
२ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १३६।६ ।
३. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १०।२५ ।
४. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५५/२ ।

वाणी से सतप्त जनता को शीतलता और सुख प्रदान किया। सन्तो ने बताया कि यदि किसी ने इस ससार मे एक भी जीव को सुख पहुचाया, तो उसका जीवन सफल है। समाज की सेवा करना ही मानव का धर्म है। 'देह धरे को गुन यही देह-देह कुछ देइ' मे विश्वास करने वाले हमारे सन्तो ने सेवा एव परोपकार को ही धर्म माना है। यह ससार दो दिन का मेला है, फिर छल-कपट, राग-द्वेष का स्थान ही क्या है ? इस कारण जीवन को शुद्ध नि कपट होना चाहिए। चरनदास के शब्दो मे देखिये —

घरी दो मे मेला बिछुरे साधो देखि तमासा चलना।
जो ह्या आकर हुए इकट्ठा तिनसू बहुरि न मिलना॥
जैसे नाव नदी के ऊपर बाट बटाऊ आवै।
मिल मिल जुदे होय पल माहीं आप आपको जावै॥
या वारी बिच फूल घनो रग सुगन्ध सुहावै।
लागै खिलै फेरि कुम्हिलावै झरे टूटि विनसावै॥
ह्याई मिले और ह्याना मे ताको क्या पछितावै।
दे कुछ ले कुछ करिलै करनी रहनी गहनी भारी॥

यह ससार तो 'नदी नाव सजोग' है। जब ससार के सम्पर्क इतने क्षणिक है, फिर पारस्परिक द्वेष-भाव का महत्व ही क्या है ? यह जीवन कच्चे घडे और स्वप्न के सदृश विनाशशील है। इस ससार के आदान-प्रदान, व्यवहार, नीति सभी कुछ स्वप्न के समान क्षणिक है। चरनदास के शब्दो मे —

चेतो रे नर करो विचार।
छल रूपी है यह ससार॥
सुपना माता-पिता सुत बन्धू।
सुपना है सबही सम्बन्धू॥
देखै कहै सुनै सो सपना।
सुपना धरती और आकासा।
सुपना चन्द सूर परकासा
सुपना जल थल पावक पौन।
सुपना जोग भोग अरु मौन॥
सुपना माया को व्योहार।
सुपना कुल नाता परिवार॥
सुपना देस नाम अरु भेस।
सुपने लरै मरै अरु भागै।
सुपनै सोवै सुपनै जागै।

कृत्रिमता तथा वाह्याडम्बर हमारे जीवन के उज्ज्वल-पक्ष को आच्छादित कर लेते है। वे हमारी सत्यता और तथ्य पर आवरण डाल देते है। जहा सत्य है, वह

कृत्रिमता तथा वाह्याडम्बरो की आवश्यकता नही। क्योकि मानव जो कुछ भी विचार करता है वह, पूर्ण होगा या नही, वह स्वय ही नही जानता है। सुन्दरदास जी का कथन है —

तू कुछ और विचारत है नर,
तेरो विचार धर्यो ही रहैगो।
कोटि उपाय करै धन के हित,
भाग लिख्यो तितनोही रहैगो॥
भोर कि साझ घरी पल मास सु,
काल अचानक आइ गहैगो।
राम भज्यो न किये कछु सुकीरित,
सुन्दर यू पछताइ रहैगो॥[1]

जहा मानव कृत्रिमता की ओर ध्यान देने लगता है, वहा उसकी सम्पूर्ण शक्ति उसी को बनाए रखने मे लगी रहती है। उसी के कारण मानव झूठ बोलता है, छल करता है तथा निन्दा करता है। इन बातो मे सलग्न मानव को देख कर चरनदास का कथन है —

माला तिलक बनाय पूर्व अरु पच्छिम भागा।
नाभि कवल कस्तूरि हिरन भा बौरा॥
चाद सूर्य थिर नहीं नहीं थिर पवन न पानी।
तिर देवा थिर नहीं नहीं माया रानी॥
चरनदास लख दृष्टि भर एक शब्द भरपूर है।
नरखि परखि ले निकट ही कहन सुनन कू दूर है॥

धार्मिक-जीवन के समान सामाजिक-जीवन मे भी कृत्रिमता नही होनी चाहिए। समाज के स्वच्छ निर्माण के लिए कृत्रिमता को दूर करना परमावश्यक है। अपनी वास्तविक स्थिति को बढ़ा-चढ़ाकर व्यक्त करने वालो को अनेक कष्टो का सामना करना पडता है, और सफलतापूर्वक निर्वाह होना कठिन हो जाता है। सामाजिक को दूषित मनोवृत्तियो का त्याग कर देना वाछित होता है। सामाजिक-जीवन मे काम, क्रोध, तृष्णा, मद, आदि प्रवृत्तिया कृत्रिमता ही लाती हैं। इसी कारण निर्गुण सन्त-कवियो ने इनकी निन्दा की, और समाज के लिए कल्याणकारी मनोवृत्तियो का सन्देश सुनाया। क्रोध मे मानव सब कुछ भूल जाता है, इस कारण उसे साधुओ की सगति करनी चाहिए —

दसो दिसा से क्रोध की, उठी अपर बल आगि।
सीतल सगति साध की, तहा उवरिये भागि॥[2]

---

१ स० बा० स०, भाग २, पृष्ठ १२३।
२ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५३।

सहजोबाई क्रोधी व्यक्ति के सम्बन्ध मे कहती है '—

सहजो क्रोधी अति बुरो, उलटी समझे बात।
सबहीं सू ऐठो रहे, करे वचन की घात ॥[1]

निर्गुण सन्त-कवियो ने मानव-जीवन मे आत्मसतोष को बहुत ही महत्व प्रदान किया है। चित्त की एकाग्रता एव शान्ति के लिये तृष्णा का दमन आवश्यक है। जहा तृष्णा, लालसा या इच्छा है, वहा साधना के लिये कोई अवसर नही रहा जाता है। इस कारण सरल स्वाभाविक और शान्तिमय जीवन के लिये अहिंसा अनिवार्य है। अहिंसा को परोपकार की निषेधात्मक-भूमि भी कह सकते है। परन्तु अहिंसा सत्यान्वेषण के अभाव मे असगत है। अहिंसा और सत्य दोनो ही अन्योन्याश्रित हैं। अहिंसा साधना है और सत्य साध्य। साधना के लिये यदि हम चिन्तित रहेगे, तो साध्य किसी न किसी अवसर पर उपलब्ध हो ही जायेगा।

निर्गुण सन्त-कवियो के जीवन मे त्याग, परोपकार, दया और उदारता का बडा महत्व था। क्योकि उनका पूर्ण विश्वास था, कि इनके अभाव मे न तो आध्यात्मिक जीवन मे ही सफलता मिल सकती है, और न सामाजिक-जीवन मे ही। परोपकार के द्वारा इन सन्त-कवियो ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को जाग्रत किया।

उपर्युक्त विवेचना द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि निर्गुण सन्त-कवियो ने जीवन मे सत्य, परोपकार, क्षमा, दया, सहनशीलता, सतोष, त्याग, विनय को महत्वपूर्ण माना, और साधना के क्षेत्र मे वाह्याडम्बरो की नि सारता पर प्रकाश डालकर यह सिद्ध किया, कि यह सब माया है, असत्य है। इसलिये सत्य स्वरूप की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिये, जो गुरु की कृपा से ही मिल सकता है।

सतो के साधनात्मक-विश्वास

निर्गुण सन्त-कवियो के साधनात्मक विश्वास के अन्तर्गत नाम-जप, सहज-समाधि, योग, वैराग्य और भक्ति आदि की गणना की गई है। अब हम अलग-अलग इनका विवेचन करेंगे।

नाम-जप

नाम जप सम्बन्धी-विश्वास का उल्लेख हम सन्तो के दार्शनिक विश्वास के अन्तर्गत कर चुके है। सतो को नाम जप मे पूर्ण विश्वास था और उन्होने नाम-जप को समस्त धर्मो से श्रेष्ठ माना है। नाम-स्मरण साधना का सरलतम तथा श्रेष्ठ साधना है।

राम भजन परिश्रम बिना करिये सहज सुभाइ।
सुन्दर कष्ट कलेस तजि मन की प्रीति लगाइ ॥

---

१. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १५९।

इस नाम-जप की साधनात्मक एव भौतिक दोनो ही जीवनो मे उपयोगिता है।

राम नाम भोजन करे, राम नाम जलपान ।
राम नाम सौ मिलि रहै, सुन्दर राम समान ॥

निर्गुण सन्त-साहित्य मे नाम-जप का गुणगान बहुत हुआ है। सतो का पूर्ण विश्वास है, कि साधनात्मक-क्षेत्र मे नाम-जप से और कोई सरल उपाय नही है। मनुष्य नाम रूपी जहाज पर चढकर इस भवसागर से पार हो सकता है।

सहजो भवसागर बहै, तिमिर बरस घनघोर ।
तामे नाम जहाज है, पार उतारे तोर ॥

निर्गुण-कवियो का नाम-जप पर अटूट विश्वास था। सुन्दरदास का मत है कि —

नाम लिया तिन सब किया सुन्दर जप तप नेम ।

तथा,

नाम बराबर तोलिया तुलै न कोई धर्म ।

इसी विश्वास के कारण सन्त कबीरदास अपने शरीर के चाम से उस व्यक्ति की पैंतरी बनाना चाहते हैं, जिसके मुख से भूल से भी कभी-कभी नाम निकल जाता है —

सपनहु मे बर्राइ, धोखेहु निकरै नाम ।
वाके पगरी पैंतरि श्रौ तन को चाम ॥[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट होता जाता है कि सन्त-कवियो को नाम जप पर पूर्ण विश्वास था और नाम-जप उनकी साधना का प्रमुख अग था।[2]

सहज-समाधि

सतो के साधनात्मक-विश्वास मे सहज-समाधि को प्रमुख स्थान प्राप्त है। निर्गुण सन्त-कवियो के काव्य मे सहज-समाधि विषयक विचार स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते है। सन्त कबीर ने सहज-समाधि की साधना को सर्वश्रेष्ठ साधना माना है। जिस दिन से उन्हे सहज अवस्था प्राप्त हुई, उस दिन से शाति बढती ही गई। दैनिक जीवन के प्रत्येक कर्म उसी सहज ब्रह्म की उपासना के अग प्रतीत होने लगे। कबीर का सहज-समाधि के प्रति विश्वास देखिये —

---

१ गोस्वामी तुलसीदास का यह पद कबीर से साम्य रखता है —
तुलसी जाके मुखन ते धोखेहु निकरहि राम ।
ताके पगकी पैंतरी मेरे तन को चाम ॥

२ परन्तु उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि काम के साथ नाम का विरोध है —
जहा काम तहा नाम नहि जहा नाम नहि काम ।
दोनो कबहू ना मिलै रवि रजनी इक ठाम ॥
कबीर साखी—सग्रह पृष्ठ १३६।

साधो सहज समाज भली।
गुरु प्रताप जा दिन सो जागी दिन-दिन अधिक चली॥
जहा-जहा डोली सो परिकरमा, जो कुछ करौ सो सेवा।
जब सोवो तब करो दडवत पूजो और न देवा॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खावौं पीवौं सो पूजा।
गिरह उजाड एक सम लेखौं भाव मिटावौं दूजा॥
आखन मूदौं कान न रुधौं तनिक कष्ट नहि धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं॥
सबद निरन्तर से मन लागा मलिन वासना त्यागी।
उठत बैठत कबहू नहि छूटै ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उन मुनि रहनी सो परगट करि गाई।
दुख सुख से कोइ परे परम पद तेहि रद रहा समाई॥

इन सन्तो का विश्वास था, कि सहज ब्रह्म की साधना भी सहज ही होनी चाहिये। साधक के दैनिक-जीवन और साधना म कोई विरोध अपेक्षित नही है। इसी कारण निर्गुण सन्त-कवियो ने गृहस्थी के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुये भी, सहज-साधना का सन्देश जनता को दिया --

काहे को कलपत फिरै, दुखी होय बेकार।
सहजै सहजै होइगा, जो रचिया करतार॥[1]

वह ब्रह्म सहज ही दर्शन देने वाला है। इसलिये व्यर्थ में चिन्ता में नही पडना चाहिए --

काम कलपना कदे न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पथ पहूँचि पार गहि, दादू सोचत सहज सभार॥

निर्गुण-सन्तो का यह विश्वास था, कि साधना जितनी ही सहज होगी उतनी ही बोधगम्य होगी। इसलिये उन्होने सहज-समाधि को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। मध्य-युगीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियो को देखते हुए भी सहज-समाधि की आवश्यकता थी। मुसलमानो के राज्यकाल मे जहा जीवन-रक्षा का प्रश्न अत्यन्त कठिन था, और नित्यप्रति मन्दिर नष्ट किये जा रहे थे, वहा सहज-समाधि की और भी आवश्यकता थी।

कबीर की भाति ही चरनदास जी ने भी सहज-समाधि की महत्ता का अनुभव किया था। उनका कथन है कि

निरतर सहज समाधि लगाई।
ऐसी लगी टरे नहि कबहू करनी आस छुटाई॥

---

१ स० बा० स०, भा० १, पृष्ठ ३३।३।

काको जप तप ध्यान कौन कू करे अब पूजा ।
कियो विचार नेक नहिं निकसं हरि बिनु और न दूजा ।।
मुद्रा पाच सहज गति साधी आलस आस न सोई ।
सब रस मूल ब्रह्म जब सोधा आप विसर्जन होई ।।

इसी प्रकार सन्त दादू,[1] रैदास,[2] भीखा साहब,[3] सुन्दर दास,[4] पलटू साहब,[5] सहजो बाई[6] आदि ने भी सहज-समाधि पर अटूट विश्वास के भावो का प्रदर्शन किया है।

योग

'योग' हिन्दुओ के दर्शन और धर्म का प्रमुख अग है। हिन्दुओ की साधना-पद्धति की यह सबसे समीचीन और वैज्ञानिक शैली है। योग-साधना की शैली और लक्ष्य के विषय मे कोई तर्क और विवाद नही किया जा सकता है, कारण कि योग-साधना की प्रक्रिया, शैली एव फल निर्विवाद रूप से एक निर्दिष्ट दिशा की ओर अग्रसर होते हैं। योग के आधारभूत सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे भी कोई मतभेद नही है। दार्शनिक एव विचारको का अभिमत है कि मोक्ष प्राप्ति के हेतु योग सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है। मोक्ष प्राप्ति के लिये भारतीय-दर्शन ने तीन साधनो का उल्लेख किया है, योग, भक्ति एव ज्ञान। परन्तु इन तीनो मे योग के समान कोई भी दूसरा साधन नही है। भारतवर्ष की धर्म-साधना मे 'योग' प्राचीनतम साधन माना गया है, जिसका अवलम्बन ग्रहण

---

१ काया अन्तरि पाइया, अनहद बेन बजाइ।
सहजै आप लखाइया, सुन्य मडल मे जाइ ।।
काया अन्तर पाइया सब देवन को देव।
सहजै आप लखाइया, ऐसा अलख अभेव ।।

२ पूजा अरचा ना जानू तेरी। कह रैदास कवन गति मेरी।
तोडू न पाती पूजू न देवा। सहज समाधि करु हरि सेवा ।।

३ करो विचार निधरि अवराधिये,
सहज समाधि मन लाव भाई।

४. सहज निरजन सब मे सोई। सहजै सत मिलै सब कोई ।।
सहजै शकर लावै सेवा। सहजे सनकादिक गुरु देवा ।।

५ फूटि गया आसमान सबद की धमक मे।
लगी गगन मे आग सुरति की चमक मे ।।
सेस नाग और कमठ लगे सब कापने।
अरे हाँ पलटू सहज समाधि की दसा खबर नहिं अपने ।।

६ ऐसा सुमिरन कीजिये, सहज रहै लौ लाय।
बिनु जिभ्या बिनु तालुवै, अन्तर सुरति लगाइ ।।

करके साधक ससार-सागर के त्रिविध तापो मे अवकाश ग्रहण करके, मुक्ति प्राप्त करता है। प्रत्येक धर्म की साधना मे योग किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहता है।

'शुक्ल यजुर्वेद' के ४०वें अध्याय मे भी योग की साधना और तत्वो की ओर सकेत किया गया है। 'शुक्ल यजुर्वेद' मे कहा गया है कि "तस्य को मोह क शोक एकत्वनुमपश्यत"। इसी प्रकार इस वेद ग्रन्थ के ३३वें एव ४०वें अध्यायो मे योग विषयक अनेक विषयो एव तत्वो का उल्लेख किया गया है। वेदो के अतिरिक्त उपनिषद्, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवत गीता, योगवासिष्ठ तथा तन्त्र-ग्रन्थो आदि ने भी योग का स्पष्ट उल्लेख एव साधना के विषय मे विचार प्रकट किये है। भारत के सभी प्रचीन धर्म, बौद्ध, जैन आदि योग की महत्ता के समर्थक है। बौद्ध-धर्म के पाली त्रिपिटकों मे योग की प्रक्रिया का सुन्दर उल्लेख मिलता है। महावीर एव जैन-धर्म के अन्य साधको ने योगाभ्यास किया और उस पर अपने विवेचनात्मक मत प्रकट किये हैं। उमा स्वाती तथा हेमचन्द्र ने क्रमश 'तत्वार्थ सूत्र' तथा 'योग-शास्त्र' ग्रन्थो में स्वानुभूतियो का चित्रण किया। तान्त्रिको ने तो अपनी साधना के हेतु योग को ही आधार बनाया। 'नाथ सम्प्रदाय' की साधना मे भी योग की प्रक्रियाओ को विशिष्ट स्थान मिला और अन्ततोगत्वा वह 'योगी सम्प्रदाय' के नाम से प्रख्यात हुआ। गोरखनाथ एव अन्य सिद्धो के ग्रन्थो मे अमृतनाद, अमृत बिन्दु, तेजो बिन्दु, नाद बिन्दु, क्षुरिका, हस, कुडलिनी आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। नाथ पथियो के पश्चात् हिन्दी के निर्गुणवादी कवियो मे भी योग का वर्णन उपलब्ध होता है। नैतिक जीवन मे भी प्राचीन भारत मे नागरिक यम, नियमादि का पालन करके किसी न किसी रूप मे योग की साधना मे रत थे"।[1]

योग-साहित्य के विषय मे सबसे प्रथम लेखक महर्षि पतजलि है। पातजलि योग सूत्रो के अनुसार "योगश्चित्त वृत्ति निरोध" अर्थात् चित्त की वृत्तियो का निरोध हो जाना ही योग है। 'योगवाशिष्ट' के अनुसार ससार सागर मे उत्तीर्ण होने की युक्ति ही योग है।[2] डा० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे "आत्मा जिस शारीरिक या मानसिक साधन से परमात्मा मे जुड जावे वही योग है।"[3] डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित का मत है कि "जो आध्यात्मिक विद्या जीवात्मा एव परमात्मा मे सयोग स्थापना की प्रक्रिया का निर्देश करे वही योग है।"[4] योग की क्रियाओ मे रत रहने वाला साधक 'योगी' है। गीता मे योगी शब्द का प्रयोग ईश्वर, आत्मज्ञानी, ज्ञानी भक्त, निष्काम कर्म-योगी, साख्य-योगी, भक्त, साधक-योगी, सकाम-कर्मयोगी, सयमी, ध्यान एव धारणा करने वाला तथा तत्वज्ञानी के अर्थ मे हुआ है। योग-शास्त्र मे योग के तीन भेदो का उल्लेख हुआ है

---

१ सुन्दर-दर्शन—ले० डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृष्ठ २२-२३।
२ योगवाशिष्ठ ६।१।१३।३।
३ कबीर का रहस्यवाद—ले० डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ६।
४ सुन्दर-दर्शन, पृष्ठ २४।

(१) सविकल्प-योग
(२) निर्विकल्प-योग
(३) निर्वीज योग

योग अनेक प्रकार के होते है . प्रेम-योग, साम्य-योग, ज्ञान-योग, कर्म-योग, हठ-योग, राज-योग, मत्र योग आदि ।

हिन्दी के सन्त-कवियो ने योग के विषय मे अनेक बार अपने विचारो को प्रकट किया । इन सन्तो ने योग को साधना का अनुपम साधन माना है । निर्गुण सन्तो मे अधिकाश साधको ने अष्टागयोग का वर्णन किया है । कबीरदास, मलूकदास, चरनदास तथा रज्जब साहब, इस कोटि के कवियो मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है । सन्त सुन्दरदास परम योगी थे । योग का जितना पुष्ट, वैज्ञानिक और क्रमबद्ध ज्ञान सुन्दरदास को था, उतना किसी अन्य सन्त-कवि को नहीं । सन्त सुन्दरदास ने अपने ग्रन्थो मे निम्नलिखित योगो का वर्णन और विवेचन प्रस्तुत किया है ।

(१) हठ-योग (२) भक्ति-योग
(३) अष्टाग-योग (४) राज-योग
(५) साख्य-योग (६) अद्वैत-योग
(७) लक्ष-योग (८) मत्र-योग
(९) लय-योग (१०) चर्चा-योग
(११) ब्रह्म-योग (१२) ज्ञान-योग

सुन्दरदास ने योग के इन भेदो को लेकर सविस्तार अपने ग्रन्थो मे योग के सम्बन्ध मे विचारो को व्यक्त किया है । योग के वर्ण्य विषय को लेकर सुन्दरदास ने दो ग्रन्थो की रचना की है

(१) ज्ञान-समुद्र, तथा
(२) सर्वाग योग-प्रदीपिका ।

इनके अतिरिक्त अपने स्फुट छन्दो मे भी कवि ने ३९ सवैयो मे साख्य सिद्धान्तो का निरूपण किया है, तथा १६३ साखियो मे कवि ने साख्य-योग के विभिन्न अगो पर अपने विचार प्रकट किये हैं । 'ज्ञान समुद्र' मे कवि ने भक्ति-योग, अष्टाग-योग, साख्य-योग तथा अद्वैत योग का वर्णन किया है तथा 'सर्वागयोग प्रदीपिका' मे भक्ति-योग, मत्र-योग, लय योग, चर्चा-योग, हठ-योग, राज-योग, लक्ष-योग, अष्टाग-योग, साख्य-योग, ज्ञान-योग, ब्रह्म-योग तथा अद्वैत-योग का वर्णन किया है । इन समस्त योगों मे कवि का मन अष्टाग-योग, साख्य-योग, भक्ति-योग की ओर अधिक लगा है ।

निर्गुण सन्त-कवियो को ज्ञान-योग, भक्ति-योग और अष्टाग-योग पर विश्वास था । योग के इन सभी प्रकारो मे उनका विश्वास अष्टाग-योग पर अधिक था । इनकी साधना पर नाथ-पथ की साधना पद्धति का भी प्रभाव पडा । नाथ-पथ की की साधना-पद्धति का नाम है हठयोग । हठयोग वास्तव मे लक्ष्य नही है । इसे योग का सोपान माना गया है । यद्यपि सच्चा योगी हठयोग के अतिरिक्त और

मलूकदास के योग सम्बन्धी ज्ञान का आधार महर्षि पतजलि कृत 'योग सूत्र' है। प्रमाण के लिये उनकी निम्नलिखित पक्तियां पठनीय है·

इन आठो को रूप कह्यो पातजलि विस्तार
अब वरनों सक्षेप ते सो पुनि करो विचार ॥
(ज्ञान-बोध, द्वितीय विश्राम)।

'ज्ञान बोध' मे मलूकदास ने अष्टाग-योग का सविस्तार वर्णन किया है और साथ ही उसकी उपयोगिता पर व्यापक रूप मे विचार प्रकट किया है।

सुन्दरदास ने बारह योगों का वर्णन किया है। परन्तु कवि ने अष्टाग-योग पर अधिक जोर दिया है। सुन्दरदास के योग का आधार है, 'हठयोग प्रदीपिका' जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है :

ये दश प्रकार के यम कहे हठ प्रदीपिका ग्रन्थ महि।
सो पहिले ही इनको ग्रहे चलत योग के पन्थ महि ॥
(ज्ञान-समुद्र . तृतीयोल्लास)।

सुन्दरदास की आस्था हठयोग मे भी समान रूपेण थी। 'सर्वांगयोग प्रदीपिका' के "हठयोगनाम तृतीयोपदेश" के अन्तर्गत इडा एव पिगला के एकीकरण की क्रिया को कवि ने हठयोग माना है·

रवि शशि दोऊ एक मिलावैं।
याही ते हठयोग कहावै ॥

मलूकदास एव सुन्दरदास के समान ही अट्ठारहवी शताब्दी के कवि चरनदास ने भी अष्टाग-योग को साधना के लिये उपयोगी माना है

प्रथम नीव दृढ कीजिए, तब ऊपरि विस्तार।
महलाइत जुडिगे नहीं, त्यों यम नियम विचार ॥

तीजे आसन हित करि साधो, प्राणायाम चौथे आराधो।
प्रत्याहार पाचवा जानो, छठे धारणा को पहिचानो।
सतवें ध्यान मिटै सब बाधा, कहूँ आठवा अग समाधा ॥

चरनदास ने अपने काव्य मे अष्टाग-योग की उपयोगिता और विभिन्न अंगो का सविस्तार वर्णन किया है।

इन कवियो के अतिरिक्त बावरी-सम्प्रदाय, निरजनी-सम्प्रदाय, साध-सम्प्रदाय, सतनामी-सम्प्रदाय तथा निर्गुण-धारा के अन्य कवियो द्वारा सस्थापित अन्य सम्प्रदायो में भी योग की प्रक्रियाएँ किसी न किसी रूप मे मान्य हुई है। सत्य तो यह है कि सन्तों की साधना पर योग का व्यापक प्रभाव पडा। इतना ही नही ये सन्त-कवि योगी थे, और योग की समस्त भूमिकाओ पर इनका अच्छा अभ्यास था। उनको

रचनाओ में योग का जो सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्णन सन्तो ने किया है, वह स्वत इस कथन का समर्थक है। सन्तो के साधनात्मक विश्वासो मे योग का प्रमुख स्थान है।

भक्ति

'भक्ति' ब्रह्म से अनुराग एव तादात्म्य स्थापित करने का सर्वोत्तम साधन है। विचारको का कथन है कि भक्ति ब्रह्माराधना का सर्वसुलभ साधन है। ईश्वर के प्रति सच्चे एव वास्तविक अनुराग को भक्ति-योग कहा गया है। महर्षि शाण्डिल्य के शब्दो मे "सा परानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् ईश्वर मे परम अनुराग अर्थात् परम प्रेम ही भक्ति है। भक्ति की परिभाषा और स्वरूप का उल्लेख करते हुए, देवर्षि नारद ने 'भक्ति-सूत्र' मे लिखा है "सा त्वास्मिन् परमप्रेम रूप" अर्थात् उस परमेश्वर मे अतिशय प्रेमरूपता ही भक्ति है। देवर्षि नारदने भक्तिको अमृतरूपा माना है। देवर्षि के शब्दो मे "अमृत स्वरूपाच"। योग, ज्ञान, वैराग्य आदि की साधना की तुलना मे भक्ति ही ऐसा साधन है, जो सबसे सुलभ और सर्वजन साध्य माना जा सकता है। कहा गया है, कि कलिकाल मे भक्ति के समान आत्मोद्धारक अन्य कोई साधन नहीं है। प्रेम द्वारा किसी काम्य वस्तु की प्राप्ति नही होती। कारण कि जब तक सासारिक वासनाएँ मानव के हृदय और मस्तिष्क पर प्रभाव बनाए रहती हैं, तब तक प्रेम का विकास नही होता है। भक्ति दानादि कर्म से श्रेष्ठ है और ज्ञान तथा योग से भी उच्च है, कारण कि इन सबका एक लक्ष्य रहता है। परन्तु भक्ति स्वय ही साध्य तथा साधन स्वरूपा है।

सा न कामायमाना, निरोध रूपत्वात्[1]।
सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्योऽप्याधिकतरा[2]।
स्वयं फल रूपेति ब्रह्म कुमारा[3]।

भक्ति-मार्ग की महान् विशेषता यह है, कि यह चरम-लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु यह सबसे सरल तथा नितान्त स्वाभाविक उपाय है। भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुये गीता मे कहा गया है कि "हे अर्जुन! न वेदो से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से इस प्रकार चतुर्भुज रूप वाला मैं देखा जाने को शक्य हू, जैसे 'मेरे' को तुमने देखा। परन्तु हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिये और तत्व के जानने के लिये तथा प्रवेश करने के लिये अर्थात् एकीभाव से प्राप्त होने के लिये भी शक्य हू

नाह वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्ट दृष्टवानसि मा यथा॥

---

१ नारद भक्ति-सूत्र, प्रथम सूत्र।
२. नारद भक्ति-सूत्र, २५ सूत्र।
३ नारद भक्ति-सूत्र, ३० सूत्र।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥[1]

भगवान् कृष्ण ने भक्ति की प्रशसा करते हुये उद्धव से कहा है कि

न साधयति मा योगो न साख्य धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्या हमेकयाग्राह्य श्रद्धायाऽऽत्म प्रिय सताम् ।
भक्ति· पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपिसम्भावात् ॥
धर्म सत्य दयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मान न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥
वाग्गद्गया द्रवते यस्य चित्त
रुदत्य भीक्ष्ण हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यतेच
मद्भक्ति युक्तो भुवन पुनाति ॥[2]

इन उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति ब्रह्म की प्राप्ति का सबसे
सरल सुगम और सुसाध्य उपाय है। उसमे न साधना की शुष्कता है, न आसन और
प्राणायाम के पथ पर अग्रसर पथिक के समान काया-कष्ट ही झेलना पडता है।
भक्ति का पथ, साधना के समस्त मार्गो से निराला और पृथक् है।

अब हम सन्तो की भक्ति विषयक विचारधारा का अध्ययन करेंगे।[3] सन्तो की
भक्ति या साधना का उल्लेख होते ही, निर्गुण काव्यधारा के प्रवर्त्तक युग-स्रष्टा
स्वामी रामानन्द का ध्यान हो आता है। मध्ययुगीन साधना-पद्धति पर स्वामी
रामानन्द का विशिष्ट प्रभाव और प्रतिच्छाया है। स्वामी रामानन्द ने मध्ययुगीन
त्रस्त, शोषित, उत्पीडित, मर्दित, निराश और पथ-भ्रष्ट जनता को भक्ति के सरल
और सम्मोहक रूप के दर्शन कराया। भक्ति की इस धारा मे, जिसे रामानन्द ने प्रवाहित
की थी, सब जातियो एव सब वर्गो को समान रूप से शान्ति एव शैतल्य प्रदान करने
की पूर्ण शक्ति थी। इस भगीरथी मे अवगाहन करके समस्त जातियो ने ब्रह्म प्राप्ति और
परमार्थ-साधना का सुलभ उपाय प्राप्त किया। मध्य-युग राजनीतिक विषमता,
सामाजिक सघर्ष, आर्थिक अभाव एव सास्कृतिक पतन का समय था। तेरहवी शताब्दी
से अट्ठारहवी शताब्दी तक जितने भी शासक हुये उनमे अकबर अपवाद है। जो
आक्रमणकारी इस देश मे आए, सभी ने हिन्दुओ के धर्म और भक्ति के प्रतीक मन्दिरो
पर प्रहार करके, उन्हे नष्ट कर देने मे कोई प्रयत्न अवशेष न रहा। भारतीय (हिन्दू)
जनता का विश्वास धर्म-साधना से डिग चला था। जनता का हृदय अस्थिर हो चुका

---

१ गीता ११।५३।५४।
२ श्रीमद्भा० ११।१४।२०-२२ तथा २४।
३ विशेष विस्तार के लिए देखिये, 'सत चरनदास' भूमिका
लेखक—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

था। ऐसी दशा में स्वामी रामानन्द ने भक्ति का जो सुरम्य रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत किया, उससे भग्न और निराश हृदयों में भी आशा की ज्योति प्रस्फुटित हो उठी। आशा की यह ज्योति बड़ी मधुर थी। इसी का अवलम्बन लेकर हमारे सन्तो ने भक्ति का उपदेश जनता को दिया। सन्तो द्वारा प्रतिपादित और उपदिष्ट भक्ति सरल, सुगम और सत्यता के आधार पर ठहरी हुई है। सन्तो की भक्ति सहनशीलता से सम्पन्न, औदार्य से युक्त, वाह्याडम्बरो से परे तथा कृत्रिमता से विहीन थी। इस भक्ति का द्वार सभी के लिये समान रूप से उन्मुक्त था। तभी तो जुलाहा कबीर, चमार रैदास, कसाई सदन, मुसलमान रज्जब और बुल्ला तथा क्षत्रिय पीपा ने भक्ति के क्षेत्र में इतनी ख्याति और प्रसिद्धि प्राप्त की।

रामानन्द की दीक्षा और प्रेरणा ग्रहण करके कबीर दास ने जनता में जिस भक्ति का प्रचार किया, वह निर्गुण, निराकार तथा निरजन की भक्ति थी। कबीर दास की भक्ति वाह्याचारो से विहीन,[1] स्वार्थी पेट भरने वाले पुजारियो[2] और भ्रष्ट ब्राह्मणो की सीमा से परे थी। कबीर अन्धानुकरण या अन्धी-भक्ति के विरोधी थे।[3] उनकी भक्ति निष्काम-भक्ति पर केन्द्रित थी।[4] भक्ति के क्षेत्र में राजा-रक, जाति पाति नि सार है। कबीर[5] भक्ति को धर्म से भी श्रेष्ठ मानते है

और कर्म सब कर्म है, भगति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकारि कै, भगति करो तजि धर्म।

सन्त दादू तो भक्ति के बिना जीवन ही निरर्थक मानते हैं

दादू हरि की भगति बिन धिग जीवन कलि माहि[6]।

सहजोबाई भक्ति के बिना सभी योग, यज्ञ और आचारो का थोथा समझती हैं

बिना भक्ति थोथे सभी जोग जज्ञ के चार[7]।

---

१ भगति भेस बहु अतरा, जैसे धरनि अकास।

२ लाडू लावा लापसी पूजा चढै अपार।
पूजि पुजारी ले चला दे मूरत मुख छार॥

३. ज्ञान सम्पूरन ना भया हिरदा नाहिं जुड़ाय।
देखा देखी भक्ति का रग न हीठ हराय॥

४. जब लग भक्ति सकाम है, तब लागी निस्फल सेव।
कह कबीर वह क्यो मिलै, नि कामी निज देव॥

५ भक्ति गेंद चौगान की, भावै कोई लै जाय।
कह कबीर कछु भेद नहिं कहा रक कहा राय॥

६ दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १०५।

७ सहजोबाई की बानी, पृष्ठ ८५।

सुन्दरदास की प्रस्तुत पंक्तियाँ भी इसी भाव से मिलती है

तैसेहि सुन्दर और किया सब
राम बिना निहचय नर रोये।

सन्त सुन्दरदास ने भक्ति पर विस्तार के साथ अपने विचारो को "ज्ञान समुद्र" के द्वितीय उल्लास मे अभिव्यक्त किया है। कवि ने विभिन्न योग वर्णनो मे 'भक्ति योग' को प्रधानता दी है। भक्ति-योग का वर्णन कवि ने ५६ छन्दो मे किया है। इन ५६ छन्दो मे सुन्दरदास ने भक्ति का महत्व, भक्ति के विविध प्रकार, नवधा-भक्ति, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, स्तुति, वदन, दासत्व, सख्यत्व, आत्म-निवेदन, प्रेम-लक्षण, भक्ति का महत्व, पराभक्ति, भक्ति की विविध सिद्धिया, उत्तम, मध्यम एव कनिष्ठा भक्ति आदि विषयो पर विचार प्रकट किया है। सुन्दरदास के भक्ति-योग का आधार गीता है।[1] सुन्दरदास का भक्ति-योग वर्णन बहुत ही विशद और पूर्ण है।[2]

सन्त पलटूदास का तो यह विश्वास है, कि भगवान के दरबार मे भक्ति-मार्ग ही श्रेष्ठ है।

साहिब के दरबार मे केवल भक्ति पियार[3]।

इन सन्तो का यह विश्वास है कि भक्ति को जाग्रत करने के लिये, पूर्व-जन्म के सस्कार, इस जन्म के कर्म और पूर्व जन्म के कृत कर्म आदि भी अपेक्षित होते है। कबीर के शब्दो मे देखिये

कुछ करनी कुछ करम गति कुछ पूरब का लेखा।
देखो भाग कबीर का दोसत किया अलेखा ॥[4]

सन्त गरीबदास उच्च कोटि के भक्त थे। उनका भक्ति विषयक दृष्टिकोण निम्नलिखित पक्तियो मे व्यक्त हुआ है

बिना भगति क्या होत है, कासी करतब लेह।
मिटै नहीं मन वासना, बहु विधि भरम सदेह ॥[5]

इन सन्त-कवियो ने किसी स्वार्थ साधना के वशीभूत होकर भक्ति-साधना नही की, वरन् जनता को भक्ति का सदेश दिया। उनकी भक्ति की बहुत बडी विशेषता यह थी, कि जिसने हरि का भजन किया, वही बडा है। पलटू का विश्वास देखिये

हरि का भजै सो बडा है, जाति न पूछै कोय।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-कवियो का भक्ति मे अत्यधिक विश्वास था। उनके मत मे कोई भी भक्ति-साधना करने का अधिकारी हो सकता था, चाहे वह किसी भी वर्ग विशेष का क्यो न हो।

---

१ सुन्दर-दर्शन, डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृष्ठ १०७।
२ सुन्दर-दर्शन, पृष्ठ १०७-११५।
३ पलटू की बानी, पृष्ठ ८५।
४ कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १३।
५ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १४७।

सन्तों के साधनात्मक-विश्वास के अन्तर्गत नाम-जप, सहज-समाधि, योग, वैराग्य, भक्ति का विश्लेषण किया गया है। नानक के शब्दों में साधनायें असत्य हैं

असत्य जप असत्य साथ पूजा
असत्य तप ताई
असत्य ग्रन्थ गुण वे पाठ असत्य
जोग मन रहहि उदास।[1]

निर्गुण-सन्तों का विश्वास उपर्युक्त पाँच साधनाओं पर अन्याश्रित था। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के प्रति तो सभी सन्त-कवियों ने श्रद्धा भाव दिखाया है।

सन्त कबीर ने ज्ञान को साधना का प्रथम सोपान माना है। इसी कारण उन्होंने कहा है 'वे बावले हैं, जिन्होंने ज्ञान का विचार नहीं किया है, उनका जन्म संसार में वृथा ही समझना चाहिये'।[2] सन्त चरनदास ने भक्ति को सब साधनों का मूलाधार माना है। उन्होंने साधना की वृक्ष रूप में कल्पना की, और उसका मूल भक्ति, फल ज्ञान और शाखा योग को माना है।[3]

वैराग्य

इस संसार या संसार से परे परलोक के अखिल विश्रुत अथवा अदृष्ट एवं अश्रुत वस्तुओं से सर्व प्रकारेण वितृष्णा हो जाना ही वैराग्य है। मनुष्य के हृदय में जब तक किसी वस्तु विशेष के प्रति आसक्ति या अनुराग रहता है, तब तक वह परब्रह्म के साथ तादात्म्य सस्थापन में कभी भी नहीं सफलीभूत होता है। आसक्ति जीवन का सर्वाधिक महान अभिशाप है। वह मानव में स्थिर-मति, दृढ-सकल्प और निर्मल-दृष्टि नही रहने देता है। इसलिये सन्तो ने आसक्ति से अछूता रहने का उपदेश दिया है। उन्होंने बारम्बार कहा कि ससार में उसी प्रकार जीवन-यापन करना चाहिये यथा कमल जल में रहता हुआ भी, उसके सम्पर्क से पृथक या विलग रहता है। जीवन समुन्नत, पवित्र, महान और निष्कलक बनाने के लिये है। उसे वासनाओं और तृष्णाओं का क्रीडा-क्षेत्र नही बनाना चाहिये। वास्तव में विषयों में अनुराग की निवृत्ति विषय विराग से ही सम्भव होती है। विषयों में चित्त का अनुराग प्रधान रूप में चार कारणों से होता है। ये कारण निम्नलिखित है

---

१. नानक-सत-सुधासार, पृष्ठ २१८।

२ बावरे ते जान विचार न पाया,
विरथा जनम गवाया।

३ ज्ञान विवेक के फले फूल,
जहा साखा जोग औ भक्ति मूल।
स० बा० स०, भाग २, पृष्ठ १७१।

(१) विषयो का अस्तित्व बोध,
(२) विषयो मे रमणीयता का बोध,
(३) विषयो मे सुख का बोध,
(४) विषयो मे प्रेम का बोध।

विवेक इन चारो की समुचित औषधि है। विवेक द्वारा ही वैराग्य प्राप्त होता है। इसीलिए नित्यानित्य-वस्तु विवेक की आवश्यकता पर सन्तो और विचारको ने जोर दिया है। मानव को चाहिए कि वह जगत के अस्तित्व को बुद्धि से विसार दे। यदि इस प्रकार की स्थिति का उदय या विकास हो जाता है, तो फिर रमणीयता, सुख और प्रेम की कोई समस्या ही अवशेष नही रह जाती है। रमणीयता का बोध उत्पन्न होना यह प्रमाणित करता है कि हमारी चित्त-वृत्तियाँ विषयो की ओर उन्मुख है। विषयो मे रमणीयता का प्रतिभास बुद्धि के विपर्यय से होता है, और बुद्धि के विपर्यय मे अज्ञान सम्भूत अविद्या का प्रमुख हाथ है। अविद्या असुन्दर मे सौन्दर्य, अनित्य मे नित्यता, दुःख मे सुख, अस्थिर मे स्थायित्व, प्रेमहीन मे प्रेम की प्रतिमूर्ति, अमगल मे मागलिक, असत मे सत् तत्वो की स्थापना का आभास देती है। स्वप्न के सागर मे डूबते हुए मानव को नौका द्वारा कौन बचा सकता है, जब तक वह स्वय जगकर स्वप्न की निस्सारता का अनुभव न कर ले। उसी प्रकार ससार सत्ता रहित है, पर असत् या अविद्या के कारण सब कुछ सत् प्रतीत होता है। वैराग्य के अभाव मे परमार्थ वस्तु की प्राप्ति उसी प्रकार असम्भव है, यथा आकाश मे दीवार उठाने का व्यर्थ प्रयास। साधक को वैराग्य की भावना सर्दव जाग्रत रखना चाहिये। कबीर ने सत्य ही कहा था कि

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जाति।
देखत ही छिप जायगा, ज्यो तारा परभात॥
जारे देह भस्म ह्वै जाई, गाढे माटी खाई।
काचे कुभ उदक ज्यो भरिया, तनकी यही बडाई॥

विषयो से वैराग्य हुये बिना ईश्वर मे अनुराग होना असम्भव है। ईश्वरानुराग के बिना वास्तविक आनन्द की प्राप्ति असम्भव है। गीता मे भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि हे अर्जुन! जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी दल-दल से निकल जायगी, तभी तुम सुने जाने वाले सब विषयो से वैराग्य को प्राप्त करोगे

यदा ते मोह कलिल बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेद श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
गीता २।५२।

मुमुक्षु व्यक्ति को मन का मोह दूर करने वाले, यथार्थ वैराग्य साधन का नित्य अभ्यास करना चाहिये, जिससे माया के कार्यो एव इस नश्वर जगत से अवकाश मिल सके.

तस्मात्तत्साधन नित्यमाचेष्टव्य मुमुक्षुभि ।
यतो मायाविलासा द्वं निवृत्त परमश्नुते ॥

सामान्यत वैराग्य के सात लक्षण होते है :

(१) ब्रह्मानुभूति के अतिरिक्त अन्य समस्त भोग फीके प्रतीत होना।
(२) विषयो मे विभीषिका, महान् भय और दु ख दिखाई देना।
(३) ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी प्रिय न लगना।
(४) विषयो के त्याग की प्रवल इच्छा जाग्रत होना।
(५) विषयो का त्याग हो जाना।
(६) विषयो मे भगवद् भाव होना।
(७) भगवान की एक मात्र सत्ता का आभास होना।

अत साधक को पहले वैराग्य की भावना हृदय मे धारण करनी चाहिये।

निर्गुण सन्त-कवियो ने वैराग्य का तो उपदेश दिया है, पर महत्वपूर्ण वात यह है कि वे जगल मे जाकर साधना करने का उपदेश नही देते है। वैराग्य से उनका अभिप्राय है, माया और वासना से मन को पृथक रखना। सत कवीर के शब्दो मे देखिये

वनइ बसै का कीजिए, जे मन नहि परिहरइ विकार।[1]

कवीर की भाति सभी निर्गुण सन्त-कवियो ने वासना के परित्याग और मन के शुद्धीकरण पर बल दिया है। सन्त पलटू के मतानुसार सच्चे वैराग्य की प्राप्ति, वासना के वीज के नष्ट होने पर ही होती है

वीज वासना को जरै तव छूटै समार।

सन्त दरिया साहव का तो यहा तक विश्वास है, कि साधक की सफलता मन की विजय पर ही आधारित है

मन के जीते जीतिया मन के हारे हार।[2]

यदि मन विकृत है तो सहज वैराग्य की प्राप्ति नही हो सकती है। इसी कारण निर्गुण सन्त-कवि दादू ने ज्ञान-खड्ग द्वारा 'मन मिरगा' अर्थात मन के विकारो[3] को दूर करने का उपदेश दिया है। यह ज्ञान-खड्ग गुरु सत्सग से ही प्राप्त होता है :

---

१ कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०८।
२. सत दरिया साहव, पृष्ठ ३०।
३ विकार आठ प्रकार के होते हैं :
काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार, कपट, आशा, तृष्णा।

ज्ञान खड्ग गुरु देव का ता सग सदा सुजान।
मन मिरगा मारै सदा ताका मीठा मास ॥[1]

सन्तो मे गरीबदास ने वैराग्य पर साङ्गोपाग विचार किया है। वैराग्य की परिभाषा देते हुए गरीबदास ने उसके आवश्यक-तत्वो और अनिवार्य-अगो पर भी विचार किया है। कवि के ही शब्दो मे वैराग्य की परिभाषा निम्नलिखित है :

वैराग नाम है त्याग का, पाच पचीसो माहि।
जब लग ससा सरप है, तब लग त्यागी नाहि ॥
वैराग नाम है त्याग का, पाच पचीसो सग।
ऊपर की केचल तजी, अतर विषय भुवग ॥
अमन बसन सब तज गये, तज गये गाव गिरेह।
माहे संसा सूल है, दुरलभ तजना येह ॥
बाज कुही गत ज्ञान की, गगन गरज गरजंत।
लूटै सुन्न आकास तें, ससा सरप नद्दत ॥[2]

इनमे से प्रथम साखी विशेष ध्यान देने योग्य है। कवि ने सक्षेप मे तत्व की बात कह दी है। निम्नलिखित साखी मे कवि ने 'असल फकीरी' या 'वास्तविक वैराग्य' का लक्षण अकित किया है।

चार पदारथ एक कर, सुरत निरत मन पौन।
असल फकीरी जोग यह, गगन मडल कू गौन ॥[3]

इसी प्रकार कवियित्री सहजोबाई ने भी 'सत्त वैराग्य जगत मिथ्या' शीर्षक के अन्तर्गत वैराग्य पर सविस्तार विचार प्रकट किया है।[4]

सन्तो ने अपने काव्य मे ससार की अनित्यता, मृगमरीचिका एव तृष्णा के दुष्प्रभाव, वासना के विनाशकारी तत्वो का बारम्बार उल्लेख किया है, और इस प्रकार जनता के हृदय मे वैराग्य भाव समुत्पन्न करने का प्रयत्न किया। सत्य तो यह है कि वैराग्य की भावना का प्रचार और प्रसार मध्य-युग की सबसे बडी आवश्यकता थी। मध्ययुगीन जनता वासनाओ, महत्वाकाक्षाओ और मृगमरीचिकाओ के पीछे इतनी दौड रही थी, कि उसका कोई अन्त नही था। महत्वाकाक्षा, कनक और कामिनी के पीछे मध्य-युग मे हर प्रकार के दुराचार और भीषण अत्याचार हुये। पिता ने पुत्र का वध किया, भाई ने भाई के प्रति विश्वासघात किया, मित्र ने मित्रता की जडो को विष से सिंचित किया, पत्नी ने पति के प्रति विद्रोह किया—ऐसी भौतिकता,

---

१ दादू की बानी, भाग १, पृष्ठ ११०।
२ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ २००।१,२,३,४।
३ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ २०१।१०।
४ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ १६२।६३।

कूटनीतिज्ञता एव अधार्मिकता के उस युग मे वैराग्य की भावना का प्रचार करना नितान्त आवश्यक था। सन्तो ने इस कर्तव्य की पूर्ति करके सामाजिक-जीवन को समुन्नत बनाया। सन्तो की दृष्टि म वैराग्य न केवल धार्मिक-जीवन के लिये अनिवार्य तत्व है, वरन् उसका सामाजिक-जीवन में भी महत्व है।

अपने अटूट विश्वासो पर ही सन्त-कवि जनता को अमर सन्देश दे सके। उनकी वाणी अमर हो गई। उन्हे पूर्ण विश्वास था कि उनके भगवान उनके साथ है, इस कारण करोडो काल भी झकझोर कर उन्हे विचलित न कर सके

जाके मन विश्वास है सदा गुरु है सग।
कोटि काल झकझोरही, तऊ न होय चित भग॥

संत-साहित्य की महान परम्पराएं

साहित्य जीवन का पर्याय एव प्रतिबिम्ब है। ये उभय एक दूसरे के पूरक एव अन्योन्याश्रित है। जीवन और साहित्य दोनो का विकास एक दूसरे पर निर्भर है। जैसे जीवन महान परम्पराओ का अनुकरण करता हुआ, कल्याण के पथ पर अग्रसर होकर पूर्णता को प्राप्त करता है, उसी प्रकार साहित्य महान परम्पराओ के कल्याणकारी पथ का अनुसरण करता हुआ, जन-कल्याण की भावना का सर्जन करता है। परम्पराएँ जीवन और समाज को समान रूप बल प्रदान करती हैं। परम्पराए जन-जीवन की पथ-प्रदर्शिका तथा विधान-व्यवस्थापिका होती हैं। जिस प्रकार परम्पराएँ जीवन के लिए शक्ति और प्रेरणा देने का काम करती है, उसी प्रकार परम्पराए साहित्य के लिए प्रेरक शक्तियो का महत्वपूर्ण कार्य करती है। साहित्य एव जीवन द्वारा परम्पराओ का जन्म भी होता है, और परिपालन भी होता है। सतो ने हमारे साहित्य की अनेक परम्पराओ को अपनी महत्वपूर्ण जन-कल्याणकारी रचनाओ के द्वारा बल प्रदान किया। निर्गुण सन्त-कवियो ने साहित्य की महान परम्पराओ को जीवन प्रदान किया। भूत की घटनाओ और वर्तमान के कठोर सत्यो को इन्होने भविष्य से श्रृंखलाबद्ध कर दिया। उनके साहित्य मे सस्कारगत रूढियो, साहित्यिक मान्यताओ और तत्कालीन परिस्थितियो का अद्भुत समन्वय एव चित्रण मिलता है।

परम्परा भूत और वर्तमान के सोपानो को पार करती हुई, भविष्य की ओर अग्रसर होती है। दूसरे शब्दो मे वह अतीत से भविष्य की ओर प्रगति की मूलधारा है, जो क्रमश चली आ रही है, और यही उसकी जीवन दायिनी शक्ति है।

सतो की परम्पराओ को समझने के पूर्व उनकी एक-दो सामान्य विशेषताओ का उल्लेख कर देना आवश्यक है। निर्गुण कवि स्वभाव से ही बुद्धिवादी और क्रान्ति प्रिय सत थे। प्राचीन रुढियो को ध्वस करके, नवीन आदर्शो की स्थापना करना, सतो को बहुत प्रिय था। उनका रूढि-विरोध क्रान्ति की सीमा तक पहुँच गया था। साथ ही उनके निष्कपट व्यवहार ने उन्हे अत्यधिक लोक-प्रिय बना दिया है। ये सन्त सच्चे

सत्यान्वेषक थे एव परम्पराओ के विरोधी थे। फिर भी उन्होंने अभिनव परम्पराओं की स्थापना की। उन्होंने सत्य का अन्वेषण कोरे वाग्जाल पर ही नही किया है, वरन् अनुभवो की शिला पर सत्य की खोज के साथ-साथ धर्म के सामान्य तत्वो पर अधिक बल दिया। इन बातो को ध्यान मे रखते हुये, हम अब सन्त-साहित्य की महान परम्पराओं पर विचार करेंगे। सामान्यतया सन्त-साहित्य की मुख्य परम्पराए निम्नलिखित है —

(१) मानवतावाद,
(२) धार्मिकता,
(३) जातीयता,
(४) प्रगतिशीलता,
(५) शाश्वतता तथा
(६) सजीवता।

मानवतावाद

सत-साहित्य की सर्वप्रथम महान परम्परा 'मानवतावाद' है। मानवतावाद पर विचार करने के पूर्व उसकी परिभाषा पर विचार कर लेना आवश्यक होगा। मानवतावाद शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम सोलहवी शताब्दी मे हुआ। परन्तु इतिहास के पृष्ठो को देखने से ज्ञात होता है कि सोफिस्ट सर्व प्रथम मानवतावादी थे। उसने यह प्रतिपादित किया कि एक दूसरे के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार, सस्कृति, सभ्यता आदि जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक तत्व हैं। सोफिस्ट के अनन्तर ग्रीक-दार्शनिक एव विचारको ने सार्क्रेटीज का उल्लेख किया है। सार्क्रेटीज ने यह आवश्यक माना है कि मनुष्य को सर्वप्रथम अपने को समझना या जानना आवश्यक है। कारण कि आत्म-विश्लेषण के बिना हम दूसरे के दु ख या कष्ट को नही समझ सकते है। जिस बात से हमे कष्ट होता है, वही दूसरे के लिए भी कष्टदायक हो सकती है। जो बात हमारी वेदना का आधार है, वही दूसरे के लिये भी करुणा बन सकती है। जो हमारे लिए आपत्तिजनक है, वह उसी प्रकार दूसरे के लिए भी हो सकती है। अत हमे पहले अपने आपको समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि मानव को आत्म-विश्लेषण कर लेना चाहिए। उसे 'स्व' का प्रसार समस्त सृष्टि मे करना चाहिए। दूसरे की आत्मा मे उसे अपनी ही आत्मा की उपस्थिति की कल्पना करनी चाहिये। इस प्रकार मानवतावाद की प्रथम सीढी है या प्रमुख आधार है, आत्म-विश्लेषण, आत्म-चिन्तन, आत्म-विवेचन।[1] मानव समस्त शक्तियो का स्रोत है[2]। वह परिस्थितियो का निर्माण, परिवर्तन एव स्वरूप प्रदान करने मे पूर्णतया सक्षम है। उसी प्रकार अन्य दार्शनिको एव विचारको ने मानवतावाद के विषय मे अपने विचारो को सविस्तार प्रकट किया, सभी विचारको

---

1 "I Know thyself"—Socrates

2 Man occupies the central place of the scheme of things

ने आत्म-विश्लेषण तथा 'स्व' के प्रसार पर बल दिया है। परन्तु सोफिस्ट की विचार-धारा ही सबके चिन्तन की बिन्दु है।

भारतीय-दर्शन के इतिहास में मानवतावाद के चिन्तन और विश्लेषण का सर्वोत्तम समय था 'उपनिषद्-काल'।[1] यथा ग्रीक दार्शनिकों ने आत्म-ज्ञान और आत्म-विश्लेषण पर जोर दिया है, उसी प्रकार हमारे भारतीय दार्शनिकों ने भी आत्म-ज्ञान और आत्म-विश्लेषण पर बहुत जोर दिया है। आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेना मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य समझा जाता था। आत्म ज्ञान प्राप्त कर लेना मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ विकास था। इसके बाद और कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है। आत्म-ज्ञान के अनन्तर मनुष्य का परम-कर्त्तव्य समझा जाता है, उस ब्रह्म का साक्षात्कार अथवा ज्ञान प्राप्त करना, जो समस्त जगत का हेतु कारण या कर्त्ता है। ज्ञान की ज्योति से आलोकित हो जाने पर मानव स्वतः विकास और प्रसार को प्राप्त करता है। वह हीनताओं से ऊपर उठकर, औदार्य की व्यापक भूमि में प्रवेश करता है।

इस प्रकार आत्म-ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये बड़े-बड़े दार्शनिकों ने महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की और अपने विचारों के प्रसार के लिए अथक परिश्रम किया। सम्राटों और शासकों के दरबार में विद्वान एवं ज्ञानी पुरुष ज्ञान प्राप्ति की चर्चा करके, मानवतावाद का उपदेश करते थे। उनके चिन्तन और चर्चा का विषय होता था 'ज्ञान' एवं 'मानवतावादी-विचार।'

इसमें सन्देह नहीं है कि वह मानवतावादी दृष्टिकोण, जिसका प्रचार भारतीय-दार्शनिकों ने समय-समय पर किया था, एक बड़े भारी कल्याणकारी वातावरण के प्रचार में अत्यधिक सहायक हुआ। इस विचारधारा ने एक ऐसे वातावरण की सृष्टि की जहाँ मानव हृदय में, मानव के प्रति सहानुभूति का स्रोत प्रस्फुटित हो उठा और एक दूसरे को समझने में सहायता पहुँची। मानवतावाद के प्रचार में उपनिषद्-साहित्य एवं तत्कालीन दार्शनिकों ने बड़ी सहायता प्रदान की। इस दृष्टि से उपनिषद्-काल मानवतावाद के प्रचार के लिये सबसे उत्तम समय माना जाता है।

मानव की शाश्वत सुख की लालसा, उसके अमृततत्व में ही सन्निहित रहती है। मानव के सुख का लक्ष्य या उद्देश्य शारीरिक सुख या भौतिक सम्पत्ति की प्राप्ति ही नहीं होती, वरन् इसके अतिरिक्त कुछ और भी है, जो मानव को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखता है और वह है 'सत्य'। भौतिक-सम्पत्ति और भौतिक-सुख के आनन्द से मानव का चित्त कभी न कभी उचट जाता है। परन्तु सत्य, शिव,

---

1 The period of upanishada is certainly the most glorious period of Indian Humanism

Humanism and Indian Thought

—Mr A Chakravarti—Page 12

सुन्दरम् के सान्निध्य और नैकट्य में रहकर मानव का मन कभी भी विकृत नहीं होता है। वास्तव में मानव-जीवन का चरम उद्देश्य या लक्ष्य है 'चिर-सत्य' की प्राप्ति करना। इस 'चिर-सत्य' की प्राप्ति आत्मोन्नति तथा आत्म-परिष्कार के अभाव में सम्भव नहीं है। मानव की आध्यात्मिक उन्नति तभी हो सकती है, जब समस्त जीवों पर समान स्नेह हो, और जब सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति न रहे। तात्पर्य यह है कि मानव संकुचित भावनाओं से ऊपर उठकर ही 'बृहद्' प्रदेश में प्रवेश कर सकता है। भारतीय दार्शनिकों ने बारम्बार 'आत्मवत सर्वभूतेषु य पश्यति स पंडित' का उपदेश दिया है। इसी प्रकार भारतीय-दार्शनिकों ने कहा है कि 'सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामय। सव भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुख भागभवेत'। हमारी चिन्तन-धारा सदैव से इस बात पर जोर देती रही है कि दूसरे को आत्मवत् समझना चाहिये। दूसरे के कष्टों, व्यथाओं और दुखों को अपनी अनुभूति बनाना चाहिये। इस उदार दृष्टिकोण ने भारतीय-जीवन के समस्त कलुषों को धोकर, उसे निर्मलता प्रदान करने का प्रयत्न किया। कहना न होगा, कि इस दृष्टि ने भारतीय-जीवन में दिव्यता तथा अद्भुत आनन्द की सृष्टि एवं संचार किया और उसे उदात्त बनाने में अपूर्व योग प्रदान किया। इस सिद्धांत से प्रेरित होकर भारतवर्ष के शतश महाशयों तथा महात्माओं ने कर्तव्य-पथ पर अपना जीवन-यापन किया।

मानवतावाद का आधारभूत या मूल-सिद्धान्त है, समस्त प्राणियों को 'आत्म' से भिन्न न समझना, समस्त जीवों में दया भाव का समान रूप से प्रसार करना, सबकी दुख की अनुभूति को आत्मानुभूति बनाना। इसका प्रमुख कारण यह है कि सबका रचयिता एक ही है। एक ही अश के सब अशी है। फिर मानव-मानव के बीच यह विरोध कैसा ? न कोई बड़ा है, न कोई छोटा, न कोई उच्च हैं, न कोई नीच। सब में एक ही आत्मा का प्रसार है। सब एक ही कलाकार की कृतियां है। एक ही ईश्वर ने सबको जन्म दिया है। सब समान हैं। जाति-पाति का भेद-भाव नहीं होना चाहिये। कर्म मानव के स्वरूप को बनाने बिगाड़ने वाला है। केवल कर्म से ही मनुष्य कुछ भी बन सकता है। वैदिक-साहित्य में लिखा हुआ है

नर्तकी गर्भ सभूतो विशिष्टोनाम महाऋषि ।
तपसा ब्राह्मणो जात वस्मात् जातिर्नकारणम् ॥
चडाली गर्भ सभूत शक्तिर्नाम महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जात तस्मात् जातिर्नकारणाम ॥
श्वपाकी गर्भ सभूत पराशरो महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जात तस्मात् जातिर्नकारणाम ॥
मत्स्यगन्ध्यास्तु तनयोविद्वान व्यासो महामुनि ।
तपसा ब्राह्मणो जात तस्मात् जातिर्नकारणाम ॥[1]

---

1 Humanism and Indian Thought --A Chakravarti—Page 26

अर्थात् वशिष्ठ का जन्म एक नर्तकी कन्या से हुआ था। शक्ति का जन्म चाडाल स्त्री से हुआ था, पराशर का जन्म श्वपाकी से हुआ था, व्यास मुनि का जन्म एक मत्स्य-गन्धी स्त्री से हुआ। अपनी-अपनी साधना के कारण सभी मानवता के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार तपस्या, साधना और कर्मों से मनुष्य ब्राह्मण बनता है, जन्म और परिवार से नहीं।

जैनियो के मतानुसार एक अछूत यदि अपने चरित्र मे उच्चकोटि का है, सत्यवादी एव महान विचार रखता है, तो वह भी इतना पवित्र एव आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च हो सकता है, कि उसकी पूजा देवगण भी करते है।[1]

मानवतावादी विचारधारा से प्रेरित होकर, हिन्दी के सत-कवियो ने भी जाति-पाति को निस्सार बताया है। सन्त दादू का कथन है

जे पहुँचे ते कहि गये तिनकी एकै बात।
सर्वे सयाने एक मति तिनकी एकै जात॥

अर्थात् सन्त के वेत्ताओ मे शरीर भेद होता हुआ भी, दृष्टिभेद नही होता है। वे सब एक ही प्रकार के विचारो से ओतप्रोत और गुणसम्पन्न होते है। इसी प्रकार सन्त कबीर ने भी अपने विचारो को प्रकट करते हुए कहा है कि —

जाति न पूछो साध की पूछो उसका ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान॥

तात्पर्य यही कि मानव की आत्मा को पहिचानने का प्रयास करना चाहिए। बाह्यावरण से न कोई उच्च होता है, न निम्न।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय मानवतावाद की पृष्ठभूमि उच्च आध्यात्मिकता ही है। यही कारण था कि विदेशियो के भीषण आक्रमणो से भी भारतीय योगियो की शान्ति भग नही हुई। उनके यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि बिना किसी विघ्न-बाधा के चलते रहे और यदि विघ्न पडे भी तो क्षणिक रूप मे। वे बाह्य ससार को छोड़कर ध्यानावस्थित होकर, आभ्यान्तरिक साधना मे सलग्न रहे। आत्मा की स्वतन्त्रता के आगे देश की स्वतन्त्रता का महत्व उनके मन मे न बैठ सका। अत उन्होने उसकी ओर ध्यान न दिया।

मध्य-युग मे जब कि उत्तर-पश्चिम से अनवरत रूप से आक्रमण हो रहे थे, जब कि भारतीय-धर्म, साहित्य एव सस्कृति अत्याधिक सकटपूर्ण परिस्थितियो मे श्वास ले रही थी, और जब कि निराशा का तिमिर भारतीय-जनता को विनाश के गर्त की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर कर रही थी, उसी समय सन्त-कवियो ने अपनी मधुरवाणी से जीवो को समता और एकता का सदेश दिया। समता, एकता,

---

1 Humanism and Indian Thought

—A Chakravarti—Page 27

विश्वबन्धुत्व तथा औदार्य के ये सदेश भारतीय-जनता के प्रति महापुरुषों ने समय-समय पर उच्चारित किये और उनका प्रसार किया।

सत-साहित्य का मूल मत्र है 'मानवतावाद'। सतो की वानियो का मूलाधार यही मानवतावाद है। कबीर से लेकर सत-साहित्य के अतिम कवि चरनदास तक सभी ने जीवन की धारा को मानवतावादी दृष्टि से समलकृत करने की चेष्टा की। सतो का मानवतावाद मनुष्य जाति तक ही सीमित न रहकर, पशु पक्षी, जीव-जन्तु तथा वनस्पति जगत तक प्रसारित है। युगप्रवर्तक रामानन्द से प्रेरित और अनुप्राणित होकर सन्त कबीरदास ने मानवतावादी विचार-धारा का प्रचार एव प्रसार करने का प्रयत्न किया। इतना ही नही, उन्होने भारतीय चिन्तन-धारा मे एक नवीन परिच्छेद प्रारम्भ किया, जिसके द्वारा समानता की भावना को प्रसार मिला। कबीरदास ने एक ऐसा मार्ग प्रशस्त किया, जिस पर उनके अनन्तर आविर्भूत अन्य सन्त-नानक, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास, चरणदास आदि ने चलकर समता का उपदेश भारतीय जनता को समय समय पर सुनाया। इनकी प्रेरणा से हिन्दी के ज्ञानाश्रयी भक्त-कवियो की एक शाखा चल पडी। ये सन्त सभी जातियो के थे। इनकी मूल भावना थी "हरि का भजै सो हरि का होई"। जाति-पाति के भेद-भाव से उन्हे मोह न था। इन्होने बडे ही स्पष्ट शब्दो मे ललकार कर कहा कि सभी एक ही तत्व की कृतिया है। सभी एक ही कुम्हार की रचना है, फिर "को ब्राह्मन को सूदा"। भेद-भाव तो मन का मैल है। सन्तो ने स्पष्ट रीति से कहा

साधो मन का मैला त्यागो।

तथा,

ऊँच नीच सब गोरख धन्धे।
सब हैं उस अल्ला के बन्दे॥[1]

हिन्दी के निर्गुण सन्त-कवियो का लक्ष्य बडा ही व्यापक था। इन्होंने जीवो के निस्तार के लिये उच्चादर्शो के उपदेश दिये। मानव को कल्याण-कारी पथ पर अग्रसर करना ही इनका सबसे बडा लक्ष्य था। इन सन्तो के हृदय मे व्यथित के हेतु सहानुभूति एव सम्वेदना की भावना थी। वे ससार को सुखी और प्रसन्न देखना चाहते थे। इसी कारण सन्त-कवियो ने मानव-जीवन के सभी पक्षो-आर्थिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक को सुधारने की चेष्टा की। ये सन्त मानवता को सदैव ही शृ खलाओ से उन्मुक्त देखना चाहते थे, और भविष्य मे एक स्वस्थ एव आशापूर्ण दृष्टिकोण के आकाक्षी थे। यह मानवतावादी दृष्टिकोण सन्तो के साहित्य मे ओतप्रोत है। एक भी ऐसा सन्त नही है, जिसका दृष्टिकोण मानवतावादी विचारधारा से सम्पन्न न रहा

---

१. हरिजन वर्ग और उसका उत्थान।
—रामजी लाल सहायक, पृष्ठ २९।

हो। मानव के आध्यात्मिक और लौकिक जीवन को सुखी बनाने के हेतु, इन संत-कवियो ने बारम्बार सन्मार्ग एवं कल्याणकारी पक्ष की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने पारमार्थिक सत्ता की एकता निरूपित करके, यह प्रतिपादित किया कि मानव-मानव मे भेद नहीं है। सब प्राणी एक ही कलाकार की कृतियां हैं। हिन्दू और मुसलमानो ने अपनी-अपनी मिथ्या कल्पना के आधार पर ब्रह्म के सम्बन्ध मे विविध प्रकार की निस्सार कल्पनाएं स्थापित कर ली है। माया, भ्रम अथवा अज्ञान के कारण हम सत्य को नहीं देख पाते हैं। सत्य ही ब्रह्म है, और ब्रह्म ही सत्य है। उसमे द्वैत और भेद नहीं है। वह पूर्णतया अद्वैत, अनाम, अजात, अमर और अनन्त है। संसार का कोई भी कार्य उसकी इच्छा के बिना नहीं सम्पादित होता है। वह सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। उस ब्रह्म को लेकर जो भेद-भाव हिन्दू और मुसलमानो मे चलते हैं, वे निरी मूढ़ता के द्योतक है। अज्ञान का विसर्जन करके, मूढ़ता का परित्याग करके, प्रेम, सद्भावना और सहृदयता का प्रसार न केवल व्यक्तिगत जीवन के लिये वरदान है, वरन् समाज के उत्थान और विकास के लिए भी नितान्त आवश्यक और उपयोगी है। सद्भावना के प्रसार से मनुष्य के जीवन मे औदार्य, स्नेह, करुणा, प्रेम, त्याग तथा विश्वबन्धुत्व की भावनाओ का स्वतः विकास हो जाता है, जो मानव के लिये नितांत आवश्यक है। मनुष्य का स्वभाव श्रेय भी है, प्रेय भी है। धीरवान व्यक्ति दोनो को पृथक-पृथक दृष्टि मे देखते हैं। साधु श्रेय को ग्रहण करते है, और असाधु प्रेय को

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत सूतो विविनाक्ति धीर।
तयो श्रेय आददानस्य साधु हीयतेहर्यातप उप्रयोवृनीते ॥[1]

सद्भावना और सहृदयता के प्रचार के लिये श्रेय के साथ ही व्यापक दृष्टिकोण एवं औदार्य धारण करने की बड़ी आवश्यकता है। मानवतावादी भावन सन्तो की सबसे बड़ी विशेषता है। कबीर जैसे उदार सन्त-कवि संसार मे प्राणिमात्र को सुखी देखने के आकांक्षी थे। मलूकदास की साखियों मे मानवतावाद की पराकाष्ठा उपलब्ध होती है। कवि संसार भर के दुःख, कष्ट और दारिद्र्य को अपने सिर पर, इसलिये ले लेना चाहता है, कि संसार का भार हलका हो जाय। इससे अधिक व्यापक तथा महत्वपूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण होगा भी क्या ? मलूकदास ने स्वतः कहा है कि

जे दुखिया संसार मे खोवो तिनका दुक्ख।
दलिद्दर सौंपि मलूक को लोगन दीजै सुक्ख ॥[2]

सन्त मलूकदास जीवन के लिये दया और धर्म को आवश्यक तत्व मानते है। कारण कि दया समस्त धर्मों की आधारशिला है।

---

१ मनुष्य का धर्म, ले० रवीन्द्र नाथ टैगोर, पृष्ठ २०।

२ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ १०४।

दया धर्म हिरदे वसै, वोलै अमृत वैन ।
तेई ऊँचे जानिये, जिनके नीचे नैन ॥[१]

मलूकदास के ये विचार एव भावनाएँ बडी प्राचीन है। ये शाश्वत भावनाएँ हैं, जो विना अपवाद प्राय सभी सतो के काव्य मे उपलब्ध होती हैं। इसी भावना का प्रचार आज से सैकडो वर्ष पूर्व निम्नलिखित शब्दो मे हुआ था

'सब्बे सत्ता सुखिता, अवेरा, होन्त, अब्यापजझा होन्त, मुखी उत्तान परिहरन्त। सब्वे सत्ता दुक्खा पमुचन्त। सब्वे सत्ता मा यथालब्ध सम्पत्तिनो विगच्छान्ति'।[२]

अर्थात् समस्त जीव सुखी हो, नि शत्रु हो, अवध हो, सुखी होकर कालहरण करे। समस्त जीवन दु ख से मुक्त हो, समस्त जीवन यथालब्ध सम्पत्ति से वचित न हो।

मानवतावाद से ही प्रेरित होकर इन सन्त-कवियो ने ससार को भाति-भाति के कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया। इनके मानवतावाद का केन्द्र-विन्दु है, अद्वैत ब्रह्म। ब्रह्म अद्वैत है। वही सम्पूर्ण जगत का नियता है। वही समस्त सृष्टि का विकास केन्द्र है। वही सवका रचयिता है। जव सभी एक ही ब्रह्म की कृतिया हैं, तव फिर

अय निज परोवेत्ति गणना लघु चेतसाम।
उदार चरितानाम तु वसुधैव कुटुम्वकम्॥

मनुष्य ही नही, समस्त सृष्टि ही उसी के द्वारा विरचित है। उसकी सामर्थ्य अद्वितीय है।

सूर्याचन्द्रमसो धाता यथा पूर्वम कल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवी ञ्चान्तरिक्षमयो स्व ॥[३]

ऐसा वह ब्रह्म एक ही है। वेदो ने भी कहा है

(१) एक मेवा द्वितीयम् (छान्दोग्य ६।२।१।)।

(२) एक सद्वप्रा वहुधा वदन्ति (ऋग्वेद २।३।२२।४६)।

(३) एक सन्त वहुधा कल्पन्ति।

वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान स्वरूप एव अनन्त है

(क) सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म (तैत्ति० २।१।१)

(ख) विशुद्ध केवल ज्ञान प्रत्यक सम्यवस्थितम्।
सत्य पूर्णमनाद्यन्त निर्गुण नित्यमद्वयम्
ऋषे विदन्ति मुनय प्रशान्तात्मेन्द्रियाशया॥

(भागवत २।६।३९ ४०)।

---

१ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ १०४।

२ मनुष्य का धर्म, ले० रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृष्ठ ६५।

३ ऋग्वेद, ८।८।४८।३।

उपनिषदों में कहा गया है, कि एक ही ब्रह्म सब प्राणियों के भीतर छिपा हुआ है, सब में व्याप्त है, सब जीवों के भीतर का अन्तरात्मा है। जो कुछ कार्य सृष्टि में हो रहा है, उसका नियन्ता वही है। वह सब प्राणियों के भीतर बसा है। सब संसार के कार्यों का साक्षी रूप में देखने वाला चैतन्य, केवल, एक ब्रह्म है, जिसका कोई जोड़ नहीं है और जो गुणों के दोष से रहित है

एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढ़
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवास
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
(श्वेता० ६/१७)

यह 'केवल' ब्रह्म ही सन्तों का प्रतिपाद्य और साध्य है। सन्त कबीरदास के शब्दों में

पावक रूपी साइया, सब घट रहा समाय।
चित चकमक लागे नहीं, ता ते बुझि बुझि जाय ॥[1]

दादू के शब्दों में तो वह सब घटों में निवास करता है।[2] अतः जाति-पाँति निःसार है, और "हिन्दू मुसलमान एक है", दोनों का ब्रह्म एक 'राम' है, कहकर इन सन्त कवियों ने मुसलमान हिन्दुओं के बीच के भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया।

आध्यात्मिक-पक्ष में इन सन्तों ने निर्गुण-ब्रह्म को ही ग्रहण किया और उपासना के क्षेत्र में निर्गुण-ब्रह्म की प्रतिष्ठा करके तथा परमार्थ सिद्धि में वेदों-पुराणों तथा कुरान आदि को गौणता प्रदान करके, इन सन्त-कवियों ने एक ऐसी भूमिका प्रस्तुत की, जिस पर हिन्दू-मुसलमान दोनों ही समान भाव से खड़े हो सकते हैं। इस प्रमुख तत्व ने हिन्दू-मुसलमानों को अत्यधिक निकट लाकर खड़ा कर दिया। इसी भाव ने मानवतावादी विचारों को जन्म दिया।

मानवतावाद विषयक अपने विचारों के प्रसार के लिये सन्तों ने सप्त-महाव्रतों का उपदेश दिया, जिनसे मानव का व्यक्तिगत तथा समाजगत जीवन समुन्नत बनता है। सप्त महाव्रतों का विवरण निम्नलिखित है

(१) सत्य,
(२) अहिंसा,
(३) ब्रह्मचर्य,

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ३५।

२ सब घट माहैं रमि रह्या, विरला बूझै कोई।
सोई बूझै राम को, जो राम सनेही होई ॥
स० बा० स, भाग १, पृष्ठ ८९।

(४) अस्वाद,
(५) अस्तेय,
(६) अपरिग्रह तथा
(७) अभय।

आचार्यों का कथन है कि सत्य ही ज्ञान है, ब्रह्म है और ससार की वास्तविक गति है। ससार का कार्य सत्य पर ही चल रहा है। सत्य के अभाव मे सासारिक कार्य नही चल सकते है। एक क्षण के लिए भी यदि सत्य अपना कार्य बन्द कर दे, तो प्रलय हो जाय। यदि कोई मिथ्या आचरण करता है, तो सत्य आचारण करके दूसरा तत्काल ही सृष्टि की रक्षा करता है। ससार सत्य पर ही चल रहा है। भौतिक शक्तिया भी सत्य पर ही चल रही हैं। सत्य के बल पर ही पृथ्वी स्थिर है, सत्य से ही सूर्य तपता है, सत्य से ही वायु प्रवाहित होती है, सत्य मे ही सब स्थिर है। 'चाणक्य-नीति' में कहा गया है —

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रवि।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

सन्तो ने भी सत्य के प्रति बडी श्रद्धा प्रकट की है। कबीरदास,[1] दादू,[2] गरीबदास,[3] दरिया साहब,[4] भीखा साहब,[5] चरनदास,[6] मलूकदास[7] आदि सन्तो ने मानवतावादी भावनाओ के विकास और प्रसार के लिये सत्य को अनिवार्य तत्व माना है। सत्य-व्यवहार, सत्य-कर्म, सत्य-वचन, सत्य-अनुभूति जीवन को उदात्त बनाने मे सहायक होती है और इस प्रकार मानव समाज सुखी और सम्पन्न बनता है। इसीलिये कबीर ने कहा था

साच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साच है, ताके हिरदै आप॥

गरीबदास के मत से सत्य मे पगे हुये साधक सच्चे सत है। उनमे दोष कभी प्रवेश नही कर पाता है और वे ब्रह्म के प्रिय होकर ससार मे सद्गुणो को प्रकट करते हैं

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ९१।१।
२ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ९४।१।
३ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २०३।३।
तथा स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २०३।११।
४ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २०४।१।
५ भीखा साहब की बानी, पृष्ठ ५८।५।
६ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १४८।
७ मलूकदास की बानी, पृष्ठ ३७।

साचे सूरे सत हैं, मरदाने जुझार।
लाख दोस व्यापं नहीं, एक नाम लोलार॥
सत्त सुकृत अरु वदगी जा उर ज्ञान विवेक।
साध रूप साई मिले पूरन ब्रह्म अलेस॥
सत्त सुकृत सतोष अरु आधीनो अधिकार।
दया धरम जा उर वसं सो साई दीदार॥[1]

सत्य की ही सदैव विजय होती है। सत्य-मार्ग से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। ऋषियों का कथन है :—

सत्यमेव जयते नानृत सत्येनपन्थाविततो देवयन ।

इसी भाव की झलक हमें सन्तों के काव्य में स्थल-स्थल पर दृष्टिगत होती है।

दूसरा महाव्रत जिसका उपदेश सन्तों ने दिया वह है 'अहिंसा'। अहिंसा मानवतावाद की प्राण-शक्ति है। जब तक हम हिंसा में लगे रहेंगे, तब तक हम एक दूसरे के प्रति ममता की भावना की स्थापना कर ही नहीं सकते हैं। 'महाभारत' के वन-पर्व में उल्लेख हुआ है

अद्रोह. सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहस्च दान च सताधर्म सनातन.॥

अर्थात् मन, कर्म, वचन से सर्वभूत के साथ अद्रोह रखना ही सज्जनों का सनातन धर्म है। सामाजिकता, नैतिकता और आध्यात्मिकता की दृष्टि से हिंसा का परित्याग होना परमावश्यक है। 'महाभारत' के 'अनुशासन पर्व' में लिखा है।

"अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है, अहिंसा परम सत्य है, अहिंसा से ही धर्म की उत्पत्ति होती है। अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है, अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है। सब यज्ञों में दान किया जाय, सब तीर्थों में स्नान किया जाय, सब प्रकार के दानों का फल प्राप्त हो, तो भी उसकी अहिंसा के साथ तुलना नहीं की जा सकती है"[2]। साथ ही यह भी कहा गया है कि जो

---

१ गरीवदास की वानी पृ० ६२।३१ ३३।

२ अहिंसा परमो धर्मस्तथा हिंसा परम तप ।
अहिंसा परम सत्य यतो धर्म प्रवर्तते॥
अहिंसा परमो धर्मस्तयाहिंसा परो दम ।
अहिंसा परम दानमहिंसा परम तप ॥
अहिंसा परमो यज्ञस्थाहिंसा परम फलम्।
अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दान सर्वतीर्थेषु वाप्लुतम्।
सर्वदानफल वापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥ 'महाभारत', अनुशासन-पर्व।

व्यक्ति प्राणी मात्र पर दया करता है, मास भक्षण नही करता, किसी से कभी भी नही डरता, वही दीर्घायु, आरोग्य तथा सुखी होता है

अधृष्य सर्व भूतानामायुष्मान्नीरुज सुखी।
भक्षयन्मांसद यावान् प्राणि नामिह ॥[1]

इस प्रकार सभी धर्म ग्रन्थो ने अहिंसा की महिमा गाई है। जैन एव बौद्ध-धर्म तो अहिंसा का ही प्रधान रूप से प्रतिपादन करते हैं। इतिहास इसका साक्षी है। यह कहना असगत न होगा कि अहिंसात्मक-प्रवृत्ति हिन्दू-धर्म एव जीवन की एक महान एव बहुमूल्य निधि है। बौद्ध-धर्म मे अहिंसा व्रत को समस्त धर्मों से महान एव उच्च माना गया है। "अहिंसा परमोधर्म." उनका मूल सिद्धान्त है।

निर्गुण सन्त-कवियो की अहिंसा भावना बडी व्यापक है। कबीरदास तो यहाँ तक कहते हैं कि

घट-घट मे वह साई रमता,
कटुक वचन मत बोल रे ॥[2]

उसी प्रकार सन्त दादू का कथन है

किस सू वैरी ह्वै रह्या दूजा कोई नाहि।
जिसके अग थै ऊपज्या, सोई है सब माहि॥
काहे को दुख दीजिये, घट-घट आतम राम।
दादू सब सन्तोषिये यह साधू का काम॥
काहे को दुख दीजिये साई है सब माहि।
दादू एकै आतमा दूजा कोई नाहि॥[3]

मलूकदास के शब्दो मे अहिंसा का महत्व पठनीय है। मलूकदास की अहिंसा तथा दया भावना का प्रसार जीव जतु, पशु-पक्षी तथा वनस्पति जगत तक हुआ है।

पीर सबन की एक सी, मूरख जानत नाहि।
काटा चूभे पीर ह्वै, गला काट कोउ खाय॥
कुंजर चींटी पसू नर, सब मे साहिब एक।
काटै गला खुदाय का करै सूरमा लेख॥[4]

---

१ 'महाभारत' अनुशासन-पर्व।

२ १९५६ मे लखनऊ विश्वविद्यालय पत्रिका मे प्रकाशित डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित का निबन्ध 'सन्तो की अहिंसा भावना'।

३ १९५६ मे लखनऊ विश्वविद्यालय पत्रिका मे प्रकाशित डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित का निबन्ध 'सन्तो की अहिंसा भावना'।

४. म० वा० स०, भाग १, पृष्ठ १०३।

इन सन्त-कवियो ने जनता मे भय की भावना को भी उत्पन्न करके अहिसा-व्रत पालन करने का उपदेश दिया है

मास-मास सब एक है, मुरगी हिरनी गाय।
आख देखि जे खात है, ते नर नरकहि जाय ॥[1]

तथा

बकरी पाती खात है ताकी काढी खाल।
जे नर बकरी खात हैं तिनको कौन हवाल ॥

अहिंसा भावना से प्रेरित होकर नानक ने गाय और बकरी को एक ही प्रकार से अवध्य माना है

क्या बकरी क्या गाय है, क्या अपना जाया।
सबका लोहू एक है साहिब फुरमाया।
पीर पैगम्बर औलिया सब मरने आया।
नाहक जीव न मारिये पोषन को आया ॥

सभी निर्गुण सन्त कवियो ने अहिसा व्रत धारण करने के उपदेश दिये जो, कि अनेक धर्मों के प्रवर्तकों के भावो से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। अहिंसा के विषय मे लिखते समय उनका अर्थ केवल 'वध न करना', 'जीव न मारना', 'हिंसा न करना' ही नहीं है, वरन् उस सकुचित क्षेत्र से बाहर आकर कटु वचन तक बोलने को इन सन्त कवियो ने मना किया है। यही अहिंसा भावना हमे महात्मा गांधी मे भी मिलती है।[2]

हिन्दू एव मुस्लिम सस्कृतियो के उस सघर्ष-काल मे, जब कि राज्य प्राप्ति के लिए रुधिर की सरिताए बहाई जा रही थी, अहिंसा का उपदेश देकर सन्त-कवियो ने निराश जनता को मार्ग दिखाया। उन्होंने बताया कि यदि सद्भावना से प्रेरित होकर जीवों के साथ व्यवहार किया जाय, तो उनकी आत्म-शक्ति जाग्रत हो सकती है, जिससे वह अपेक्षित साहस तथा विलक्षण कार्य क्षमता दिखा सकते है।

इसी प्रकार सन्तो ने ब्रह्मचर्य धारणा करने का भी उपदेश दिया। ब्रह्मचर्य

---

१ कबीर दास के इसी भाव से तुलना हुए सन्त मलूकदास की यह साखी देखिये :

पीर सबन की एक सी मुरगी हिरनी गाय।
आख देखि जे खात हैं, ते नर नरकहि जाय ॥

2 "Ahinsa is not the crude thing, it has been made to appear not to hurt any living being or thing is no doubt a part of Ahinsa"

'Teaching by M. Gandhi'—Page 404

जीवन के लिये बहुत आवश्यक है। ब्रह्मचर्य और तप के बल पर ही देवता मृत्यु को भी जीत लेते हैं —'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'। मनुष्य इन्द्रियों का नेता होता है। इन्द्रियों की प्रचंड ज्वाला में जलता हुआ, मानव उसी प्रकार नष्ट हो जाता है यथा दीपक की लौ पर पतंग नष्ट हो जाता है। वासना में संलग्न मानव कभी भी साधना और परमार्थ में दत्त-चित्त नहीं हो सकता है। सन्तों ने मन, वचन, कर्म से ब्रह्मचर्य, पालन करने का उपदेश दिया है। संयम जीवन के लिये सबसे बड़ा वरदान और प्रेरक शक्ति है। सन्तों ने इसलिये मानवतावादी भावना के प्रसार के लिये ब्रह्मचर्य को उपयोगी माना है। सन्तों के इस प्रकार के उपदेश 'चेतावनी के अंग' में संग्रहीत हुये हैं। इसके अतिरिक्त 'पतिव्रता को अंग' में भी इन कवियों की संयम एवं ब्रह्मचर्य भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

उपर्युक्त इन तीन महाव्रतों पर विचार कर लेने के बाद विचारणीय हैं, शेष चार महाव्रत। ये महाव्रत हैं अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह तथा अभय। सन्तों ने इनके प्रति इसलिये महत्व स्थापित किया है, कि ये गुण या व्रत औदार्य, विनयशीलता और व्यापक भावनाओं का सर्जन करते हैं। इनके द्वारा मानव-मानव को समझने का प्रयत्न करता है और व्यापक भावनाओं को धारण करता है।

सन्तों ने मानव की हर प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों की आलोचना की। उन्होंने अपने समय की जनता को बताया कि मनुष्य को एक दूसरे का शोषण नहीं करना चाहिये। सबको दीनता की भावना ग्रहण करके, सच्चाई और ईमानदारी के साथ जीवन यापन करना चाहिये। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि :

सबसे लघुताई भली, लघुता ते सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा सीस नवै सब कोय॥[१]

सन्त गरीब दास ने भी इसी भाव पर जोर दिया है

सरग-नरक बाधे नही, मोच्छ बन्ध से दूर।
बडी गरीबी जगत में, स चरन रज धूर॥[२]

सहजोबाई के शब्दों में

धन छोटापन सुख महा, धिरग बडाई रव्वार।
सहजो नन्हा हूजियो, गुरु के वचन सम्हार॥[३]

चरनदास, मलूकदास तथा अन्य सन्तों ने भी इसी प्रकार से दीनता ग्रहण करके जीवन-यापन करने का उपदेश दिया है। सच यह है कि यदि सभी संतोष

१ स० ब० स०, भाग १, पृष्ठ ५१।
२ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २०६।
३. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १६०।

और दीनता को ग्रहण कर ले, तो ससार के समस्त अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार तथा सघर्ष समाप्त हो जाय और मानव-मानव बनकर जीवन यापन करने लगे। सन्तो के मानवतावाद के सन्तोष एव दीनता अभिन्न अग है। इन उपदेशो ने युग-युग से पीडित एव निराश जनता के हृदय मे आशा का सचार किया। निर्गुण सन्त-कवियो ने अपने काव्य मे सजोये हुए सरल भावो द्वारा भटकती हुई जनता का पथ-प्रदर्शन किया। पथभ्रष्ट को मार्ग दिखाई पडा और वाह्याडम्बर से दूर मानव एक दूसरे के दुख एव कष्ट की ओर ध्यान देने लगा। धीरे-धीरे जनता इस ओर आकर्षित हुई।

सन्त-कवियो का विचार था कि सद्गुण एव नैतिक शक्ति बहुत ही प्रभावोत्पादक होती है। इस कारण इन कवियो ने मानव मे मानसिक शक्ति बढाकर उत्साह भरने की चेष्टा की। उनका विचार था कि मनुष्य मे वह शक्ति है, कि वह अपनी समस्याओ का समाधान स्वय कर सकता है। ये ज्ञानी सन्त महात्मा नैतिकता से पूर्ण मानवतावाद की ओर ही अधिक ध्यान दे रहे थे। जिसके कारण जनता के दृष्टिकोण मे औदार्य का समावेश हुआ। दर्शन के क्षेत्र मे जो कटुता थी, वह साहित्य मे अधिक से अधिक उपालम्भ बनकर रह गई और मानवता की सतह पर आ गई। निर्गुण सन्त-कवियो की अभिव्यजना विधि मे कटुता बहुत कुछ मृदु हो गई है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय निर्गुण सन्त-कवियो ने मानवतावाद की ओर अधिक से अधिक ध्यान दिया। प्रेम, अहिंसा, सत्य, शान्ति, त्याग, क्षमा, दया, सहनशीलता ही मानवतावाद के गुण है। इस पर सन्त-कवियो ने समय-समय पर प्रकाश डाला है,

धार्मिकता

निर्गुण सन्त-साहित्य की द्वितीय महान परम्परा 'धार्मिकता' है। इनके सम्पूर्ण साहित्य की रचना ही धर्म को दृष्टि मे रखकर हुई है। यह अवश्य है कि धर्म के क्षेत्र मे उन्होने एक क्राति उपस्थित कर दी। परन्तु फिर भी जिस कठोरता से रूढियो का विरोध किया, उसी दृढता से उन्होने बुद्धिवादी सिद्धान्तो की भी स्थापना की है। वे किसी भी बात को तभी स्वीकार करते थे, जब वह उनकी बुद्धि के अनुभव की कसौटी पर खरी उतरती थी। सन्त-कवि सच्चे सत्यान्वेषक थे। सन्तो का धर्म बडा व्यापक है। जिस प्रकार उनका ब्रह्म व्यापक और सब जाति-वर्गो का जन्मदाता है, उसी प्रकार उनका धर्म भी व्यापक है। इनका धर्म सार्वभौमिक और युगो तक अभिनव बना रहने वाला है। देश-काल की सीमाए इन सन्तो के धर्म और उसके उदात्त रूप का स्पर्श नही कर पाती है। निर्गुण सन्तो का धर्म, धनी-दीन, बालक-वृद्ध नर-नारी सबके लिये सामान रूप से उपयोगी और महत्वपूर्ण है। सन्तो के व्यापक धर्म का आधार मानव की शाश्वत सद्प्रवृत्तिया है। यही शाश्वत सद्प्रवृत्तिया जीवन को

उदात्त और समुन्नत बनाती है । सन्तो ने मानव जीवन को उन्नत और विकाशशील बनाने के लिये निम्नलिखित प्रसगो पर उपदेश दिये .

(क) उदारता[१], (ङ) सहनशीलता[५],
(ख) दया[२], (च) अहिंसा[६],
(ग) क्षमा[३], (छ) धैर्य[७] तथा
(घ) त्याग[४], (ज) सत्य[८] ।

सन्तो की बानियो मे बारम्बार इन्ही बातो पर जोर दिया गया है । सन्तो ने औदार्य, दया, क्षमा, त्याग, सहशीलता, अहिंसा, धैर्य और सत्य को मानव-जीवन और मानव-प्रकृति के अविच्छिन्न अग माने हैं । सन्तो के काव्य मे इन विषयो पर शतश साखियो की रचना हुई है, और प्रत्येक साखी उनकी सत्यानुभूति को दृढ प्रमाणित करने मे समर्थ है ।

सन्तो की धार्मिकता बाह्याचारो या बाह्याडम्बरो से पृथक और परे है । सन्तो की धार्मिकता मे छुआ-छूत, चन्दन-तिलक, व्रत-माला, जप-तप, बाग, नमाज और अजान आदि नही सन्निहित है । वरन् उनकी धार्मिकता व्यापक है, शुद्ध है, और उदात्त है । उनका सदेश है कि मानव को सहज-धर्म का परिपालन करना चाहिये । उसे सुरत्व की जननी, मानव-जीवन को दूपित कर्म करके अपमानित नही करना चाहिये । यही सन्तों की धार्मिकता है, यही उनका व्यापक-धर्म है ।

दर्शन के विस्तृत सागर से उन्होने सारभूत सिद्धान्त रूपी मोतियो को चुनकर एक ऐसा हार बनाया, जो सभी के गले मे डाला जा सकता था । जिसके लिये जाति-पाति, ऊँच-नीच का भेद भाव नही है । 'सन्तो के व्यापक धर्म और उसका स्वरूप' वाले परिच्छेद मे हम इसका विस्तृत वर्णन करेंगे ।

---

१ सन्त-बानी-सग्रह, भाग १, पृष्ठ ६३।८, ४६।१ ४, ६६।१, १०२।१, १२३।१ ।

२ स० ब० स०, भाग १, पृष्ठ ५२, ६५, १०४, १२४, १४८ ।

३ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५० ।

४ सत-बानी-सग्रह, भाग १, चेतावनी प्रकरणो मे कवियो ने सशय, माया, जगत और वासनात्मक प्रवृत्तियो का परित्याग करके, ब्रह्म मे लीन रहने का उपदेश दिया है ।

५ सत-बानी-सग्रह, भाग १, पृष्ठ ४६, ६३, ६६, १०२ ।

६ प्रस्तुत ग्रन्थ के 'सन्तो का व्यापक धर्म' मे इस सम्बन्ध मे अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं ।

७ साधना के क्षेत्र मे धैर्य की बडी उपयोगिता है । सन्तो ने 'अष्टाग-योग' साधना के धैर्य के महत्व पर जोर दिया है ।

८. सत बानी-सग्रह, भाग १, पृष्ठ ६४, १२४, १४८, १६२, २०३ ।

जातीयता

सत-साहित्य की तृतीय महान् परम्परा जातीयता है। अपनी वाणी द्वारा सन्तों ने देश को एक महान् सांस्कृतिक चेतना में बांध दिया था। देश के प्रत्येक क्षेत्र में महान् सांस्कृतिक चेतना के फलस्वरूप जातीयता का विकास हुआ। निर्गुण सन्त-कवियों ने उस समय की प्रचलित सभी भाषाओं में रचना की। उनकी भाषा में समस्त भाषाओं, विभाषाओं और बोलियों का मधुर मिश्रण है। इन्होंने व्याकरण के नियमों की ओर भी ध्यान नहीं दिया। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वे जनता के सम्मुख केवल अपने भावों की अभिव्यक्ति ही करना चाहते थे। काव्य रचना की ओर उनका ध्यान न था। इसमें सदेह नहीं कि उनकी लेखनी एवं मुख से निकले हुये शब्द हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि बन गये हैं। सन्तों की वाणी का प्रभाव जनता पर पड़ा। उनकी भाषा में पंजाबी,[1] सिन्धी,[2] गुजराती,[3] ब्रज,[4] अवधी,[5] खड़ी बोली,[6] आदि के उदाहरण मिलते हैं।

जातीयता का विकास सामन्ती श्रृंखलाओं के छिन्न-भिन्न हो जाने पर हुआ। ये सन्त-कवि जनता की मनोवृत्ति से भलीभाँति परिचित थे। वे यह अच्छी तरह जानते थे, कि शासक-वर्ग की सभ्यता, संस्कार और जातीयता का जनता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, वरन् सामन्ती जातीयता मानव के विकास में बाधक है। जनता की संस्कृति और जातीयता का सम्बन्ध सर्वथा दूसरे वर्ग से है। परन्तु सत-कवियों ने जातीयता के प्रचार के लिये रूढ़िवादी साधनों को दूर कर, नवीन साधनों को अपनाया है। जातीयता का प्रसार इन सन्त-कवियों ने भाषा द्वारा किया है। भाषा को जातीयता का गौरवपूर्ण अंग, जीवन और प्रगति माना। कबीर के शब्दों में भाषा का गौरव निम्नलिखित है:

'संस्कीरति है कूप जल भाषा बहता नीर'।

कबीरदास, मलूकदास, सुन्दरदास, चरनदास, दरिया साहब, सहजोबाई, दयाबाई, गरीबदास, भीखा साहब, पलटू साहब आदि ने जातीयता के विकास के लिये प्रयत्न किये। जीवन भर वे इसी बात का प्रयत्न करते रहे कि संकुचित क्षेत्र से निकल कर विस्तृत क्षेत्र में जनता जातीयता के अर्थ समझ सके। सन्त-कवि समस्त प्रकार की

---

१ दादू की बानी, भाग २, पृष्ठ ४४।
२ दादू की बानी, भाग २, पृष्ठ ५१।
३ दादू की बानी, भाग २, पृष्ठ ५३।
४ सं० बा० सं०, भाग २, पृष्ठ १०७।
५ सं० बा० सं०, भाग २, पृष्ठ १२१।
६ पलटू साहब, की बानी, भाग २, पृष्ठ ५२।

सकीर्णता के विरोधी थे। इसीलिये उन्होंने एक ऐसी वृहत्तर भावना का प्रतिपादन और स्थापना की, जो जनता के बहुत निकट और जनता के लिये सर्वथा उपयोगी थी।

प्रगतिशीलता

सन्त साहित्य की चतुर्थ महान परम्परा है 'प्रगतिशीलता'। सामान्यतया प्रगतिशीलता का अर्थ होता है स्पन्दनशीलता, उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर रहना। निर्गुण-काव्य रचना के पूर्व हिन्दी-साहित्य ने कई बार करवट बदली थी। प्रत्येक युग मे साहित्य का नवीन रूप नवीन प्रकार से सम्मुख आया। निर्गुण सन्त-कवि दार्शनिक सुधारको से अत्यधिक प्रभावित थे। ये प्रभाव निम्नलिखित थे

१ धर्म और दर्शन के सुधार एव सस्कार की प्रवृत्ति।
२ दार्शनिकता की विशेष अभिरुचि।
३. हिन्दुओ की शिखा और यज्ञोपवीत का त्याग।
४. शवो को दाह देने के स्थान पर उनकी समाधि बनाने की प्रवृत्ति।
५ वर्णाश्रम के प्रति अधिक कट्टर न होना।
६ भक्ति और वैराग्य की प्रवृत्ति।

इन मे प्रथम दो प्रवृत्तिया सभी आचार्यो मे पाई जाती हैं। तीसरी प्रवृत्ति का प्रवर्त्तन शकराचार्य के अनुयायी साधु-सन्यासियो ने किया था। चौथी विशेषता का उदय शकराचार्य के अनुयायी शैव परमहसो मे हुआ था। पाचवी प्रवृत्ति के दर्शन रामानुजाचार्य की पद्धति मे होते है। भक्ति एव वैराग्य के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द जी थे।

मध्य-युग मे बहुत से सुधारवादी वर्तमान थे। जिनमे से अवधूत, वैरागी, लिंगायत, साधु-वर्ग अत्यधिक प्रसिद्ध है। लिंगायत साधुओ ने ही सन्तों मे समाज-सुधार का बीजारोपण किया। साथ ही दक्षिण के अलवार सन्तो का भी प्रभाव निर्गुण-कवियो पर पडा। उनकी वर्ण-व्यवस्था के प्रति उपेक्षा भक्ति-भावना की अतिरेकता, विष्णु के विविध नामो के प्रति आस्था, कीर्तन के प्रति आकर्षण, पुस्तकीय ज्ञान की उपेक्षा, अनुभव पर जोर, रहस्य भावना का आरोप, प्रेम और विरह की कोमल एव मार्मिक अभिव्यक्ति आदि ने भी निर्गुण सन्त-कवियो की विचार-धारा को प्रभावित किया है।

दूसरे शब्दो मे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि मध्य-युग के साधु सम्प्रदायो और सन्तो ने निर्गुण काव्य-धारा के रूप को निखार दिया। निर्गुण-कवियो ने उनकी बातो को इस प्रकार आत्मसात् किया, कि वे उनको अपनी ही प्रतीत होने लगी। समाज, साहित्य, धर्म सभी मे प्रगतिशील विचारो का समावेश कर, युग-युग से पीडित एव प्रताडित जनता का इन सन्त-कवियो ने उद्धार किया। जिन विकृत तत्वो के प्रति उनकी प्रतिक्रिया जाग्रत हुई, उनमे मुख्य तत्व ये है

(१) पुरोहितवाद[1],　　(२) वर्णाश्रम धर्म,
(३) मूर्ति-पूजा,　　(४) धार्मिक अन्ध-विश्वास,
(५) वाह्याडम्बर,　　(६) पूजा विधि तथा,
(७) पौराणिकता।

हिन्दू-धर्म के सामान्य विश्वास अपने मूल रूप मे बडे ही सात्विक थे। परन्तु मध्य-युग तक आते-आते ये सात्विक विश्वास अन्ध-विश्वासो मे परिणत हो गये थे, और उनका प्रचार धर्म के सभी क्षेत्रो मे था। मध्य-युगीन जनता के लिये ये विश्वास परम्परागत रूढियो के रूप मे ही बनकर रह गये थे। सन्तो की वाणी ने इन्ही विकृत रूपो का खण्डन करने मे प्रवृत्त हुई। आपनी द्वेष की राक्षसी प्रवृत्ति को रोक कर, ये सन्त सत्-धर्म की प्रतिष्ठा मे कटिबद्ध हो गये। उन्होने रक्तपात, भौतिकता, और प्रतिकार भावना के विरुद्ध उपदेश दिये। सध्या, वदना, पच महायज्ञ, वलि, श्राद्ध, षोडश सस्कार, विविध प्रकार के व्रत, तीर्थ, शौचाशौच सम्बन्धी आचारो का खण्डन किया, जो कि केवल परम्परागत ही रह गये थे।

सत-साहित्य प्रगतिशीलता का प्रतीक है। प्रत्येक दृष्टि मे सत-साहित्य प्रगतिशीलता के रग मे अनुरजित है। काव्य के अतरग एव वहिरग—उभय पक्षो मे सत-कवि पूर्णतया प्रगतिशील है। नया भाषा, नया भाव, नया रस, नया छद हर दृष्टि से उन्होने ऐसे प्रयोग किये, जो उनके युग की मान्यताओ को पुष्टता प्रदान करते हुए, भविष्य के लिये मानदड वन गये। सन्तो ने जीवन को तो प्रगतिशील दृष्टि से देखा ही था, परन्तु जीवन को समुन्नत बनानेवाले धर्म, जीवन को औचित्य की ओर अग्रसर करनेवाले साहित्य या काव्य को भी उन्होने वडे ही प्रगतिशील दृष्टिकोण से देखा।

शाश्वतता

सन्त-साहित्य की पचम महान् परम्परा है 'शाश्वतता'। सहज-काव्य अपने स्वाभाविक सौन्दर्य तथा सरल अभिव्यक्ति के कारण मन को अत्यधिक प्रभावित करता है। इस प्रकार का काव्य कृत्रिम बन्धनो से विच्छिन्न होने के कारण अमर और चिन्तन प्रधान होता है। सन्तो के सहज-काव्य मे ये विशेषताएँ पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हैं। सत-काव्य मे मानव जीवन की अनेक शाश्वत प्रवृत्तियो का वडी सुन्दरता के साथ चित्रण हुआ है। युग-युगसे मनुष्य प्रेम, क्षमा, दया, विश्ववन्धुत्व और उदारता मे विश्वास करता चला आ रहा है। मनुष्य सदैव से उदात्त वृत्तियोसे युक्त रहा है। हीन कार्यों से हटकर हमारा मन स्वत शान्तिमय वातावरण मे रमना चाहता है। सन्तो के काव्य मे मनुष्य की इन्ही जन्मजात और शाश्वत प्रवृत्तियो पर जोर दिया गया है। मानव समाज के सघर्षमय वातावरण का परित्याग करके आध्यात्मिक वातवारण

---

१. पुरोहित वर्ग उस समय तक ब्राह्मण वर्ण का पर्यायवाची हो गया था।

मे सन्तोष प्राप्त करता है। सन्तो ने अध्यात्म की प्रतिष्ठा के लिये बार-बार उपदेश दिया है। आध्यात्म का विषय शाश्वत और चिरन्तन है, इसी कारण सन्त-साहित्य शाश्वत-साहित्य है। यह अपनी इस विशेषता के कारण सदैव अभिनव और प्रभावशाली बना रहेगा। सन्त-साहित्य मे मानव की सहज, सार्वभौमिक, सार्वकालिक, धार्मिक, सामाजिक एव नैतिक भावो एव विश्वासो की अभिव्यक्ति बडी सुन्दर शैली मे मिलती है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक मनुष्य की जितनी उदात्त प्रवृत्तिया रही है, उन सबकी सन्त-साहित्य मे अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप मे हुई है। इससे स्पष्ट है कि सन्तो की दृष्टि साहित्य को क्षणिक बनाने की ओर नही रही है, वरन् उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिये वे प्रयत्नशील रहे हैं। इसीलिये उच्चवर्ग का इतना विरोध होने पर भी, और साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्यों द्वारा उपेक्षित रहने पर भी, यह साहित्य-भारतीय जनता के हृदयो मे फूल-फल रहा है। सन्त-साहित्य की रचना किसी स्वार्थभाव से प्रेरित होकर नही की गई थी। उनकी रचनाएँ 'स्वान्त सुखाय' और 'बहुजनहिताय' हुई थी। इसीलिये इन रचनाओ मे मानव-जीवन के हित की भावना, अप्रत्यक्षरूप से प्रवाहित होती हुई शताब्दियो मे जनता को सही मार्ग पर अग्रसर कर रही है। सत्य अमर है, और सत्यानुभूत को प्रस्तुत करनेवाला साहित्य भी अमरत्व प्राप्त कराता है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनुष्य समाज के कुछ व्यक्ति सदैव हीन-वृत्तियो मे सलग्न रहेगे। उन्हे पथ-प्रदर्शन करने के लिये, इस साहित्य की उपयोगिता सदैव बनी रहेगी।

सजीवता

'सजीवता' सन्त-साहित्य की षष्ठ महान परम्परा है। सन्तो के प्रति यह आरोप लगाया जाता है, कि वे पलायनवादी थे, और उन्होंने भारतीय-जनता को पलायनवाद का हर प्रकार से पाठ पढाया। जिसके फलस्वरूप भारतीय-जनता अकर्मण्य बनती गई। लेकिन तथ्य इसके विरुद्ध है। सन्तो ने अपने युग की निराश जनता को आशा का प्रकाश दिखाया। उन्होंने भग्न हृदयो में उल्लास का सचार किया। जीवन को उन्होने जीने योग्य बनाया और इस प्रकार से उन्होंने उदात्त एव सात्विक जीवन का उपदेश देकर, साहित्य के क्षेत्र मे नवीन परम्पराओ को स्थापित किया। निर्गुण सन्तो के काव्य मे एक अलौकिक चेतना एव सजीवता है, जिसकी आधारशिला आध्यात्मिक प्रणय की प्रतिष्ठा, आत्मानुभूतिगत माधुर्य, साधनात्मक रहस्यवाद और प्रतिभा आदि है। इन्ही तत्वो ने सन्तो के काव्य मे सजीवता एव माधुर्य का समावेश करके उसे सक्रिय बना दिया है। इस साहित्य को पढकर निराशाजनक समस्त भावनाएँ स्वत विच्छिन्न हो जाती है और जीवन उन्नति तथा उल्लास की नई दिशा मे अग्रसर हो जाता है। सन्तो की प्राणशक्ति, नैतिक बल, साधनात्मक सबलता सब कुछ उनके साहित्य मे पाठको को प्रेरणा देने के लिये विद्यमान है।

सन्तों का व्यापक धर्म और उसका रूप

'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ धारण करना या पालन करना होता है। धर्म ससार के समस्त जीवो के कल्याण का कारण है। 'वैशेषिक शास्त्र' के रचयिता कणाद मुनि के अनुसार जिसके द्वारा लोक और परलोक दोनो मे सुख मिले, वही धर्म है

यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जितने भी सत्कर्म हमे या दूसरे को सुख देते है वे सब धर्म के अन्तर्गत आते हैं। मनु जी के अनुसार धर्म के दस लक्षण होते है। ये लक्षण निम्नलिखित श्लोक मे उल्लिखित हुये है

धृति क्षमा दमो स्तेय शौच मिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् जिस मानव मे धैर्य हो, क्षमा हो, जो विषयो में अनुरक्त न हो, जो दूसरे की वस्तु को लोष्ठवत समझता हो, जो वाह्य एव आभ्यातरिक रूप से स्वच्छ हो; जो सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी हो, जो क्रोध के ससपर्श से परे हो, वही व्यक्ति धार्मिक है। अत स्पष्ट है कि ये सब धर्म के आवश्यक तत्व हैं। इस शरीर से मन (प्राण) पछी के उड जाने के अनन्तर, जितने भी भौतिक ऐश्वर्य वधु-बाधव का सम्पर्क और वैभव होते है, वे सब यही छूट कर विलग हो जाते हैं, यदि कोई भी साथ देता है, तो अर्जित पुण्य, सुकृत और धर्म की मात्रा। मनुजी का कथन है कि

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठ लोष्ट समक्षितौ ।
विमुखा वान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

धर्म नित्य है, शाश्वत है और सासारिक सुख-दु ख अनित्य है। अत सुख और भोग के हेतु धर्म का परित्याग नही करना चाहिये। जीव जिसके साथ धर्म का सम्बंध है, वह भी नित्य है, और उसके जितने हेतु हैं, वे सब अनित्य है। अत. धर्म का परित्याग किसी कारण भी नहीं करना चाहिये।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद ।
धर्म त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो ॥
धर्मो नित्य· सुखदु खे त्वनित्ये ।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य ॥

(मनु भगवान) ।

मनु जी के मत मे धर्म को नष्ट करने वाला स्वत नष्ट हो जाता है। धर्म की रक्षा करने वाले की धर्म भी रक्षा करता है। इसीलिये धर्म को नष्ट नही करना चाहिये। उसकी रक्षा करने वाला मनुष्य धन्य है, और समाज के लिये वरदान है। भगवान मनु के अनुसार।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतो वधीत् ॥

भगवान श्री कृष्ण ने 'गीता' मे कहा है, कि अपना धर्म चाहे जितना हीन हो और दूसरे का चाहे जितना महान् हो, परन्तु अपने धर्म मे मर जाना श्रेयस्कर है।

श्रेयात्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह ॥

मृत्यु आधी के समान अनिश्चित और तीव्र गति मे मानव पर आक्रमण करती है। मनुष्य के धर्माचरण का कोई निश्चित समय नही है, और मृत्यु उसकी प्रतीक्षा भी नहीं करती है। एक प्रकार से मनुष्य सदैव मृत्यु के मुख मे रहता है। अत· उसे चाहिये कि वह धर्म मे रत रहे।

न धर्म काल पुरुषस्यनिश्चितो ।
न चापि मृत्यु पुरुष प्रतीक्षते ॥
सद ही धर्मस्य क्रियेवशोमना ।
सदा नरो मृत्यु मुखेऽभिवर्तते ॥

धर्म ही मानव का पुष्ट आधार है। धर्म ही जीवन है और धर्म ही मृत्यु के अनन्तर मानव के साथ जाता है।

नामुत्र हि सहायार्थ पिता माता च तिष्ठत. ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवल ॥
एक· प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एको न मुङ्क्ते सुकृत मेक एव चदुष्कृतम् ॥
मृत शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमक्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥
तस्माद्धर्म सहाचार्य नित्य सञ्चिनुयाच्छनै ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥

(मनुस्मृति ४।२३९-२४२)।

वेद धर्म के मूल हैं "वेदो खिलो धर्म मूलम्"। समाज, संस्कृति नीति और व्यक्ति इसी धर्म के अंग हैं। इन सभी का प्रेरक धर्म ही है। समाज और संस्कृति के विकसित होने से बहुत पूर्व धर्म अपने अस्तित्व के द्वारा समाज को सद्-असद् कल्याण एवं चिरन्तन सत्य की ओर मानव को उन्मुख करता आया है। समाज को स्वस्थ रूप एवं उन्नत अवस्था प्रदान करने में धर्म ने सदैव से ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। धर्म में पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास होना आवश्यक है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि धर्म से किसी भी कारण से विमुख नहीं होना चाहिये। धर्म सामाजिक-जीवन को भी समुन्नत बना देता है। सामाजिक जीवन की रीतियां, परम्पराएं और आचार सभी धर्म पर आश्रित हैं। धार्मिक-जीवन का प्रकाश सामाजिक-जीवन के घोर अन्धकार को विनष्ट करने का लक्ष्य लेकर प्राचीन काल से चला आ रहा है। धर्म के तत्वों का प्रयोग सामाजिक-जीवन को विकसित करने के हेतु सर्वथा एवं सर्वदा अपेक्षित है। इसी से समाज कल्याण-पथ पर अग्रसर होता है। धर्म सदैव ही इस बात की प्रेरणा देता है, कि अपना कर्त्तव्य करो, संसार में आसक्ति न हो।

धर्म का स्वरूप है "परोपकार पुण्याय"। परस्पर एक दूसरे का उपकार ही उन्नति का कारण होता है। भगवान व्यास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है "जो कुछ अपने प्रतिकूल हो, उसका दूसरों के प्रति आचरण नहीं करना चाहिये।[1]

'गीता', 'मनुस्मृति' तथा नीति-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित धर्म के स्वरूप, आवश्यकतत्व और महत्व पर विचार-धारा का अध्ययन करेंगे। सन्तों के शिरोमणि कबीरदास की दृष्टि में धर्म की आधार-शिला दया-भाव है। दया और धर्म एक दूसरे के पूरक और पर्याय हैं। उसी प्रकार क्षमाशीलता मानव का दैवी गुण है

जहां दया तहां धर्म है, जहां लोभ तहां पाप।
जहां क्रोध तहां काल है, जहां क्षमा तहां आप॥

कबीर की भांति संत मलूकदास भी दया को धर्म का पर्याय मानते हैं।

दया धर्म हिरदै बसै, बोले अमृत बैन।
तेई ऊंचे जानिये, जिनके नीचे नैन॥

सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म में पूर्णानुरक्ति ही सबसे बड़ा धर्म है। जिसने ब्रह्म में पूर्णतया अनुराग स्थापित कर लिया है, वह पतिव्रता नारी के समान समादरित है। ब्रह्म की अभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम धर्म है। सुन्दरदास के शब्दों में।

सुन्दर जिन पतिव्रत किये, तिन कीये सब धर्म।

सुन्दरदास के मत से ब्रह्म का नाम समस्त धर्मों का सार तत्व है

---

१ "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्" (महाभारत)।

सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमन के माँहि ।
अनन्य भक्त वह जानिये, सुमिरन भूलै नाँहि ।

सत गरीबदास का कथन है कि मानव को सुशोभित करने वाले दो गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और ये है 'दया' एव 'धम' । जो दया और धर्म मे रत है, उससे ब्रह्म दूर नही है :

दया धर्म दो मुकुट हैं, बुद्धि विवेक विचार ।
हरदम हाजिर हूजिये, सौदा त्यारत्यार ।

सत गरीबदास शील, सन्तोप, विवेक, सद्बुद्धि दया और दृढ़मति धर्म के आवश्यक तत्व मानते हैं

सील सतोप विवेक बुधि, दया धर्म इक तार ।
बिन निहचै पावै नहीं, साहिब का दीदार ।।
सील सन्तोप विवेक बुध, दया धर्म इक तार ।
अकल यकीन इमान रख, गही वस्तु निज सार ।।

वही साई के दीदार का अधिकारी है, जो दया धर्म मे सम्पन्न है । गरीबदास जी का कथन है कि

सत्त सुकृत सन्तोष सर, आधीनी अधिकार ।
दया धर्म जा उर बसै, सो साई दीदार ।।

सन्तो की दृष्टि मे धर्म की परिभापा और स्वरूप क्या है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है । सन्तो की धर्म विपयक धारणा बडी व्यापक और उदार है । सन्तो का दृष्टिकोण सकीर्णता से परे था । वे अपने युग के सबसे बडे क्रान्तिकारी और सुधारक थे । रूढ़ियो और परम्पराओ की समस्त शृ खलाओ को ध्वस करके उन्होने नवीन आदर्शो, अभिनव मान्यताओ, नये-नये प्रतिमानो एव मान-दडो की स्थापना की । उनकी दृष्टि सदैव व्यापक समाज की ओर केन्द्रीभूत रहती थी । वे व्यष्टि और समष्टि के समान रूप से शुभचिन्तक थे । इसीलिये शोपण, अनाचार, दुराचार और भ्रष्टाचार के आधार पर तिष्ठित समाज मे आवश्यक सुधार करके, उसे रहने योग्य या कल्याणकारी कहलाने योग्य बनाने के लिये उन्होंने अथक परिश्रम किया । सन्तो ने अपने युग, समाज और धर्म के समस्त दोपो को दूर करके, नवीन आदर्शो की स्थापना करने का प्रयत्न किया और इस दृष्टि से वे सफलीभूत भी हुये । प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद मे अकित राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेरहवी शताब्दी से अठारवी शताब्दी तक का समय चतुर्दिक विनाश का युग था । इस समय मानवता का हर प्रकार से अध पतन हो गया था। समाज भ्रष्टाचार का केन्द्र-बिन्दु बन गया था । धर्म बाह्याचार, बाह्योडम्बर और दुराचार के प्रसार का साधन बन गया था । हिन्दू और मुसलमान धर्म

के वास्तविक रूप से अनभिज्ञ होकर 'लकीर के फकीर' हो रहे थे। उनमे विवेक बुद्धि का पूर्णतया अभाव था। मूर्तिपूजा, बलि, चन्दन, माला, जप, तप, काया, कष्ट, नमाज, रोजा आदि ने धर्म के सत्य-स्वरूप को अपने तामसिक रूप मे आच्छादित कर रखा था। इसीलिये यह नितान्त आवश्यक था कि जनता को धर्म के वास्तविक रूप मे परिचित कराया जाय। जनता को धर्म के सहज, सरल और वास्तविक रूप से परिचित कराने का यह कार्य हिन्दी के सन्त कवियो द्वारा सम्पन्न हुआ। इन्होंने प्राचीन रूढियो को विनष्ट करके नई परम्पराओ और मान्यताओ को जन्म दिया। इन्होंने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि ब्रह्म की सत्ता मन्दिर, मस्जिद और शिवालय तक ही नही सीमित है। वह निःसीम है और ससार के कण-कण मे व्याप्त है। उसे खोजने के लिये बद्रीनाथ, केदारनाथ जाने की आवश्यकता नही है। वह तो आत्मा मे ही रमा हुआ है। इसीलिये आत्मा को पहिचानने की आवश्यकता है। जिसने आत्मा को जान लिया है, उसने सब कुछ जान लिया है। ब्रह्म सब जीवो मे रमा है, अत मनुष्य को किसी के प्रति द्रोह या हिंसा करना युक्तिसगत नही है। कुटिलता, हिंसा, प्रतिकार और विद्रोह की भावना का परित्याग करके मानव को दया-भावना को अगीकार करना चाहिये। दया सब धर्मो का सार या मूल है। कबीर ने स्वतः कहा है "जहाँ दया तहा धर्म है, जहा लोभ तहा पाप"। मलूकदास की दया भावना का प्रसार तो वनस्पति जगत तक हुआ है। मलूकदास ने कहा :

हरी डारि न तोडिये, लागै छूरा बान।
दास मलूका यो कहै, अपना सा जिव जान॥

तथा,

सब पानी की चूपरी, एक दया जग सार।
जिन पर-आतम चीन्हिया, ते ही उतरे पार॥

इस प्रकार व्यक्ति, समाज, जीवन, जगत और पारिमार्थिक दृष्टि से मानव के लिये दया का बडा महत्व है। दया सब धर्मो का मूल, समस्त साधनाओ का सारतत्व है। इसी प्रकार सन्तो ने सत्य, दया, उदारता, क्षमा, विश्वबन्धुत्व, अहिंसा आदि का बारम्बार उपदेश दिया। सन्तो ने जीवन को चतुर्दिक समुन्नत बनाने के लिये, जीवन के लिये आवश्यक और सद्गुणो का उपदेश दिया। सन्तो की दृष्टि मे धर्म, खान-पान की शुद्धता, स्वच्छता, चन्दन और माला तक ही नही सीमित है। वरन् धर्म की सीमाए, धर्म की परिभाषा, तथा धर्म की आत्मा बडी विशाल है। धर्म सकीर्णता, कटुता, हीनता और निम्न-कोटि की भावनाओ से बहुत-बहुत ऊपर है। धर्म का जो व्यापक रूप सन्तो द्वारा प्रतिपादित हुआ है, वह देशकाल और समाज की सीमाओ से परे और ऊपर है। वह सभी वर्ग, वर्ण के लिये उपयोगी है। सन्तो के व्यापक-धर्म के आवश्यक-तत्व है —

(१) प्रेम,
(२) समदृष्टि,
(३) सेवा-भाव,
(४) ससार से विरक्ति,
(५) सतगुरु वन्दना,
(६) नाम,
(७) सत्य,
(८) अहिंसा तथा
(९) क्षमा, दया, औदार्य आदि।

इन समस्त गुणो और विशेषताओ को लेकर सन्तो ने एक ऐसे व्यापक-धर्म का प्रसार एव प्रचार किया, जो वृहत्तर मानवता के लिये नितान्त आवश्यक ही नही अनिवार्य था। कबीर ने अनुभव के आधार पर कहा, कि परम्परागत धर्म और पूजा-पाठ नितान्त भ्रमाच्छादित है, पडित और मौलवी माया के चेरे हैं।

तीरथ व्रत करि जग मुआ, जूडे पानी न्हाय।
सत् नाम जाने विना, काल जुगन जुग खाय।।
पडित और मसालची, दोनो सूझै नाहिं।
औरन को करै चादना, आप अधेरे माहिं।।

तथा,

पूजा सेवा नेम व्रत, गुडियन का सा खेल।
जव लगि पिउ परिचय नहीं, तव लगि ससय मेल।।

अत बुद्धिमान, विवेकवान और ज्ञानवान वह है, जो इस प्रकार के 'गुडियन का सा खेल' मे न लगे और सत्य-धर्म मे अनुरक्त होकर मानवता के वृहत्तर आसन पर प्रतिष्ठित होकर देवत्व की ओर अग्रसर हो। जव तक मानव प्रेम, दया, समता, सत्य, निष्कामता, अहिंसा, क्षमा, विश्ववन्धुत्व, औदार्य और समदृष्टि मे अनुरक्त नही होगा, तव तक वह निरा पशु ही वना रहेगा। मनुष्यता ही सुरत्व की जननी है। अत इस प्रकार की उदात्त भावनाओ को हृदय मे धारण करके मनुष्य न केवल स्वत सुखी होगा, वरन् अखिल समाज को लाभान्वित और प्रकाशित करेगा। जीवन वही है, जिससे समाज उन्नत हो सके, मनुष्य वही है जो अपने व्यक्तित्व के माध्यम से दूसरो को सही मार्ग पर अग्रसर कर सके। तभी उसका जीवन सार्थक होगा। इसीलिये सन्तो ने व्यापक-धर्म का उपदेश देकर अपने युग और समाज का पंथ-प्रदर्शन किया।

सन्तो के व्यापक-धर्म का सर्वप्रथम सिद्धान्त या आवश्यक तत्व है 'प्रेम'। प्रेम हृदय जगत का व्यापार है। प्रेम हृदय से होता है। अत मस्तिष्क से उसका कोई सम्वन्ध नही है। हृदय जगत के इस उदात्त व्यापार मे कोई तर्क-वितर्क, जोर-दवाव

नही है। प्रेम हृदय मे होता है अतः उसके लिये किसी को विवश भी नही किया जा सकता है। प्रेम का लक्ष्य होता है प्रेम, और कुछ नही। प्रेम मे प्रेमान्तिकता होती है। इसीलिए प्रसिद्ध बाउल कवि मदन ने कहा था

प्रेमेर मोल प्रेमेर बादा, नारे सुख नारे दुख।
प्रेमेर रसिक या दिरे बान्धा, प्रेम पियास प्रेम भूख॥

सुप्रसिद्ध सूफी कवि शाहलतीफ ने प्रेम की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा था कि 'अबजुन कस्मे नमका, पीरी सुनी सडा ने।' सच्चा प्रेम कामनारहित होता है। प्रेम का लक्ष्य स्वतः प्रेम है। प्रेम जगत मे ऊँच-नीच, धनी निर्धन, महान्-क्षुद्र का भाव नही है। इसीलिये प्रेम मे स्वाधीनता और उत्सर्ग आवश्यक माना गया है। धर्मशास्त्र मे ब्रह्म प्राप्ति के तीन साधन कर्म, ज्ञान एव योग मान्य हुए हैं। परन्तु नारद मुनि ने उपर्युक्त तीनो साधनो की तुलना मे प्रेम-भक्ति को श्रेष्ठ और महान् माना है। नारद मुनि का कथन है कि "सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्यो-प्यधिकतरा।" श्रीमद् भागवत्[1], श्री मद्‌भगवत गीता[2] और रामचरितमानस[3] मे भी प्रेम का माहात्म्य वर्णित हुआ है।

हिन्दी के निर्गुण सन्त कवियो ने प्रेम को जीवन की उच्चतम और बडी ही उदात्त अनुभूति मानी है। सन्तो की दृष्टि मे प्रेम धर्म का मुख्य अग है। कबीर ने स्पष्ट शब्दो मे कहा "पोथी पढि-पढि जग मुआ, पडित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का पढै सो पडित होय"। कबीर का दृढ विश्वास था कि प्रेम का मार्ग अत्यन्त सकरा है। उसमे दो भावना के लिये अवकाश नही है। कबीर ने कहा है "प्रेम गली

---

१ न साधयति मा योगो न साख्य धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्य श्रद्धयाऽऽत्मा प्रिय सताम्।
भक्ति पुनाति मन्निष्ठाश्वपाकानीय सम्भवात्॥ (११।१४।२०।२१)

२ नाह वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एव विधो द्रष्टु दृष्टवानसि मा यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेव विधोऽर्जुन।
ज्ञातु द्रष्टु च तत्वेन प्रवेष्टु च परतप॥ (११।५२-५४)

३ जो अस भगति जानि परिहरही। केवल ज्ञान हेतु श्रम करही॥
ते जड कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहि पयलागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आनि उपाई॥
ते सठ महा सिन्धु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड करनी॥
उमा जोग जप ज्ञान तप नाना व्रत मख नेम।
राम कृपा नहि करहि तस जस निष्केवल प्रेम॥

अति साकरी तामे दो न समाय" प्रेम के मार्ग मे अह् के लिए कोई अवकाश नही होता है। कवीर के शब्दो मे :

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहि ।
सीस उतारे भुइ धरै तव पैठे घर माहि ।।

प्रेम पवित्र भावना है, इसमे व्यापार नही चलता है, कवीर के मत से

प्रेम विकता मै सुना माथा काटे हाट ।
बूझत विलम्व न कीजिए, तत छन दीजै काट ।।

प्रेम के आवेग मे लौकिक वाह्याचार वह जाते है। सुन्दरदास ने इस भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहा

न लाज तीन लोक की, न वेद को कह्यो करै।
न सक भूत प्रेत की, न देव जच्छ ते डरै।
सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न वात और की, सुभक्ति प्रेम लच्छना ।।

इसी प्रकार प्रेम के व्यापक एव चमत्कारी प्रभाव का अनुभव कवीर ने भी किया था। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा

जहा प्रेम तहा नेम नहि तहा न बुधि व्यौहार।
प्रेम मगन जब मन भया कौन गिने तिथि वार ।।

सहजो वाई ने 'प्रेम दीवानी' होने के बाद जाति, वर्ग, वर्ण आदि कृत्रिमता से पूर्ण भावो को सदैव के लिये विसार दिया। सहजोवाई के शब्दो मे

प्रेम दिवाने जे भये जाति वरन गई छूट।
सहजो जग वौरा कहे लोग गए सब छूटि ।।

तथा

प्रेम दिवाने जे भये नेम धरम गयो खोय।
सहजो नर-नारी हसे या मन आनन्द होय ।।

दादू दयाल ने प्रेम को इतना 'अघाइ' कर पान कर लिया था कि उन्हे मुक्ति की भी कामना शेष नही रह गई।

दादू राता राम का पीवै प्रेम अघाइ।
मतवाला दीदार का मागे मुक्ति वलाइ ।।

सन्तों ने प्रेम का आदर्श चकोर और मीन माना है। उन्होने वारम्वार प्रेम के इन आदर्शो का उल्लेख किया है। सत दादू ने इश्क या प्रेम को व्रह्म का ही रूप माना है। दादू का कथन है कि

इश्क अलह की जाति है, इश्क अलह का रग।
इश्क अलह औजूद है, इश्क अलह का, अग[1]॥

हिन्दी साहित्य के सन्त-कवियो तथा सूफियो का प्रेमादर्श बडे ही उच्चकोटि का माना जाता है। इनके प्रेम मे अनुभूति की गहराई और विस्तार है, भावनाओ मे तीव्रता है। यद्यपि इनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीक एव अभिव्यजना शैली लौकिक प्रेम की सूचना देती है तथापि इनका प्रेम आध्यात्मिक है। सभी सन्तो और साधको के हृदय मे प्रेम लहरें भरता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

कबीर ने तो बारम्बार अपने को "राम की बहुरिया" बताया है और उस दिव्य सयोग की कामना की है, जहा ममत्व एव परत्व की भावना विलीन हो जाती है और साधक की आत्मा कहने लगती है कि "मै ही तू है और तू ही मै हू।" कबीर की भाति अन्य सन्त-कवियो मे भी कान्ताभाव की भक्ति उपलब्ध होती है। सभी ने परब्रह्म को अपना पति होने की कल्पना की है।

ऐसे साई की मै बलहरिया री।
ए सखि सग रग रस मातिउ,
देखि रहिउ अनुहरियां री॥[2]
(जगजीवन साहब)

तथा

इक पिय मोरे मन मान्यो, पतिव्रत ठानो हो।
अवरो जो इन्द्र समान, तौ तृन करि जानो हो॥[3]

इसी प्रकार दरिया साहब[4] तथा मलूकदास[5] ने भी परब्रह्म के पति होने की कल्पना की है। चरनदास ने प्रेम की महत्ता का गान विस्तार से किया है। उनका कथन है कि "प्रेम बराबर जोग ना, प्रेम बराबर ज्ञान" इसका कारण वह बताते है कि "प्रेम भक्ति बिन सधि वा सब ही थोथा ज्ञान"। सत दादू ने भी वेद-पुराण की निन्दा करके प्रेम की महत्ता का गान किया है।

दादू पाती प्रेम की बिरला बाचे कोइ।
वेद पुरान पुस्तक पढे प्रेम बिना क्या होइ॥

---

१. दादू के कथन से साम्य रखनेवाली साखियां
"इसक बसै पिया के अग। इसक रहै पिया के सग॥
प्रेम बसत पिया के चित्त। इसक अखड हमेसा नित॥
इसक दिखावे पार के पार। इसक अखड घर दातार॥"
२. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १३४/१।
३ स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १२७/१।
४ स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १५४/२।
५ मलूक दास की बानी "प्रेम को अग" मे।

दूलन दास ने तो प्रेम को धर्म से भी श्रेष्ठ माना है।

जग्य दान तप तीर्थ व्रत धर्म जे दूलन दास।
भक्ति आसरित तप सबै भक्ति न केहु की आस ॥

परन्तु इस प्रेम मार्ग पर चलना सरल नही है। प्रेम की साधना मे बलिदान की आवश्यकता होती है। त्याग एव बलिदान ही प्रेम का उद्दीपक है। जिस साधक मे त्याग की भावना नही है, वह प्रेम-पथ पर बढ ही नही सकता है। कबीर ने प्रेम के क्षेत्र में अवतरित होने वालो से कहा है —

प्रेम न वाडी उपजै, प्रेम न हाट विकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाय ॥

कबीर दास जी की ये चेतावनियाँ हमे प्रेम-मार्ग की दुरूहता का ज्ञान कराती है। कबीरदास जी ने इस दुरूह पथ पर अग्रसर होने वाले आकाक्षी साधको को सकटो की ओर सकेत करने की चेष्टा की है। दूलन दास के मतानुसार

दूलन कृपा तें पाइये, भक्ति न हासी ख्याल।
काहू पाई सहज ही, कोउ ढूंढत फिरत विहाल ॥[1]

इस प्रेम मे त्याग का बहुत बडा स्थान है। कैवल्योपनिषद् मे भी उल्लेख है

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु।"

"कर्म से नहीं, प्रजा से नही, धन से नही, त्याग से कोई-कोई अमृतत्व को प्राप्त होते है"

निर्गुण सन्त कवियो ने भी बताया कि भगवान की प्राप्ति के लिये त्याग आवश्यक है। यह त्याग केवल सासारिक सुख एव ऐश्वर्य तक ही सीमित नही है, वरन् अहम् भावना को भी त्याग देना चाहिए। अहम् भाव और प्रेम एक ही शरीर मे नहीं रह सकते हैं।

पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान।
एक म्यान मे दो खड्ग देखा सुना न कान ॥

प्रेम के उन्माद मे वैदिक-कर्म एव लौकिक बाह्याडम्बर स्वत ही वह जाते हैं। आत्मा पर प्रेम का उन्माद छा जाता है। उस उन्माद मे तन, मन, धन किसी की भी सुधि नही रहती है। विश्व तुच्छ प्रतीत होने लगता है। सासारिक व्यवहार एव लोकाचार सब व्यर्थ जान पडने लगते हैं। साधक का मन सदैव आराध्य मे नियोजित रहता है। उसके नेत्र ससार की प्रत्येक वस्तु मे उसी ब्रह्म की छवि देखते है। इन्द्रिया अपना कार्य भूल जाती है। मधुर प्रेम की दिव्य-ज्योति मे तन्मय हो कर वे इतनी आतुर हो जाती है, कि अपना कार्य भूल जाती हैं। प्रेम की इसी स्थिति की अनुभूति

---

१ स० ब० स०, भाग १, पृष्ठ १३७/२।

होने पर रहस्यवादी सेंट मार्टिन ने कहा था कि "मैंने उन फूलो को सुना जो ... करते थे और उन ध्वनियो को देखा जो आज्ज्वल्यमान थी।[1]

मलूक दास ने इसी भाव को निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त किया है।

प्रेम पियाला पीवते बिसरे सब साथी।
आठ पहर यो झूमते ज्यो माता हाथी।।
उन की नजर न आवते कोई राजा रक।
बन्धन तोड़े मोह के फिरते हैं नि सक।।

प्रेम का मादक प्रभाव बढ जाने पर लौकिक एव वै... बन्धन ढीले पड जाते है। सुन्दर दास की कविता मे भी इसी प्रकार की भावनाओ की व्यजना हुई है —

लागी प्रीति पिया सों सांची।
अबहू प्रेम मगन होइ नांची।।

इसी प्रकार चरनदास जी का अनुभव है।

सुधि बुधि सब गई खोइ
री मैं इस्क दिवानी।[3]

प्रेम-रस का आस्वादन करने के पश्चात् इन साधको की वासनायें नष्ट हो गई। उनके शुद्ध शरीर के अग-प्रत्यग मे प्रेम का भाव जाग्रत हो उठा, और वैदिक रूढियो एव बाह्याडम्बरो की इन निर्गुण सन्त-कवियो ने जी खोलकर निन्दा की है। इन कवियो ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रेमी के लिये सासारिक बन्धन कोई महत्व नही रखते हैं। प्रेम और नियम जप तथा तप आदि एक ही स्थान पर नही ठहर सकते है। पलटू साहब मे भी प्रेम के उन्माद के अनन्तर, कर्म और जनेऊ को तोड फेंकने का भाव इन पक्तियो मे मिलता है

करम जनेऊ तोडि के, भरम किया छयकार।
जेहि गोविन्द गोविन्द मिले, थूक दिया ससार।।[4]

समदृष्टि

सन्तो के व्यापक-धर्म का एक और आवश्यक तत्व है समदृष्टि। मनुष्य को

---

१ "I heard flowers that sounded, and I saw notes that Shone."
Mysticism—E Underhill
12th Ed -P. 7

२. मलूक दास की बानी, पृष्ठ ६।

३ चरनदास की बानी, पृष्ठ १७

४ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २१५।६।

समदृष्टि ग्रहण करना चाहिये। समदृष्टि विश्वबन्धुत्व की प्रथम सीढ़ी या भूमिका है। जीवन विडम्बनाओं और विषमताओं का पर्याय है। इस संसार में विषमता का अक्षय साम्राज्य प्रत्येक पग पर विद्यमान है। इन विरोधी परिस्थितियों में मनुष्य को चाहिये कि समभाव से व्यवहार करे इतना ही नहीं उसे समस्त विरोधी शक्तियों में समन्वय संस्थापित करके इस प्रकार से व्यवहार करना चाहिये, जिसमें भेदभाव के समस्त दोष मिट जाय और मनुष्य को समदृष्टिवान् होकर सर्वत्र विचरना चाहिये। सुविधा के लिये जिन सिद्धान्तों को लेकर जाति, वर्ण, वर्ग और आश्रमों का निर्माण किया गया था, वे सब आज अभिशाप बनते जा रहे हैं। इसलिये सन्तों ने कहा 'जाति पाँति पूछै ना कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।' जब भावना के क्षेत्र में इतनी स्वच्छन्दता है, तो फिर भेदभाव क्या है? मानव समाज एक ही ब्रह्म द्वारा विनिर्मित है। ब्रह्म समस्त सृष्टि का रचयिता है फिर "कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र", "कौन धनी और कौन निर्धन।" मानव-जीवन की जड़ें उसी ब्रह्म में समाहित हैं। इसीलिये सन्तों ने समदृष्टिवान बनने का उपदेश दिया। समदृष्टि धारण करने से मानव शैतल्य प्राप्त करता है। समदृष्टि धारण करते ही समस्त भ्रम और संशय मूल-विहीन हो जाते हैं। समस्त संसार एक ही ब्रह्ममय सर्वत्र दृष्टिगत होने लगता है। इसलिये समदृष्टि को धारण करने का अभिप्राय है जीवन को उन्नत और दिव्य-भावनाओं से युक्त करना

समदृष्टी सतगुरु किया, मेटा भरम विकार।
जहँ देखो तहँ एक ही साहिब का दीदार॥[1]

इसी प्रकार अन्य सन्त कवियों ने जीवन में समता के भाव को अपनाने का उपदेश दिया और जनता के मध्य एक दिव्य गुण को प्रसारित करने का प्रयत्न किया।

सेवा-भाव

सन्तों के व्यापक धर्म का एक और आवश्यक अंग है 'सेवा-भाव।' मानव जीवन मुख्यतया स्वार्थ वा 'स्व' के दायरे में सीमित रहता है। परन्तु जीवन को 'स्व' से हटाकर परोपकार एवं परसेवा में नियोजित करना परम आवश्यक है। स्वार्थ के लिये तो पशु भी अपना जीवनयापन करते हैं। परन्तु 'परोपकाराय सतां विभूतयः'। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा था कि

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीडा सम नहिं अधमाई॥
(रामचरित मानस)

मानव-जीवन जिस समय 'स्व' की हीन सीमा को पार कर परोपकार परसेवा

---

[1] स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ३३।

मे अनुरक्त होता है, उसी समय उसकी सार्थकता है। अत सन्तो ने बारम्बार परोपकार और परसेवा की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। परसेवा का मूल है दया। अत: दया को हृदय मे धारण करना परम आवश्यक है। प्रस्तुत परिच्छेद के 'दया' उपशीर्षक मे इस विषय पर विचार प्रकट किये गये है। अत यहाँ पुनरुक्ति अपेक्षित नही है।

ससार से विरक्ति

ससार से विरक्त और निर्लिप्त रहने का उपदेश सन्तों ने बारम्बार दिया। उनके व्यापक धर्म का यह मूल-मत्र था कि जीवन क्षणभगुर है। ससार बालू की भित्ति के सदृश अस्थिर और विनाशशील है। जीवन तीतर की परछाई के समान क्षुद्र और अल्प है। इन परिस्थितियो मे जीवन से बहुत अनुराग स्थापित करना भयकर भूल है ससार और माया का कोई भरोसा नही है, फिर भी मानव उन्ही मे अनुरक्त रहता है। इस विषादमयी परिस्थिति मे अवकाश ग्रहण करके मानव को चाहिये कि वह परमार्थ और ब्रह्म की साधना मे अनुरक्त हो। तभी मनुष्य का कल्याण हो सकता है। सन्तो ने उपदेश दिया कि ससार मे मनुष्य को उसी प्रकार रहना चाहिये, जिस प्रकार कमल जलराशि मे जीवन ग्रहण करता हुआ भी उससे पृथक् और परे रहता है। हमारे सत कवियों ने बारम्बार जीवन की क्षण-भगुरता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, और यह कहा कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है। फिर इस मानव तन से अच्छे कार्य क्यो न किये जायें। कबीरदास जी का कथन है

मनुष जन्म दुर्लभ अहै, होय न बारम्बार।
तरवर से पत्ता झरै, बहुरि न लागै डार ॥[1]

इस कारण इस ससार मे रहते हुये भी व्यक्ति को उसी ब्रह्म का ध्यान रखना चाहिये :

ज्यो तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहि।
ऐसे जन जग मे रहैं, हरि को भूलै नाहि ॥[2]

माया-मोह को त्याग कर केवल अपने कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिये।

जब घट मोह समाइया सबै भया अंधियार।
निर्मोहि ज्ञान विचारि के कोई साधू उतरे पार ॥[3]

ससार मे किस प्रकार रहना चाहिये इसके लिये सन्तो ने बताया कि

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १३।

२. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १४।

३. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ५४।

भवसागर मे यों रहे, ज्यो जल कवल निराल ।
मनुवा वहा लै राखिये, जहा नहीं जम काल ॥[१]

परन्तु इन आदर्शों को सामने रख कर विरले ही उस प्रेमी तक पहुच पाते हैं

लडने को सबही चले, सस्तर बाधि अनेक ।
साहिब आगे आपने, जूझैगा कोई एक ॥[२]

यह तो अनुभव ज्ञान की बात है

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी की बात ।
दुलहा दुलहिन मिल गये, फीकी पडी बरात ॥[३]

सतगुरु-वन्दना

सन्तो के व्यापक-धर्म मे सतगुरु का बडा विशिष्ट स्थान है । सतगुरु ही साधक के जगत मे सबसे बडा दृष्टा और सृष्टा है । उसके पथ-प्रदर्शन के बिना कुछ भी सम्भव, सुलभ या सरल नही है । गुरु गोविन्द से भी श्रेष्ठ और शक्तिशाली है । कबीर ने स्पष्ट रूप मे कहा है "गुरु बडे गोविन्द ते मन मे देखु विचार", "हरि सुमिरै सो वार है, गुरु सुमिरै सो पार ।" कबीर के समान ही दूलनदास भी इस मत के पोषक थे, गुरु ही ब्रह्मा है, वही विष्णु है और वही महेश है । वास्तव मे गुरु की गति अगम और अपार है :

गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु है, गुरु शकर गुरु साध ।
दूलन गुरु गोविन्द भजु, गुरुमत अगम अगाध ॥

चरनदास के मत से गुरु की समता करने की क्षमता न मनुष्य मे है और न देवताओ मे । उसका नाम स्मरण करते ही समस्त पातक विनष्ट हो जाते हैं । और जीवन कल्याणकारी तत्व से सम्बन्धित हो जाता है ।

गुरु समान तिहू लोक मे और न दीसै कोय ।
नाम लिये पातक नसै, ध्यान किये हरि होय ॥

गरीबदास के मत से सद्गुरु 'पूरन ब्रह्म' है, वह अलेख है, वह अनन्त है ।

सतगुरु पूरन ब्रह्म है, सतगुरु आप अलेख ।
सतगुरु रमता राम है, यामे मीन न मेख ॥

निर्गुण सत-कवियो ने धर्म मे गुरु की महिमा का गान बहुत किया है । उनके मतानुसार उस ब्रह्म को प्राप्त करने मे सतगुरु ही सहायता पहुचाते है । सन्तो ने

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ३७ ।

२ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ३८ ।

३ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ४४ ।

इस गृह को जहा गुरु की सेवा नही होती है, श्मशान के समान शून्य और अपवित्र माना है।

साध सेवा जा घर नाहीं, सतगुरु पूजा नाहि।
सो घर मरघट सारिखा, भूत बसै ता माहि॥

नाम

सन्तो ने नाम का बड़ा गुणगान किया है। नाम-महिमा वर्णन की परम्परा का परिपालन प्राय सभी सन्त कवियो ने किया है। कबीर से लेकर छोटे से छोटे सन्त कवि ने नाम का वर्णन बड़े व्यापक रूप मे किया है। कबीर,[1] दरिया द्वै,[2] दूलनदास[3], सहजोबाई[4] गरीबदास,[5] पलटू साहब,[6] सुन्दरदास,[7] आदि ने भी भाँति-भाँति से अपनी साखियो मे नाम का गुणगान किया है। सुन्दरदास ने नाम को समस्त कर्म-काण्ड और धर्मो मे श्रेष्ठ माना है।

नाम बराबर तोलिया, तुलै न कोई धर्म।

सुन्दरदास की भाति चरनदास ने भी 'नाम' को समस्त धर्मो मे श्रेष्ठ माना है:

सकल सिरोमन नाम है, सब धरमन के माहि।
धनन्य भक्ति वह जानिये, सुमिरन भूलै नाहि॥

सन्त कबीरदास के मतानुसार नाम ही आदि और मूल वस्तु है। समस्त वेद और मन्त्र उसी से उत्पन्न हुए हैं। बिना नाम का ध्यान किये हुए कितने ही सांसारिक प्राणी भवजल मे डूबकर नष्ट हो गये है।

आदि नाम सब मूल हैं, और मन्त्र सब डार।
कहै कबीर निज नाम बिनु, बूड़ि मुआ ससार॥

सन्तो का ब्रह्म नाम रूप, जाति और वर्ण से परे है, वह अकथ एव अगोचर है। उसकी शक्ति एव स्वरूप मानव के अनुमान एव विचार से भी उच्च एव विस्तृत है। सन्तो ने परब्रह्म को अकथ, अनीह, करुणामय, राम, हरि, निरजन, खुदा, करीम, रहीम आदि नामो से सम्बोधित किया है, जिससे कि हिन्दू एव मुसलमानो के हृदयो

---

१ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ४६।
२. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १२१-१२२।
३ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १३४-१३६।
४. स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १५५-१५६।
५ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १८४-१८६।
६ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ २१४।
७ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ १०७-१०८।

में परब्रह्म का एकत्व स्थापित हो जाय। जिस प्रकार निराकार होते हुए भी ब्रह्म ससार मे सर्वदा व्याप्त है, उसी प्रकार 'राम' प्रत्येक घर मे, सर्वत्र तथा सर्वदा व्याप्त है। गरीवदास के शब्दो मे—

अगम अनाहद भूमि है जहाँ नाम का दीप।
एक पलक विछुरै नहीं रहता नैनो वीच ॥[१]

सभी सन्त-कवियो ने नाम की अत्यधिक महिमा गाई है। इसी नाम की महिमा गाते हुये, मानव उस परब्रह्म के दर्शन कर पाता है। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। भगवत् प्रेम मे भरा मानव, सत्य, दया, सेवा, परोपकार, अहिसा, त्याग आदि की ओर ध्यान देता है। वही वास्तविक धर्म है। निर्गुण-सन्त कवियो ने इसी व्यापक धर्म का रूप हमारे समक्ष रखा है।

सत्य

सत्य सन्तो के व्यापक धर्म का एक आवश्यक अग है। सत्य को इन सन्त-कवियों ने ब्रह्म का ही स्वरूप माना है। कबीर दास के मतानुसार सत्य ही परम तप, परम पुण्य और स्वय परब्रह्म का प्रतीक है।

साँच वरावर तप नहीं, झूठ बरावर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप॥

उपनिषदो मे भी वारम्वार यही कहा गया है कि सत्य से श्रेष्ठ ज्ञान एव धर्म इस ससार मे नही है, झूठ के समान अन्य पाप नही है। अत सत्य का आचरण ही एक मात्र कल्याणकारी तत्व है •

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातक परम्।
नहि सत्यात्पर ज्ञान तस्मात्सत्यं समाचरेत्॥

निर्गुण सन्त-कवियो ने ब्रह्म तक पहुचने या एकात्मकता सस्थापित करने के अनेक मार्ग वताये हैं, जिनमे सुगम एव दुर्गम दोनो ही पथ हैं, यदि कार्य सुगम पथ पर चलने से सिद्ध हो जाये, तो दुरूह पथ पर चलने की आवश्यकता ही क्या है ? सरल मार्ग पर अग्रसर होने से साधना अधिकाधिक लोकप्रिय होगी। इन सत-कवियो ने वताया कि जव सत्य एव ब्रह्म पर्याय ही है, फिर वाह्याडम्वरो की क्या आवश्यकता है ?

सत्य की महत्ता को सन्त दादू ने भी स्पष्ट शब्दों मे व्यक्त कर दिया, "जाके हिरदे साँच है, ता हिरदे गुरु आप" तथा

साँचा नाव अलाह का, सोई सति कर जाणि।
निहचल करि ले वदगी, दादू सो परवाणि ॥[२]

---

१ स० वा० स०, भाग १, पृष्ठ १८४।७।
२ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ८०४।१-।

गरीबदास के मतानुसार भी सत्य ही ब्रह्म है :

सांचे का सुमिरन करो, झूठे क्यों जंजाल।
सांचा साहिब आप है, झूठ कपट सब काल ॥[१]

तथा

सत्य सुकृत अरु बन्दगी, जा उर ज्ञान विवेक।
साध रूप साईं मिले, पूरन ब्रह्म अलेख ॥[२]

ब्रह्म स्वतः सत्य है और सत्य प्रिय है। जीवन में सत्य का व्यवहार करने वाला मानव, इस सदाचार या आचरण मात्र से ब्रह्म के निकट पहुंच जाता है

साईं से सांचा रहो, साईं सांच सुहाय।
भावें लम्बे केस रखु, भावें घोट मुंडाय ॥[३]

तथा

लेखा देना सहज है, जो दिल सांचा होय।
साईं के दरबार में पला न पकरे कोय ॥[४]

(कबीर)

उस समय के बाह्याडम्बरों से पीड़ित जनता को कबीर ने सत्य का अनुभव कराया। पंडित, मुल्ला एवं काज़ी जो कि केवल शोषण में तत्पर रहते हैं, उनके अभिशाप सत्यवादी व्यक्ति के लिये कुछ भी नहीं कर सकते हैं

सांचे स्राप न लागई, सांचे काल न खाय।
सांचे को सांचा मिले, सांचे माहिं समाय ॥[५]

जब सत्य ब्रह्म के सदृश ही महान् एवं पवित्र है, तो सत्य का सेवी कभी भीषण तापों से व्यथित नहीं हो सकता है। गरीबदास के मत में सत्य का व्यवहार करने वाला स्वयं ब्रह्म के सदृश है। जब हम सत्य को ब्रह्म का पर्याय ही मान लेते हैं, फिर सत्य को आत्मसात करने वाला स्वयं ब्रह्म का स्वरूप कहलाने का अधिकारी है।

सत्त सुकृत अरु बन्दगी जान उर ज्ञान विवेक।
साध रूप साईं मिले, पूरन ब्रह्म अलेख ॥[६]

---

१ स० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ २०३।३।
२ स० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ २०३।११।
३ स० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ४९।२।
४ स० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ४९।७।
५ स० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ४६।४।
६ गरीबदास की बानी, पृष्ठ ६२।

सत्य प्रिय का ससार मे बडा महत्व है। भीखा साहब ने सत्यवादी व्यक्ति को ही सन्त माना है[1] सत्य मे सभी गुण, सभी कर्म, सभी धर्म, सभी विशेषताए सहज रूप मे ही रहती हैं। सत्य ही अन्धकार मे प्रकाश देता है। वह आलोक और ज्योति का पुज है। जब सत्यवादी व्यक्ति का सम्पर्क सत्यवादी से होता है, तभी अत्यधिक स्नेह बढता है

साचे को साँचा मिलै अधिका बढै सनेह।
झूठे को साँचा मिलै तडदे टूटै नेह॥[2]
(कबीर)

इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और ब्रह्म का अन्तर केवल कल्पित ही है। सत दादू साँचे के लिये कहते हैं

साँचे का साहिब धर्ण समरथ सिरजनहार।
पाखड की यहु पिर्थमी, परपत्र का ससार॥[3]

गरीबदास के मतानुसार 'साँच रूपी साहब' जिनके हृदय मे बसे हुये हैं उनके दर्शन मात्र से ही तीर्थों के समान पुण्य प्राप्त होता है।

साच जिनके उर बसै, झूठे कपट नहिं अग।
तिनका दरसन न्हान है, कह परबी फिर गग॥

सत्य के इस मधुर स्वाद का रसास्वादन करने वाले हमारे निर्गुण सन्त-कवियो ने बारम्बार सत्य बोलने की चेतावनी दी है।

झूठा सब ससार है साँचा है सो एक।
पार ब्रह्म सत्य रूप पद सब वसुधा की टेक॥[4]

इस क्षणभगुर ससार मे केवल राम के रूप मे सत्य एव उसका नाम ही अमर है। इसी सत्य का अनुकरण कर मानव उस ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। इस कारण सन्त-कवियो ने धर्म का अर्थ सत्य अथवा ईश्वर की प्राप्ति ही बताया है।

धर्म मे व्याप्त विकारो तथा वाह्याडम्बरो की निन्दा करके ही इन निर्गुण सन्त-कवियो ने पथ-भ्रष्ट एव लक्ष्य-च्युत जनता को धर्म के राजमार्ग पर लाना चाहा। धर्म और साधना मे इन कवियो को व्यर्थ के वाह्याचार स्वीकार नही थे। उनके मतानुसार साधना तो अत्यन्त प्रिय विषय है। साधना के मध्य मे कोई भी विरोधी

---

१ सत्य गहै एक नाम को, सोई सन्त सयाने
भीखा साहब की बानी, पृष्ठ ५८ ५।

२ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ४९-६।

३ स० बा० स०, भाग १, पृष्ठ ६४।८।

४ गरीबदास की बानी, पृष्ठ ५६।१२।

भावनाएँ नही होनी चाहिये । इस सत्य से हमारे निर्गुण सन्त-कवि परिचित थे । इसी कारण उन्होंने धर्म एवं साधना के सहज पथ को ग्रहण करने के लिये अपनी समकालीन जनता को उपदेश दिये । सन्त कबीरदास जी ने जनता को बताया कि साधना दुरूहता से रहित और सुगम होनी चाहिये । सहज-पथ ही सत्य-पथ है, जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

सहज सहज सब को कहै सहज न चीन्है कोइ ।
जिन्ह सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोइ ।।

इस प्रकार, मन की आसक्ति विषयों मे न होने देनी चाहिए । निर्गुण सन्तो पर भारतीय गृहस्थ-आश्रम व्यवस्था का भी प्रभाव पड़ा था । भारतीय गृहस्थ की ऐसी एक भी नित्य या नैमित्तिक क्रिया नहीं होती थी, जिसमे लोक-हित के साथ ही साथ परलोक-हित का अंश न रहता हो । शरीर की क्षणभंगुरता तथा आत्मा की नित्यता का ध्यान सदा उनके हृदय-पटल पर अंकित रहता है । यम, नियम के पालन द्वारा वे अपने जीवन को अपरिग्रहशील बनाकर न्यूनातिन्यून सामग्रियो से जीवन-यापन का नित्य अभ्यास करते-करते अन्त मे ममता तथा अहं से शून्य होकर संसार और भौतिक शरीर का त्याग सुखपूर्वक करते थे । ऐसे गृहस्थ किस प्रकार दूसरो के द्रव्य पर सतृष्ण दृष्टि रख सकते हैं । परन्तु देश काल की परिस्थितियो ने भारतीय जनता के इस महान् आदर्श को भी आच्छादित कर दिया । सन्तो की शीतल और पवित्र वाणी ने जनता के हृदय मे जमी हुई गहरी निराशा को दूर करने का प्रयत्न किया । उन्होंने भी उपदेश देकर भारतीय जनता को यह बताने का प्रयत्न किया कि गृहस्थ को किस प्रकार जीवन यापन करना चाहिये

जो मानुष गृह धर्म युत, राखै सील विचार ।
गुरमुख बानी साधु संग मन वच सेवा सार ।।
गिरही सेवै साधु को, साधू सुमिरै नाम ।
या मे धोखा कछु नहीं, सरै दोऊ को काम ।।[1]

(कबीर)

इस प्रकार साधू एवं गृहस्थ दोनो का ही कार्य पूर्ण हो जाता है । सन्तो ने पतिव्रता स्त्री को भी पूजनीय माना है । स्त्री को उस ब्रह्म की प्राप्ति अपने पति मे ही हो सकती है । पतिव्रता स्त्री के लिये कबीर दास जी कहते है

कबीर रेख सिंदूर अरु, काजर दिया न जाय ।
नैनन प्रीतम मिलि रहा, दूजा कहाँ समाय ।।[2]

---

१ स० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ४६।१३ ।
२ स० बा० सं०, भाग १, पृष्ठ ४१।१४ ।

इसी प्रकार अन्य सन्त-कवियो ने भी स्त्री का धर्म पति की सेवा बताया है। सुन्दर दास तो स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं

सुन्दर जिन पतिव्रत किये
तिन कीये सब धर्म

धर्म का वास्तविक अर्थ यही है कि प्रत्येक इस ससार मे अपने कार्य को पूर्णतया करे, परन्तु उसमे आसक्ति न हो और न फल की ही कामना करे।

इन सन्तो के युग मे हिन्दू एव मुसलमान दो धर्म प्रचलित थे। परन्तु दोनो ही धर्मों मे हिंसावृत्ति समाविष्ट हो गई थी। इसी कारण अहिंसा की ओर भी इन सन्त कवियो ने ध्यान दिया। सन्त कबीरदास जी अहिंसा के प्रबल पक्षपाती थे। उन्होने लिखा भी है।

कबीर चाल्या जाइ था,
आगे मिल्या खुदाइ।

मीरो मुझसो यो कहया,
किनि मुरझाई गाय ॥

कबीर ने मुसलमानो की क्रूरता एव हिंसा के कारण उन्हे फटकारा

दिन भर रोजा रहत है, राति हनत है गाय।
यह खून वह बदगी, कैसे खुसी खुदाय।

तथा

अपनी देखि करत नहिं अहमक कहत हमारे बडन किया।
उनकी खून तुम्हारी गर्दन, जिन तुमको उपदेश दिया ॥

इसी प्रकार उन्होने हिन्दू योगियो से भी पूछा कि कब 'नारद बन्दूक चलादा'। इन स्पष्ट शब्दो द्वारा उन्होने हिंसा न करने का उपदेश दिया। साथ ही साथ हिंसा मे प्रवृत्त प्राणियो को कुछ भय भी दिखाया कि

बकरी पाती खात है ताकी काढी खाल।
जो नर बकरी खात है तिनका कौन हवाल ॥

इन्ही व्यग्यपूर्ण चित्रो मे सन्त कवियो ने उस काल की जनता की मनोवृत्ति और धर्म के अन्धकारपूर्ण पक्ष का चित्रण किया है। साथ ही साथ दोनो ही धर्मावलम्बियो के हृदयस्थ भेदभाव की सकीर्णता को भी दूर करने का प्रयत्न किया। तत्कालीन जनता के हृदय मे व्याप्त असतोप तथा प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति के विरुद्ध सन्तो ने सन्तोष एव क्षमा का ही उपदेश दिया। क्षमावान को उन्होने परब्रह्म का रूप बताते हुए कहा "जहाँ छिमा तहँ आप।"

विजेता-वर्ग के अत्याचारो से पीडित जनता को भी धैर्य रखने का उपदेश सतो ने

दिया। सतो ने कहा "धीरे धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय"। इसी से उदारता की भावनाओं की वृद्धि हुई।

सन्त कवियो ने जनता के लोभ, कपट, क्रोध, मोह, तृष्णा आदि को हटाकर, उसके स्थान पर उदारता, सहनशीलता, क्षमा, दया, अहिंसा, सहानुभूति की ओर भी जनता का ध्यान आकृष्ट किया। उनका धर्म नैतिक एव मानवतावादी था। वाह्याडम्बरो से दूर प्रत्येक को समान दृष्टि से देखने वाला। "जहाँ दया तहँ धर्म है" तथा "दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान" आदि पर हमारे सन्तो ने ध्यान दिया है। उनका धर्म व्यापक था। धर्म के नाम पर होने वाले अनाचार एव दुराचारो के लिये इस व्यापक धर्म मे कोई भी स्थान नही था। साधना का जो मार्ग निर्गुण सन्त-कवियो ने प्रदर्शित किया था, वही सबसे अधिक कल्याणप्रद था तथा समय की माग को भी पूरा करता था।

सांस्कृतिक सामञ्जस्य

'सस्कृति' शब्द सस्कृत व्याकरणानुसार सम (उत्तम) उपसर्गपूर्वक 'कृन्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। इसका सरल अर्थ है उत्तम कृति अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि की सम्यक् चेष्टायें। इनमे लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सभी प्रकार के अभ्युदय उन्नति के अनुकूल चेष्टायें आ जाती हैं। वैसे तो देहादि की सभी अच्छी सम्यक् चेष्टायें ही सस्कृति कही जाती है। इसकी सीमायें एक ओर धर्म के क्षेत्र को स्पर्श करती है, तथा दूसरी ओर साहित्य पर भी प्रभाव डालती है।

'सस्कृत' एव 'सस्कार' शब्द अत्यन्त प्राचीन है तथा बहुशास्त्र प्रयुक्त है। इन उभय शब्दो की तुलना मे 'सस्कृति' शब्द अपेक्षाकृत नवीन है। अधिकतर आग्ल भाषा के 'कल्चर' शब्द का परिचय कराने के लिये 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। परन्तु सत्य यह है कि इस भाषा के प्रस्तुत शब्द का भी अर्थ निश्चित नही है। तथ्य यह है कि 'कल्चर' और 'सस्कृति' शब्दो का अर्थ एक ही नही है। परन्तु फिर भी उनके भावार्थ मे बहुत कुछ साम्य है। दोनो की आत्मा मे बहुत साम्य और सामजस्य है। वास्तव मे प्राकृतिक विधान के अनुरूप सस्कार की हुई पद्धति ही सस्कृति है। सस्कृति आधुनिक-युग का अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है। पाश्चात्य विद्वानो के मत से 'सस्कृति' उस सामाजिक देन को कहते हैं, जिसके अनुसार मानव अपने जीवन को आधारित करता है और जिसकी नीव पर समाज सभ्यता की दिशा मे अग्रसर होता है। मानव और समाज की शिल्पकलाए, उसके वस्त्राभूषण, उसके अस्त्र-शस्त्र, धर्म, विश्वास, मान्यताए, कला-कौशल, रीति-नीति, यह सब कुछ सस्कृति के अन्तर्गत आ जाते है। पूर्व के विद्वान सस्कृति के आभ्यान्तरिक तत्वो पर विशेष ध्यान देते हैं। इन विद्वानो के अनुसार सस्कृति का सम्बन्ध सस्कारो से है। ये विद्वान सस्कारो के समाहार को सस्कृति कहते हैं। सस्कृति व्यक्तिगत और समष्टिगत भी होती है। किसी समाज, जाति या राष्ट्र के अनन्त व्यक्तियों के उदात्त और दिव्य

संस्कारो के पुंज का नाम, उस समाज, जाति और राष्ट्र की संस्कृति है। सी० पी० रामास्वामी अय्यर का मत है, कि संस्कृति जीवन का एक दृष्टिकोण है।[१] संस्कृति का विकास समष्टिगत अनुभवो से होता है।

'संस्कृति' किसी देश या जाति की आत्मा है। उससे उसके उन संस्कारो का बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है, या विशिष्ट मानव-समूह के उन उदात्त गुणो को सूचित करती है जो मानव-जाति मे सर्वत्र पाये जाने पर भी, उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते है, और जिन पर उनके जीवन मे अधिक जोर दिया जाता है। दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते है कि संस्कृति सभ्यता से भिन्न एक गुण है। सभ्यता वह वस्तु है जो हमारे पास है, और संस्कृति वह गुण है जो हम मे व्याप्त है। इस कारण सभ्यता से अधिक समय तक रहने वाली संस्कृति ही होती है, क्योंकि सभ्यता की सामग्रियां टूट-फूट कर विनष्ट हो जाती है, पर संस्कृति का विनाश सरलता से नही हो सकता। अनेक शताब्दियो तक एक समाज के लोग जिस तरह खाते-पीते रहते-सहते, पढ़ते-लिखते, राज-कार्य चलाते एवं धर्म-कार्य करते है, उन सभी कार्यों मे उनकी संस्कृति की झलक मिलती है। यहा तक उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने, घूमने-फिरने एवं रोने-हंसने तक मे हमारी संस्कृति की झलक मिलती है। यद्यपि हमारा केवल एक ही कार्य हमारी संस्कृति का पर्याय नही बन सकता है। यथार्थ मे संस्कृति जीवन का एक ढंग है, और यह ढंग शताब्दियो से एकत्र होकर समाज मे निहित रहता है। जिस समाज मे हम जन्म लेते है, उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति होती है। इसी कारण 'संस्कृति' हमारे जीवन मे व्याप्त है। संस्कृति और सभ्यता मे भेद देखें तो हम कह सकते है कि संस्कृति मनुष्य के अखिल जीवन को संस्कारित करती है, और सभ्यता से केवल बाह्याचार लक्षित होता है। संस्कृति जीवनव्यापिनी चेतना है, सभ्यता शरीर पर धारण किये हुए आभूषण। इसी दृष्टि से यूरोपादि देशो के सुधारो को 'संस्कृति' न कह कर सभ्यता कहा जाता है। संस्कृति के उपकरण हमारे पुस्तकालय, संग्रहालय, सिनेमा-गृह ही नही होते, वरन् हमारे राजनैतिक एवं आर्थिक संगठन भी होते है, क्योंकि उन पर भी हमारी रुचि और चरित्र की छाप लगी होती है। निष्कर्ष यह है कि सभ्यता

---

१ संस्कृति की अन्य परिभाषाए देखिये

(क) एक बड़े लेखक का कथन है

'संसार भर मे जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई है, उनसे अपने आपको परिचित कराना संस्कृति है।'

(ख) 'संस्कृति सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।'

(ग) 'संस्कृति मन, आचार, अथवा रुचियो की परिष्कृति या शुद्धि है।'

'संस्कृति के चार अध्याय' की भूमिका

लेखक जवाहरलाल नेहरू।

की अपेक्षा संस्कृति सूक्ष्म वस्तु है, यह सभ्यता में इसी प्रकार व्याप्त है जैसे पुष्प में सुगन्ध ।

भारतीय-संस्कृति का मूल आधार आध्यात्मिकता है। ऐतिहासिक विवेचन से स्पष्ट हो जाता है, कि भारतीय संस्कृति की प्रथम विशेषता है, स्वतन्त्र विचार-पद्धति या अभय मनोवृत्ति। भारतीय-संस्कृति की द्वितीय विशेषता है, सहिष्णुता एवं औदार्य। इस देश में हर प्रकार के विचारक समुत्पन्न हुये। कोई ईश्वरवादी था, कोई अनीश्वरवादी, परन्तु आदर्शों की रक्षा के लिये इस देश में कभी रक्तपात नहीं हुआ। यहां जीवन तर्क और बौद्धिकता के माध्यम से सदैव स्वतन्त्र हुआ था। भारतीय-संस्कृति की तृतीय विशेषता या चिह्न, ऋत या सत्य है, अर्थात् घटनाएँ अकारण नहीं होती वरन् नियमानुसार एक व्यवस्था के अनुसार होती हैं, उनमें एक स्थायित्व या निरन्तरता रहती है, वे क्रमानुसार होती रहती हैं। आश्रम, वर्ण, वेद, दर्शन के सिद्धान्त इसी विशेषता के अन्तर्गत आते हैं। संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है, जब भी दो देश वाणिज्य-व्यापार या शत्रुता एवं मित्रता के कारण आपस में मिलते हैं, तब उनकी संस्कृतियां एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। जो संस्कृति केवल देना ही जानती है, पर लेना नहीं जानती वह एक न एक दिन अवश्य ही पतन के गर्त में जा गिरेगी। इसके विपरीत जिस संस्कृति रूपी सरिता में विभिन्न जलवाली सरितायें आकर मिलती हैं, उसमें सदैव ही स्वच्छ जल हिलोरें लेता है। किन्हीं दो नवीन संस्कृतियों के मिलते ही उनके संघर्ष से एक नवीन धारा ही फूट निकलती है। आदान प्रदान की यह प्रक्रिया संस्कृति का जीवन है, इसी के सहारे वह जीवित रहती है।

सस्कृति समष्टिगत समान अनुभवों से उत्पन्न होती है। एक ही जलवायु में पले, एक ही प्रकार के गिरि, निर्झर, नदी, सागर को देखने वाले, एक ही प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सुख-दुख भोगे हुये लोगों के चित्तों का झुकाव प्राय एक सा ही हो जाता है। साहित्य इन्हीं अन्तस्तल में झंकृत होने वाले तारों की स्वर-लहरी को वाग्बद्ध कर देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है, कि जिन लोगों की अनुभूतिया एक सी होंगी, उनमें वाङ्मय भी एक सा ही होगा। यही कारण है कि निर्गुण-भक्ति-शाखा के सर्वश्रेष्ठ सतकवि कबीरदास निम्न जाति के होते हुये भी लोकप्रिय हो गये। समान अनुभूति धार्मिक भावो मे भी समता उत्पन्न कर देती है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिन्दू-सस्कृति के सम्पर्क मे आते ही इस्लामी कट्टरता दूर होने लगी और हिन्दुओं का भी ध्यान वाह्याडम्बरो से हटकर मानव-मात्र की सेवा की ओर गया। अब हम हिन्दू-सस्कृति की ओर दृष्टिपात करेंगे।

हिन्दू-सस्कृति ने अपने को धर्म, वाङ्मय, चित्रकला एव मूर्तिकला के रूप मे व्यक्त किया है। समय-समय पर इसके स्वरूप मे परिवर्तन अवश्य होते गये। अशोक-कालीन सस्कृति गुप्त-कालीन सस्कृति से भिन्न थी। मुगल-काल मे सस्कृति ने दूसरा ही रग दिखाया। उस समय तो उत्तर-भारत और दक्षिण-भारत की सस्कृति मे ही

अन्तर हो गया। फिर भी इन देश-कालानुगत भेदो के रहते हुए भी इसमे कुछ तो विशेषता है ही, जिसने भेद मे भी अभेद को बनाये रक्खा। यह विशेषता इसकी प्रधान आर्य-धारा से आई है। यही वह गुण है, जो इसको अन्य संस्कृतियो से भिन्नता प्रदान करता है और जो भारत का मानव के लिए सन्देश है। यदि इसे एक शब्द मे व्यक्त करना चाहे तो वह शब्द है 'आध्यात्मिकता'।

आध्यात्मिक-भाव का विश्लेषण करने पर हमे यह ज्ञात होता है कि इसमे मुख्य दो तीन विश्वासो का सम्मिश्रण है :

[१] अद्वैत-भावना
[२] कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त
[३] योग पर विश्वास

अद्वैत-भावना

इस देश मे द्वैतवादी दार्शनिक भी हुए है। मध्वादि सम्प्रदाय के भक्तो ने लोक-भाषा मे द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। परन्तु श्रोताओ ने उनके शब्दो को खीच-खाच कर अद्वैत-भाव की ही पुष्टि की है। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और अद्वैतवादो मे जो सूक्ष्म भेद है, उसकी ओर सामान्य जनता की सरल बुद्धि ने ध्यान नही दिया उसने इन सबमे सीधा-सादा अद्वैत-भाव, जीवात्मा और परमात्मा का तात्विक अभेद मात्र पकड लिया।

अद्वैत भाव का परिणाम कट्टरपन का अभाव है, जिसे इस संस्कृति की विशेषता कहा जा सकता है। हिन्दुओं के रग-रग मे यह बात समा गई है :

रुचीनां वैचित्र्याहजुकुटिलनानापथजुषा।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

इस कारण दूसरे धर्म को सर्वथा मिथ्या मानना, या दूसरे की उपासना-शैली को नरक ले जाने वाली बताना, असम्भव नही तो कठिन अवश्य ही हो गया। क्रोध की बात तो दूसरी है पर साधारणतया उसका हाथ दूसरो के देवालयो को ढहाने के लिये उठना ही नही है। इसी कारण वह सुगमता से अपने उपास्यो की सूची मे वृद्धि कर लेता है। साथ ही वह परधर्मावलम्बियो के साथ भी उदारता का भाव रखता है।

अद्वैत-भाव का ही द्वितीय परिणाम अहिंसा-भाव और दया है। जब सभी प्राणी अपने ही रूपान्तर है, तब कौन किससे द्वेष करे ? कौन किसका अहित करे ? राग-द्वेषजनित स्वार्थ के वशीभूत होकर हिन्दू भी बुरे कार्य कर बैठता है, पर सामान्यत उसकी प्रवृत्ति स्वरक्षणात्मक होती है। मोहवश या अज्ञानवश वह निर्दयता भी करता है परन्तु प्रत्यक्ष जीव-दया, तिर्यक प्राणियो के प्रति सम्वेदना उसको अधिक रुचती है।

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त

भारतीय जनता को कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर अटल विश्वास है। इस

विश्वास से उसमें अपूर्व शक्ति आ गई है। वह कैसे ही विपत्तियों में क्यों न हो जाय, फिर भी दुःख उसको अधिक विचलित नहीं करते। वह मानकर ही सब शान्त हो जाता है, कि यह पूर्वजन्म के फल हैं।

योग पर विश्वास

योग पर भी हिन्दू-संस्कृति विश्वास रखती है। योग को साधारण शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्म साक्षात्कार की साधना का नाम 'योग' है। तप, ध्यान इत्यादि इसके पर्याय शब्द प्रचलित हैं। हिन्दुओं की ऐसी धारणा है कि किन्हीं उपायों से इसी जीवन में ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है और मनुष्य अपने को देवोपम बना सकता है।

इन तीन बातों को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि भारतीय संस्कृति के यह मूल तत्त्व हैं।[1] इस लोक में रहते हुए भी दृष्टि 'परलोक' को ही ढूंढती है। उनके सम्मुख राम, कृष्ण के चरित्र हैं, जिन्होंने गार्हस्थ्य के साथ ज्ञान-वैराग्य को सफलता से मिला दिया था। अतएव भारतीय-संस्कृति की आधार शिला यह आत्म-साक्षात्कार या आध्यात्मिकता ही है। योगिराज श्री अरविन्द के शब्दों में देखिये

---

१ श्री भारत-धर्म-महामण्डल के एक महात्मा ने भारतीय संस्कृति के सोलह मूलाधार माने हैं

(१) धर्मानुकूल शारीरिक (व्यापार रूपी), सदाचार,
(२) सद्विचार,
(३) वर्ण-धर्म,
(४) आर्य नारियों में सतीत्व का प्राधान्य,
(५) आश्रम धर्म,
(६) दैव जगत पर विश्वास,
(७) देवताओं के अवतार पर विश्वास,
(८) हिन्दू धर्म की उपासना पद्धति पर विश्वास, (योग मूलक और भक्ति मूलक)
(९) सर्वव्यापी भगवान की उपासना,
(१०) शुद्धाशुद्ध एवं स्पर्शास्पर्श विवेक,
(११) यज्ञ, महायज्ञों पर विश्वास,
(१२) वेद, स्मृति, पुराण आदि पर विश्वास,
(१३) कर्म पर विश्वास,
(१४) पुनर्जन्म पर विश्वास,
(१५) निर्गुण एवं सगुण उपासना विधियों पर विश्वास तथा
(१६) जीव की कैवल्य प्राप्ति।

"संस्कृति अपने साधारणत समझे जाने वाले अर्थों मे मार्गदर्शक ज्योति नही हो सकती और न यह हमारे समस्त जीवन और कर्म के नियामक एव समन्वयकारी सिद्धान्त का पता ही पा सकती है। संस्कृति को अगर भगवान की प्राप्ति करनी है, तो उसे आध्यात्मिक संस्कृति बनना होगा। बौद्धिक सौन्दर्योपासक नैतिक एव व्यावहारिक शिक्षण की अपेक्षा अधिक उच्च कोटि की वस्तु बनना होगा इस प्रकार आदर्श व्यक्ति तथा आदर्श समाज का विकास करने और मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को भगवान से ऊँचा उठा ले जाने का ठीक मार्ग यही प्रतीत होगा कि समस्त जीवन को धर्ममय बनाकर सब कार्य धार्मिक भावना के अनुसार चलाये जाये।[1] धर्म का अर्थ रूढ़िवादिता से नही वरन् आध्यात्मिकता के पर्यायवाची रूप मे लिया गया है।

भारतीय-संस्कृति की तुलना अश्वत्थ वृक्ष से की गई है, जिसकी नीव स्वर्ग मे है, और शाखाएँ पृथ्वी की ओर हैं। क्योंकि उसी प्रकार भारतीय-संस्कृति भी आध्यात्मिकता के द्वारा (जिसके लिए पुरुषार्थ बाहर से प्राप्त होता है) जीवन के अन्तरिक्ष को भेदकर उसके अनन्त रहस्यों को जानने के लिए प्रयत्नशील रही है।

इतिहास के विगत पृष्ठो को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि समयानुसार भारतीय-संस्कृति मे परिवर्तन होते गये। हम भारतीय-संस्कृति को सकुचित दृष्टि से नही देख सकते है, क्योंकि वह मानव संस्कृति है। उस समय जब भारतीय-समाज के क्षितिज पर सकटो के बादल मडरा रहे थे, जनता का जीवन विषाद और शोषण की व्यापक गाथा बन रही थी, तब भी भारतीय-संस्कृति का प्रभाव इस्लाम पर पडा और नवीन आदर्श हमारे सम्मुख आये। अपनी सहिष्णुता के कारण ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी सभी प्रकार के मत चले और फले-फूले परन्तु, अधिक प्रबल और सघर्षमय विरोध कभी भी नही हुये। भारतवर्ष के इतिहास मे जब कभी कट्टरता और कटुता की भावना के दर्शन हुए, वह युग सास्कृतिक ह्रास का समय था। प्राय. यह सास्कृतिक ह्रास आक्रमणकारियो की कटुता और कठोरता के फलस्वरूप भी समुपस्थित हो जाता था। भारतीय-जीवन मे उदारता की भावना प्रमुख रही है। उपनिषदो मे लिखा है कि

एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

भारतीय-संस्कृति की मुख्य विशेषता रही है सामजस्य की भावना। इसी कारण कभी भी हमारी संस्कृति मे उच्छृङ्खलता नही आ सकी। मध्य-युग मे जब कि इस्लाम की पताका चारो ओर फहरा रही थी, शासक-वर्ग हिन्दुओं को घृणा की दृष्टि से देख रहे थे, उस समय भी भारतीय-संस्कृति ने अपनी आधारशिला को सुरक्षित रखते हुये इस्लाम को भी अपने मे मिला लिया और उनकी सभ्यता को भी स्थान दिया गया। विचारको द्वारा भक्ति, ज्ञान और कर्म का पूर्ण समन्वय स्थापित किया गया। 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' का सामञ्जस्य किया गया।

---

१ भारतीय संस्कृति, मोहनलाल विद्यार्थी प्रथम भाग, पृष्ठ २२

मध्य-काल मे हिन्दू और इस्लामी-संस्कृतियो का सामञ्जस्य किस सीमा तक हुआ, इस विषय मे विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत है।[१] कुछ विद्वान इस पक्ष मे हैं कि नवीन संस्कृति का हिन्दू-धर्म पर मौलिक प्रभाव पड़ा और कुछ लोगो की यह धारणा है कि हिन्दू धर्म ने इस्लाम से बहुत अधिक नही लिया, वरन् उसके विपरीत उसने इस्लाम पर अपनी छाप लगा दी। ई० बी० हैवेल के शब्दो मे :

"इस्लाम ने भारत के राजनैतिक केन्द्रो पर अधिकार कर लिया, उसकी सेनाओ को नियन्त्रित किया, किन्तु फिर भी उसने अपनी सबसे प्रिय वस्तु मानसिक साम्राज्य को हाथ से नही जाने दिया और उसकी आत्मा ने कभी घुटने नही टेके।" उसने यह भी लिखा है कि वीर क्षत्राणी फिरोज की माता की भाँति भारत ने अपने शरीर को विजेताओ के अर्पण कर दिया, जिससे उसके गर्भ से एक नया इस्लाम जन्म ले सके। वास्तव मे उसने जो कुछ युद्ध-क्षेत्र मे खो दिया था उसे अपने आध्यात्मिक अस्त्रो द्वारा पुनः प्राप्त कर लिया।

इन दो सांस्कृतिक धाराओ का मिलन हमे कला, स्थापत्य, धर्म एवं साहित्य मे देखने को मिलता है। यह संस्कृति न शुद्ध हिन्दू है और न शुद्ध मुस्लिम, अपितु उन दोनो का सुन्दर समन्वय है। कला किसी जाति की आत्मा का सच्चा दर्शन कराती है। मुगलो से पूर्व मुसलमानो ने हिन्दुओ की हर वस्तु को नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा की थी, परन्तु मुगलो ने उस संस्कृति को आत्मसात् किया। उसका संश्लेषण किया और उसे एक नवीन रूप मे ही प्रदान किया। इसका सबसे अधिक श्रेय[२] अकबर को

---

१ इस विषय मे प्रस्तुत ग्रन्थ के 'प्रथम परिच्छेद' 'सांस्कृतिक परिस्थितियां' मे सविस्तार विचार प्रकट किये गये है। विस्तार भय से यहाँ पुनरुक्ति नही की जा रही है।

2 "Akbar's artist looked back to no struggling primitives behind them but to the finished achievement supreme in this kind of the Iranianasters and his patronage, would have resulted in loss of value had it not been for the example and opportunities it gave for revivals of the indegenous schools of iranian art in local centres The Hindu element after his death came to infilterate more and more of the Moughal School, while outside the capitol, provincial Rajas encouraged artists, give push to ancient native traditions The whole Moughal School reflects Akbar's political aspirations, its aim is to fuse the Iranian, The Mohammadan with the Hindu Style"

Akbar—Page 76

—By Laurance Benyon

ही है। अकबर के बनवाये मकबरे, किले, सड़कें, पुल, मस्जिदें आदि सभी इस बात के प्रमाण हैं कि वह भारत, ईरान तथा अरब के सर्वोत्तम सिद्धान्तों, कलाओं एवं कृतियों में समन्वय स्थापित कर देना चाहता था।[1] जहाँगीर तथा शाहजहाँ भी शिल्पकला के क्षेत्र में सफल थे।

अहमदाबाद तथा बनारस के रमणाव पर मुसलमानों की रुचि का प्रभाव है। नगों के जड़ाव एवं कटाव पर दोनों ही संस्कृतियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस सांस्कृतिक समन्वय का प्रभाव चित्रकला पर भी पड़ा और ईरानी कला, भावों एवं कल्पनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने लगी। उसका श्रेय भारतीय-संस्कृति को ही है। राजपूत एवं मुगल दोनों की ही चित्र-कला पर इस समन्वय की छाप है।

जो कला 'मुगल-कलम' के नाम से विख्यात है, वह यथार्थ रूप में भारतीय चित्र-शैली पर ही आधारित थी। अकबर से पूर्व मुगलों की राजसभा में ईरानी चित्रशैली प्रचलित थी। कारण कि शेरशाह से पराजित होने के पश्चात् हुमायूँ भागकर ईरान के बादशाह की शरण में गया था और दस वर्ष तक वह उसका अतिथि बनकर वहाँ रहा था, वहीं पर हुमायूँ ने ईरानी चित्रकला की ओर ध्यान दिया और भारत में पुन. राज्य प्राप्ति के पश्चात् उसने ईरान के दो चित्रकारों, मीर सईद अली और अब्द-अल-समद को भारत बुलाया। इन दोनों चित्रकारों ने ईरानी शैली का प्रचार भारत में किया। ये ईरानी चित्र मुगलों की तूलिका के चित्र न थे, कारण कि मुगलों की तूलिका तो शुद्ध भारतीय थी। जिसके जन्म का श्रेय अकबर ऐसे सहृदय एवं भारतीय-कला प्रेमी सम्राट को मिलता है। अकबरी चित्रों के अधिकांश चित्र भारतीय एवं प्राचीन ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध है। अकबर के चित्रकारों में कुछ को छोड़ कर सब भारतीय चित्रकार ही थे।

१५वी शताब्दी में ईरानी चित्रकला ने तैमूर वंशीय राजाओं के आश्रय में खूब उन्नति की। अकबर ने भी बेहजाद[2] के शिष्यों को भारत बुलाया और उन्ही कलाकारों ने भारतीय-कला का मिश्रण कर मुगल-चित्रकला का प्रारम्भ किया। अकबर के काल में वपन किये हुये बीज जहाँगीर के काल में पुष्पित एवं पल्लवित हुए और मुगल कुतुबखाना चित्रों का आगार बन गया। जहाँगीर में अकबर जैसी मर्मज्ञता नही थी, फिर भी प्रकृति प्रेमी होने के कारण उसके युग के चित्रों में प्रकृति निरीक्षण उच्च कोटि का है। शाहजहा के काल में भी उच्च कोटि के चित्रकार एवं कलाकार थे और ये सब शाही शान का अंग बन चुके थे।

औरंगजेब के काल में कला का अन्त हो गया। धार्मिक कट्टरता के कारण उसके

---

१ विशेष विवरण के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का "सांस्कृतिक परिस्थितियाँ" प्रथम परिच्छेद में देखिये।

२ बाबर ने अपनी आत्मकथा में 'बेहजाद' को संसार का सबसे बड़ा चित्रकार बताया है।

नेत्र ही बन्द हो गये थे। उसने कला के प्रति उपेक्षा भाव प्रदर्शित किये, जिससे कलाकार दिल्ली छोडकर इधर-उधर जाने पर विवश हो गये। मुगल-कला का उद्भव, विकास और ह्रास केवल दो सौ (२००) वर्षो मे ही पूरा हो गया। धर्म एव साधना के क्षेत्र मे सास्कृतिक सम्पर्क का प्रथम प्रभाव निर्गुण सन्त-कवियो के काव्य मे दृष्टिगत होता है। इन सन्तो ने समाज, धर्म, सभ्यता एव सस्कृतिगत समस्त भेदो को मिटाकर नये आदर्शो की स्थापना की। इन नये आदर्शो के वटवृक्ष रूपी छाया मे बैठकर हिन्दू एव मुसलमान दोनो जातियो ने भेदभाव, सताप और विनाशकारी प्रभाव को पूर्णतया विसार दिया। समाज एव धर्म के ठेकेदारो ने विष के जिन बीजो का वपन करके, प्रतिकार, प्रतिहिंसा एव प्रतिशोध की जो होली दग्ध की थी, उसे पूर्ण रूप से शीतल कर देने का श्रेय सन्तो को ही है। उन्होने जीवन के लिये उपयोगी तत्वो एव मनोवृत्तियो का उपदेश दिया। इस प्रकार के सन्तो मे कबीरदास, रैदास, नानक, दादू दयाल, मलूकदास, सुन्दरदास, धरनीदास, जगजीवन साहब, यारी साहब, दरिया दूवै, दूलनदास, बुल्ला साहब, चरनदास, बुल्लेशाह, सहजोबाई, दयाबाई, गरीबदास, भीखा साहब, पलटू साहब और तुलसी साहब प्रमुख है। इनमे हिन्दू मुसलमान, अन्त्यज कुलीन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र भी थे। इन्होने जीवन के एक ऐसे भव्य रूप को जनता के समक्ष समुपस्थित किया जो बडा स्पृहणीय, बडा मनोरम, बडा चित्ताकर्षक और बडा सुरम्य था। इसमे हिन्दू एव मुसलमानो के सस्कृति का समन्वित रूप अभिव्यक्त हुआ। इस सस्कृति मे कोई विषमता नही थी। इस सस्कृति मे औदार्य, सद्भावना, सहनशीलता, और सौहार्द्र की प्रधानता थी। निर्गुण सन्त-कवियो के उपदेशो मे सूफीमत के कई तत्व थे। सन्तो के समान ही सूफी कवि भी समन्वित सस्कृति के भव्य रूप के प्रतिपादक थे। पवित्र सूफी काव्य-धारा के प्रवाह मे योगदान देने वालो मे हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। इन कवियो ने 'सत्य पीर की कथा' को लेकर जीवन की कोमल भावनाओ और उज्ज्वल पक्ष को जनता के समक्ष समुपस्थित किया। इन्होने हिन्दू-जीवन की कथाओ को लेकर मसनवी शैली मे व्यक्त किया और अपने साहित्य एव विचारधाराओ के द्वारा समस्त विषमताओ को दूर करने का प्रयत्न किया। इन्होने विषमताओ से भरे जीवन को एक नई दिशा की ओर मोड दिया, जहाँ न कटुता थी न विषमता थी, न सघर्ष था न वैमनस्य था और न उच्छृङ्खलता थी। ऐसे मुसलमान सूफी-कवियो मे उल्लेखनीय थे कुतुबन, मझन, जायसी, उसमान, आलम, नूरमुहम्मद, कासिम शाह, ख्वाजा अहमद, शेख रहीम, कवि नसीर आदि। इन मुसलमान सूफी-कवियो की भाँति ही कुछ उदारचेता मनस्वी हिन्दू सूफी-कवि हुए जिन्होंने जाति वर्ण की समस्त भावनाओ का परित्याग करके सद्भावना का बीज बोया। इस कोटि के कवियो मे दुखहरनदास, सेवाराम, जीवनलाल नागर, जनकुज, कोटा नरेश कुवर मुकुन्द सिंह का उल्लेख विशेष समादर के साथ होना चाहिये। इन कवियो ने मलिक मुहम्मद जायसी की शैली, विचारधारा

तथा भाषादर्श का अनुसरण किया और हिन्दुओ तथा मुसलमानो के मध्यस्थ कटुता को सदैव के लिये समाप्त करने का प्रयत्न किया।

हिन्दू एव मुसलमान-धर्म के एक दूसरे से प्रभावित होने पर सत्यपीर नामक देवता की पूजा प्रचलित हो गई, जिसे हिन्दू एव मुसलमान समान दृष्टि से पूज्य मानते थे। अकबर से पूर्व मुस्लिम शासको ने धर्म के क्षेत्र मे सास्कृतिक-सामञ्जस्य की ओर अधिक ध्यान न दिया। मुख्यत धर्म के क्षेत्र मे सास्कृतिक-सामजस्य का कार्य सन्त विचारको ने ही किया। इस कारण सामञ्जस्य केन्द्र से अधिक प्रान्तो मे हुआ। विभिन्न प्रान्तो के राजाओ मे भी कई ऐसे थे, जिन्होने हिन्दू धर्म एव हिन्दू सन्तो का बडा सम्मान किया।

बाबर से लेकर शाहजहाँ तक यह धार्मिक सामञ्जस्य या सहिष्णुता का भाव तीव्र गति से अनवरत प्रवाहित होता रहा, जिसके फलस्वरूप सभी धर्मो मे शाति बनी रही। परन्तु औरगजेब की कट्टरता ने इस परम्परा को भग कर दिया। उसके युग मे धार्मिक सहिष्णुता पर गहरे आघात किये गये। इतिहास के पृष्ठो पर धर्म के नाम पर होने वाले रक्तपातो के छीटें पड गये, जो कभी भी धुल नही सकते है।

परन्तु फिर भी हम यह देखते है कि मध्य-युग साहित्य तथा शिक्षा के क्षेत्र मे निर्माणकारी युग था, जिसके परिणाम मुगलकाल मे एकत्र किये गये थे। मुगलो ने धार्मिक सहिष्णुता की विवेकपूर्ण नीति को अपनाया। बाबर ने अपने प्रिय पुत्र हुमायूँ को जो वसीयतनामा दिया था, उसके कुछ अश को देखिये 'ऐ मेरे बेटे! भारत मे भिन्न-भिन्न एव विपरीत धर्मो के मानने वाले लोग है। ईश्वर को धन्यवाद है कि बादशाहो के बादशाह ने तेरे हाथ मे इस देश का शासन सौंपा है, इसलिये तेरे लिये यह उचित होगा :

(१) तू अपने मस्तिष्क को धार्मिक पक्षपात से कभी प्रभावित न होने देना और इस देश के सभी विचारो के लोगो की धार्मिक प्रथाओ एव योग्यताओ का उचित सम्मान करते हुए निष्पक्ष न्याय करना।

(२) विशेषत गोवध से अपने को दूर रखना।

(३) किसी भी सम्प्रदाय के पूजापाठ के स्थानो को कभी भी नष्ट मत करना।[१]

इतिहास हमे यह स्पष्ट रूप से बता देता है कि हुमायूँ ने सतर्कतापूर्वक इस नीति का अनुकरण भी किया, और कालिंजर का हिन्दू राजा प्रथम बार साम्राज्य का एक सामन्त बनाया गया। अकबर के समय मे तो इस नीति का अक्षरश पालन किया गया।[२]

---

१ बाबर के इस वसीयतनामे की एक प्रतिलिपि भोपाल सरकार के राजकीय पुस्तकालय मे रखी है।

२ (अ) उदाहरणार्थ अकबर ने मनोहर, जयतराम, बीरबल, होलराय, टोडरमल, राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, नरहरि, गग तथा अन्य हिन्दू विद्वानो को सरक्षण दे रक्खा था।

(ब) मुकुन्द, महेश, जगन, हरिवस आदि हिन्दू चित्रकारो को भी सरक्षण दिया था।

संस्कृत के अनेकानेक ग्रन्थो के अनुवाद भी मुगल शासको द्वारा कराये गये। 'महाभारत' का अनुवाद नकीब खाँ, अब्दुल कादिर, हाजी, फैजी तथा अन्य विद्वानो ने मिलकर किया, हाजी इब्राहीम ने अथर्ववेद का, फैजी ने 'लीलावती' का, अब्दुल कादिर ने 'रामायण' का अनुवाद किया। फारसी छन्दो मे 'नल दमयन्ती' का भी अनुवाद हुआ।

आलम, जमाल, कादिर, मुबारक, रहीम जैसे कई मुसलमानो ने भी भारतीय विषयो पर अपनी पुस्तकें लिखी। इनमे सवसे प्रसिद्ध रहीम ही है। इन्होने हिन्दी भाषा मे ही अपनी कविता लिखी है। साथ ही यह फारसी, अरबी तथा सस्कृत के पूर्ण विद्वान थे।[1]

इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि मुसलमान भारत भूमि की सन्तान हो गये थे, परन्तु औरगजेब ने इस चक्र को विपरीत दिशा मे घुमा दिया, जिससे उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एव सास्कृतिक स्थिति को बहुत ही बडा धक्का लगा था। फिर भी हमारे निर्गुण सन्त कवियो ने इस स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया। उत्तर मे इसी की प्रतिक्रियास्वरूप सिक्ख-धर्म की उन्नति हो रही थी। इसके जन्मदाता गुरु नानक हुये। आपने अपनी तपस्या, भक्ति और ज्ञान के प्रभाव से हिन्दू-सस्कृति को एक ही धारा मे प्रवाहित होने दिया, और इस प्रवाह को रोकने वाले स्वय ही प्रवाह मे बह गये। उस समय की दशा का वर्णन स्वय गुरू ने इस प्रकार किया है

कलि काती राजे कसाई धर्म पखकर उडि रया।
कूड अमावस सच्च चन्द्रमा दीसे नही कहि चढिया॥

इस प्रकार उस समय की जो अवस्था थी उसको सुधारने का श्रेय निर्गुण सन्त-कवियो को ही जाता है। ज्ञानाश्रयी-शाखा के इन सन्त-कवियो ने हिन्दू एव मुस्लिम सस्कृतियो के सामञ्जस्य मे वहुत योगदान दिया है। सन्त कबीर की विचारधारा देखिये ·

हिन्दू कहूँ तो है नहीं,
मुसलमान भी नाहिं॥
पाच तत्व का पूतला,
गैबी खेलै माहिं॥

गुरू नानक ने भी इसी विचार को पुष्टि की है .

बन्दे एक खुदाय है, हिन्दू मुसलमान।
दावा राम रसूल कर, लडदे बेईमान॥

---

१ विशेष विवरण के लिये देखिये इस ग्रन्थ का "सास्कृतिक परिस्थितियाँ" परिच्छेद।

अन्त में हम यही कहेंगे कि मध्य-युग में दोनों ही संस्कृतियों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा है। डा० तारा चन्द के मतानुसार "हिन्दू-धर्म, हिन्दू-कला, हिन्दू-साहित्य तथा हिन्दू-विज्ञान ने ही इस्लामी तत्वों को आत्मसात् नहीं किया, बल्कि हिन्दू-संस्कृति की आत्मा तथा हिन्दू मस्तिष्क के मूल तत्व में ही परिवर्तन हो गया और दूसरी ओर मुसलमानों ने जीवन के सभी क्षेत्रों में हिन्दुओं का प्रभाव स्वीकार कर लिया।"[१]

---

1 Dr. Tara Chand—
' Influence of Islam on Indian Culture "—Page 137
"Not only did Hindu religion, Hindu art, Hindu Literature and Hindu Science absorb Muslim elements, but the very spirit of Hindu culture and the very stuff of Hindu mind were also altered, and the Muslim reciprocated by responding to the change in every department of life "

संत-काव्य में लोक-संस्कृति

सन्त-काव्य मे लोक-सस्कृति का स्वरूप क्या है, इससे पूर्व 'सस्कृति' से क्या अभिप्राय है यह जान लेना अधिक समीचीन होगा। 'सस्कृति' का कोपार्थ 'सम्यक् कृति' है। परन्तु इस शब्द का एक और तर्कसगत अर्थ निकलता है और वह है 'सभूय कृति'। दोनो ही अर्थ उचित है। मानव को व्यक्तिशः 'सम्यक् कृति' मे सलग्न और सघश. 'सभूयकृति' मे अनुरक्त रहना चाहिए। इससे सस्कृति विकासोन्मुख होती है। मानव जीवन के दो पक्ष होते है—एक व्यक्तिगत और दूसरा समाजगत, दोनो पक्षो का ध्येय 'सम्यक्कृति' की ओर होना वाछनीय है। 'सस्कार' और सस्कृति' दोनो मे अभिन्न सम्बन्ध है। क्योकि सस्कृति का मुख्य ध्येय, विभिन्न सस्कारो द्वारा व्यक्ति की प्रतिभा और योग्यता का पूर्ण विकास करना है। कर्तव्यो के प्रति वैयक्तिक एव सामाजिक जागरूकता के कारण सस्कृति मे प्राञ्जलता आती है। कृतज्ञता-परिपालन से सम्कृति मे मधुरिमा का परिवर्द्धन होता है। सवकी सस्कृति एक ही हो ऐसा नही है। गुण, प्रभाव, प्रतिभा, आचार-विचार की दृष्टि से प्रत्येक सस्कृति मे अपनी न्यारी छाप होती है।

'सस्कृति' और 'सम्यता' के अन्तर को भी समझ लेना औचित्यपूर्ण है, जिसे आँग्ल भापा मे 'कल्चर' कहते है वह सस्कृति है, तथा जिसे 'सिविलाइजेशन' कहते हैं, वह सम्यता है। स्वरूप एव गुणादि की दृष्टि से दोनो मे पर्याप्त अन्तर है। पद्धति, रीति-रिवाज, व्यवहार, सस्कृति के अभिन्न अग हैं। सासारिक सुख एव ऐश्वर्य सम्यता के अन्तर्गत आते हैं। सस्कृति अन्त करण है और सम्यता शरीर। सस्कृति सम्यता द्वारा प्रकाश मे आती है। सस्कृति वह साचा जिसमे समाज के विचार ढलते हैं, मानव-जीवन की गूढतम समस्याओ से अवगत होने के लिए हमे सस्कृति का अध्ययन करना पडता है। 'सस्कृति' की उपादेयता भी कम नही है। वह सम्यता से अधिक मूल्यवान है। वह सम्यता के आवरण मे लिपटी हुई मूल्यवान धातु है, जिसका प्रकाश छुपाये नही छिपता। सस्कृति मे परिवर्तन होता है परन्तु उतनी शीघ्रता के

साथ नहीं जितनी शीघ्रता के साथ सभ्यता में हुआ करता है। नये सम्पर्क एवं अभियानों के फलस्वरूप संस्कृति में परिवर्तन होता है। संस्कृति को बुद्धिमान् करने में श्रम-विशेष की अपेक्षा होती है। परन्तु सभ्यता को जब चाहो तब ग्रहण किया जा सकता है। संस्कृति का अनुकरण दुस्तर होता है जबकि सभ्यता का अनुकरण सहज एवं सरल होता है। 'सभ्यता' का सम्बन्ध समाज से अधिक है। 'सभ्यता' शब्द का ही शाब्दिक अर्थ 'सभा में बैठने की योग्यता' है, संस्कृति समाज की आत्मा और प्राण-शक्ति होती है।

लोक-संस्कृति

'संस्कृति' की व्यापक स्थिति एवं स्वरूप की जानकारी के साथ-साथ संस्कृति की विशेषताओं तथा सभ्यता और संस्कृति के भेद-विभेदों एवं दोनों में दृष्टिगत होने वाले दूरत्व पर प्रकाश डालने के पश्चात् 'लोक-संस्कृति' का अध्ययन कर लेना उचित होगा। सर्वप्रथम 'लोक' शब्द विचारणीय है। विविध समय एवं काव्य ग्रन्थों में 'लोक' के विभिन्न अर्थ प्रचलित हुए हैं। उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग इहलोक एवं परलोक दो अर्थों में हुआ है। निरुक्त में लोक शब्द का प्रयोग पृथ्वी, अंतरिक्ष एवं द्युलोक के अर्थ में हुआ है। पौराणिक काल में लोक शब्द का प्रयोग भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक के अर्थ में हुआ। पौराणिक काल के अनन्तर इस शब्द का प्रयोग अतल, नितल, वितल, गभस्तिमान, तल, सुतल और पाताल के अर्थ में किया गया। आज इस शब्द का प्रयोग जन, जनता या सर्वसाधारण के अर्थ में हो रहा है। हिमालय की गोद में बसे हुए छोटे-छोटे जनपदों से लेकर कुमारी अन्तरीप तक प्रसारित व्यापक जनसमूह या मानव समाज-लोक है। भारतीय लोक-जीवन का इतिहास बड़ा प्राचीन और सुदीर्घ है। शताब्दियों से किया गया चिन्तन-कार्य, रहन-सहन एवं कर्तव्य, रीति-रिवाज एवं व्यवहार सभी इस लोक-जीवन के अभिन्न अंग हैं।

लोक-जीवन के प्रांगण में संस्कृति का विटप पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होता है। लोक जीवन एवं लोक-संस्कृति का चोली-दामन का साथ है। किसी भी राष्ट्र की संस्कृति या इतिहास के बहुमूल्य अंगों में से लोक-संस्कृति ही प्रमुख है। लोक-संस्कृति की पुण्य सरिता का प्रवाह अजस्र है। इसका स्रोत जीवन है, लोक-संस्कृति या लोक-राष्ट्र का इसे अमर रूप मानना चाहिए। लोकसंस्कृति के साथ लोक-इतिहास की गौरवमान घटनाओं और ज्वलन्त व्यक्तित्वों का विस्तृत इतिहास मानव-समाज के स्मृति-पटल पर सदैव सुरक्षित रहता है। लोक के सम्बन्ध में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का निम्नलिखित कथन पठनीय होगा। "हमारी कृषि अर्थशक्ति, ज्ञान, साहित्य, कला के नाना रूप, भाषाएँ और शब्दों के भण्डार, जीवन के आनन्दमय पर्वोत्सव, नृत्य, संगीत, कथा-वार्ताएँ, आचार-विचार सभी कुछ भारतीय लोक में ओतप्रोत है।" लोक की पुण्य-सलिला भागीरथी युग-युग से बह रही है, उसके

ओजस्वी प्रवाह मे हमारी सस्कृति के मेघदल पूर्व-युगो मे बरसते रहे हैं, सस्कृति सरस रहे है और आगे भी उनकी सहस्र धाराये लोक-जीवन की भावभूमि को आप्लावित करती रहेगी। लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमे भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ सचित रहता है। लोक ही राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक का कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन मे सब शास्त्रो का पर्यवसान है, अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूत माता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव, यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्वाण का नवीन रूप है। लोक पृथ्वी, मानव इसी त्रिलोकी मे जीवन का कल्याणतम रूप है। लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नही है। इसे एक और नया शास्त्र बनाकर नही टाला जा सकता है। लोक-स्वरूप के बिना सब शास्त्र अपूर्ण है। लोक का अमृत निर्यास जिस शास्त्र मे नही उतरता होता है, वह कितना भी पाण्डित्याढ्य हो, निष्प्राण रहता है।

लोक समस्त प्रकार के ज्ञान का स्रोत है। लोक-हित, लोक-भावना, लोक-ध्वनि और लोक-चिन्तन की भावना से विहीन कला या साहित्य बुद्धि-चमत्कार या कला-कौशल का प्रसारमात्र है। साहित्य या कला वही सराहनीय है जो लोक-जीवन को सींच सके, उसे पल्लवित एव पुष्पित होने मे सहायता प्रदान कर सके तथा मानवता के विकास मे योगदान दे सके। लोक-सस्कृति के उपवन मे वही साहित्यकार या कलाकार सफल सिद्ध हो सकता है जो परिवर्तनशील तथा नया सर्वजनोपकारक, दृष्टिकोण को अपनाता हो। वेदव्यास ने अपनी शत साहस्री सहिता मे एक स्थान पर लिखा है कि—

"प्रत्यक्षदर्शी लोकाना सर्वदर्शी भवेन्नर

अर्थात् जो व्यक्ति लोक को स्वत अपने चक्षुओ से देखता है, वही उसे सम्यक रूप से देखता है। तत्व की बात यह है कि प्रत्यक्ष दर्शन ही समस्त दर्शन का रहस्य है। यह सभी साहित्य एव कलाओ के लिए अपेक्षित है। लोक अनेकानेक प्रकार मे हमारे चारो ओर प्रसारित है, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण मे उल्लेख हुआ है —

वहु व्याहितो वा अय वहुशो लोक ।
क एतद् अस्य पुनरीहितो अयात ॥

जै० उ० ब्रा० ३।२८

लोक-सस्कृति का पल्लवन नगरो की अपेक्षा ग्रामो मे ही विशेष हुआ है। किसी भी देश की स्थिति उस देश के लोक पर निर्भर होती है। लोक-सस्कृति के सच्चे रक्षक और प्रतिष्ठापक वे ग्रामीण होते है जो सभ्यता के प्रतीक और कृत्रिमता के केन्द्र शहरो से दूर, बहुत दूर प्रकृति की शरण मे पले हुए देहातो मे निवास करते है। ये ही भारतीय लोक-सस्कृति के जीवित एव जाग्रत प्रहरी है।

समन्वय का माध्यम

लोक-संस्कृति, समन्वय का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। विरोधी एवं विभिन्न धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारधाराओं की समन्वयकारी शक्ति यही लोक संस्कृति हुआ करती है। भारत की लोक-संस्कृति ने जो भी विदेशी एवं अवैदिक शक, मग, पारसीक, यवन, अंग्रेज आये उन्हें हर प्रकार से अपना लिया। भारतीय संस्कृति को अनेक बार भीषण संघर्षों और दुर्धर्ष आक्रमणों का सामना करना पड़ा कभी वह संकट में पड़ी और कभी विनाशप्राय स्थिति में पड़ गयी, परन्तु फिर भी देश की लोक संस्कृति इन परिस्थिति से दूर रही। संक्षेप में लोक-संस्कृति में प्राणद शक्ति एवं समन्वय के अनन्त स्रोत हैं। लोक-संस्कृति के दस मूल तत्व माने गये हैं—

१ भिन्नता में एकता।
२. बाह्यरूप में परिवर्तन, परन्तु तात्विक स्थिरता।
३ मानवता एवं सहिष्णुता।
४ प्रकृति से अभिन्न सम्बन्ध।
५ सत्य परिपालन।
६ विद्या और कला की उन्नति।
७ आध्यात्मिक विज्ञान।
८ तत्वज्ञों का समय-समय पर आविर्भाव।
९ ज्ञान की पिपासा।
१०. प्रजा-पालक शासन।

लोक-साहित्य

लोक-साहित्य लोक-संस्कृति का अभिन्न अंग है। साधारणतः साहित्य की दो कोटियाँ होती हैं। प्रथम कोटि का साहित्य वह है, जिसकी रचना शिष्ट समुदाय के लिए होती है। यह कलात्मक, बुद्धि के चमत्कार से युक्त और अभिव्यंजना तथा कला की शोभा से मिश्रित साहित्य होता है। उसका हेतु होता है शिक्षित समुदाय। द्वितीय कोटि का साहित्य लोक-साहित्य है। इसका केन्द्र-बिन्दु जनता या लोक होता है। इसकी रचना बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय होती है। सादगी एवं सरलता से युक्त यह साहित्य जनता के धरातल पर सदैव प्रवाहित रहता है। इस साहित्य की विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

१ भावुकता
२ कोमलता
३. उदारता
४. अकृत्रिमता

एक ही भगवान् राम की कथा को लेकर दो महाकवियों—गो० तुलसीदास तथा आचार्य केशवदास ने काव्य की रचना की। परन्तु 'रामचरितमानस लोक-साहित्य का

आदर्श बन गया और 'रामचन्द्रिका' प्रथम कोटि के साहित्य मे परिगणित होती है। सन्तो का साहित्य लोक-साहित्य है।

सन्तो के काव्य का केन्द्रविन्दु या हेतु समाज, जनसाधारण या लोक है। मानव जीवन के धार्मिक एव सामाजिक पक्षो पर सन्त-साहित्य मे व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। किसी भी देश के सन्त-साहित्य पर दृष्टिपात करने से विदित हो जाता है कि सन्तो के काव्य का विषय जनसाधारण रहा है। क्योंकि जनसाधारण ही लोक का प्राण और सर्वस्व माना जाता है। सन्तो के साहित्य का वर्ण्य विषय दो भागो मे विभाजित है।

(क) आध्यात्मिक १—क्रियात्मक इसका वर्ण्य विषय निराकार ब्रह्म, नाम स्मरण, भक्ति, विरह, पातिव्रत्य, प्रेम, विश्वास, सत्सग, उपदेश, शील, क्षमा, दया, तप, त्याग, सन्तोष, धीरज, दीनता, विवेक और गुरुदेव हैं।

२—आलोचनात्मक—इसका वर्ण्य विषय क्रोध, काम, मोह, माया, मान, कपट, कनक, कामिनी, नशा, मिथ्याहार, तीर्थव्रत, दुर्जन तथा कुसग आदि हैं।

(ख) सामाजिक १—क्रियात्मक . समदृष्टि, समता, उदारता, एकता, विश्व-बन्धुत्व, सच्चरित्रता।

२—आलोचनात्मक जाति पाँति, वाह्याचार, भेद-भाव, चेतावनी।

केन्द्रविन्दु—जनसाधारण

इस समस्त वर्ण्य-विषय का केन्द्रविन्दु जनसाधारण है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सन्तो के काव्य का हेतु मानव-समाज का वह व्यक्ति है, जो युग-युग से शोषित और उपेक्षित है। वह नयी सभ्यता और कृत्रिमता से दूर जनपदो मे सादगी का जीवन व्यतीत कर रहा है। वह सरलता और सादगी मे अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखता है। ऐसे मनुष्य को साहित्य का हेतु बनाकर सन्तो ने अपने काव्य साहित्य की रचना की।

सन्तो का काव्य लोक के उस बहुत बडे अश के लिए लिखा गया है, जो पण्डित-पण्डा, मुल्ला मौलवी द्वारा चिरकाल से अज्ञान के कारण शोपित है। समाज ने उसे अन्त्यज, अस्पृश्य, अछूत और सस्कारविहीन कहकर उसके लिए ज्ञान के प्रकाश से आलोकित भवन 'पाठशालाओ' के द्वार और साधना के मार्ग अवरुद्ध कर रखे हैं। सतो ने लोक के इस भारी समूह के लिए काव्य की रचना की। सन्तो के इस साहित्य मे प्रबोध और जाग्रति की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। सन्त-साहित्य का अपना निजी स्थान है। इस साहित्य ने १३वी शताब्दी से १८ वी शताब्दी तक भारतीय जनता को ज्ञान, ऐक्य, सद्भावना, औदार्य और विश्वबन्धुत्व का पाठ पढाया और इस प्रकार तत्कालीन कुव्यवस्था, भेद-भाव, असहिष्णुता आदि को दूर करने या उसके प्रभाव को कम करने मे बडा योग प्रदान किया।

लोक-सस्कृति—दर्पण

सन्तो का साहित्य जीवन का प्रतीक और पर्याय है, जीवन को गतिशीलता प्रदान

करने की सन्त-साहित्य में असीम सामर्थ्य है। सन्त-साहित्य में उस साधना को वाञ्छनीय बताया गया है, जिसका सम्पर्क न तो योगकों से है और न विनाशकारी तत्वों से ही। मानवता का सच्चा पथप्रदर्शन सन्त-साहित्य से प्राप्त होता है। गर्हित जीवन को कल्याण-मार्ग पर अग्रसर करने के लिए इस साहित्य में अदम्य शक्ति है। माया, वासना, भेदभाव और तत्वों में मग्न रहने वाले प्राणियों को झकझोर करके चेतनशील और जाग्रत करने की पूर्ण सामर्थ्य इस साहित्य में विद्यमान है। इस साहित्य की उपयोगिता सर्वयुगीन है। इसका महत्व शाश्वत एवं अजस्र है, क्योंकि इसकी छोटी से छोटी वाणी में जीवन की पुकार और कर्तव्य की महानता अन्तर्निहित है।

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय ॥

पढ़कर कौन प्रभावित हुए बिना न रहेगा।

सन्तों का साहित्य मध्ययुगीन लोक संस्कृति का सच्चा दर्पण है। 'साहित्य समाज का दर्पण होता है' यह उक्ति संत-साहित्य के लिए बहुत ही उपयुक्त और सही है। सन्त-साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालने पर, मध्ययुगीन समाज की गति-विधि, रीति-नीति, आदान-प्रदान, विश्वास-आस्था, साधना और उपासना, प्रेय और श्रेय, दायित्व-निर्वाह और उपेक्षा आदि विषय में ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस साहित्य के अवलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मध्ययुग में सर्वत्र असमानता व्याप्त थी, असमानता का अभिशाप उपलब्धि और वितरण में समान रूप से दुःखदायी था। साधना कितनी विकृत हो गई थी, मानवता का कितना पतन हो गया था, समाज कितना भ्रष्ट हो गया था और जीवन कितना नीरस था यह इस साहित्य से भलीभाँति प्रकट हो जाता है। संत कवियों ने अपने समाज की सभी प्रचलित दुर्वृत्तियों का अनावरण किया तथा लोगों को सावधान रहने का संकेत प्रदान किया। इस अर्थ में संत कवि अपने युग के जाग्रत प्रहरी और चेतन कलाकार थे।

जनसाधारण का पथ-प्रदीप

सन्तकाव्य के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण बात यह है कि इन उदारचेता मनस्वियों ने हिन्दी के वीरगाथाकालीन कवियों की खुशामदी, जुझाने वाली और संघर्ष समुत्पन्न करने वाली परम्पराओं को तिलाञ्जलि देकर ऐसे विषय को ग्रहण किया जिसका सम्बन्ध जनता और लोक से था। सन्तों ने जीवन का सर्वाङ्गीण विश्लेषण किया है। उन्होंने जीवन के सभी पक्षों को लिया। एक मनुष्य के सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक कर्तव्य क्या हैं, आदर्श मनुष्य का स्वरूप क्या है, आदर्श साधक को कैसा होना चाहिए, जीवन का प्रेय और श्रेय क्या है, मानव मानव में क्या सम्बन्ध है, चरित्र और रहनी की क्या परिभाषा है, इन पक्षों पर सन्तों ने पर्याप्त विस्तार के साथ विचार प्रकट किया। सच बात यह है कि दरबारी कवियों

की भाँति इन्होने अपनी प्रतिभा का विकास और प्रसार लक्षणग्रन्थों, नायिकाभेद, अलकार, वाद तथा शब्दों की कलावाजी तक ही नही सीमित रखा, वरन् इन्होंने लोक-जीवन या जन-जीवन को समुन्नत बनाने के लिए हर प्रकार से प्रयत्न किया और आगे चलकर रास्ता दिखाया। इनके काव्य मे तुलसीदास जैसी प्रवन्ध-पटुता, सूर जैसा माधुर्य, केशवदास जैसा आचार्यत्व, मतिराम और विहारी जैसा प्रेम और रोमास नन्ददास जैसा शब्द-सञ्चय, देव का-सा लालित्य नही है, फिर भी इनके काव्य मे व्यक्त लोक तत्व, लोक-हितैषी भावना, लोक-कल्याणकारी स्वर ने इनके साहित्य को तेरहवी शताब्दी से लेकर आज तक जीवन, लोक-प्रियता और स्थायित्व प्रदान किया है। सतो का साहित्य मार्ग या राजपथ पर लगे 'लैम्प पोस्ट' के समान है जो धनी-निर्धन, बालक-वृद्ध, कुलीन और अन्त्यज सभी का मार्ग आलोकित करता रहता है, सभी को उनके गतव्य की ओर इगित करता रहता है।

लोकभाषा के पोषक

सन्तो ने अपने काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम लोकभाषाको बनाया है। सस्कृत मे रचना करना उन्हे अभिप्रेत न लगा, क्योकि उनकी दृष्टि जनसाधारण पर केन्द्रित थी, लोकभाषा की उपयोगिता का जो स्वर सम्वत् १६३१ मे गो० तुलसीदास के कठ से "का भाखा, का सस्कृत, प्रेम चाहिए साच। काम जो आवै कामरी का लै करै कमाच" के रूप मे प्रस्फुटित हुआ था वह वहुत पहले कवीरदास के शब्दो मे इस प्रकार व्यक्त हुआ था—'सस्कीरति है कूपजल, भाषा वहता नीर।' युग-युग मे सस्कृत, अरवी और फारसी मे भावाभिव्यक्ति के आदर्श मे क्रान्ति उपस्थित करके सन्तो ने लोक-भाषा मे लोकहित की भावना को चेतावनियो और उपदेशो के रूप मे अभिव्यक्त किया था। सन्त कवि मनोविज्ञान के कुशल पारखी थे, वे जानते थे कि जन-शोषक मुल्लाओ तथा ब्राह्मणो की पैतृक एव परम्परागत भाषाओ मे व्यक्त भावो का न प्रसार होगा न समादर, इसीलिए लोकधर्म का प्रचार उन्होने जनता की भाषा मे किया।

सन्तो ने जनसाधारण के जीवन से सम्बद्ध उपादानो को अपने काव्य मे प्रश्रय दिया। सन्तो की अप्रस्तुत योजना लोक-तत्वो या लोक-सस्कृति के वहुत सन्निकट है। उनकी प्रतीक योजना जन-जीवन से ग्रहण की गयी है। चरखा, सूप, झीनी चदरिया, साडी, कुम्हार, रगरेज, रहटा, व्याघ्र, मधुकर, कोठरी, चीर, पनिहारिन, वदरिया, ढोलनहार, ध्वजा, मछली, पछी, चोर, हाथी, पतग, दीपक, वेश्या, चन्दन, वनिया, वैद्य, दीपक, हसा, कहार, पूत, महतारी, सूरमा, कुआ आदि कुछ ऐसे शब्द है जो जन-जीवन या लोक-जीवन और भाषा से ग्रहण किये गये हैं, परन्तु फिर भी ये प्रतीको के रूप मे वेजोड सिद्ध होते है। इनके द्वारा जो शब्द-चित्र या भाव व्यक्त किये गये हैं, वे वडे ही प्रभावशाली और मनोरजक हैं। सन्त कवि रूपको के विधान मे वडे कुशल और चतुर थे। उनके रूपक और अन्योक्तियाँ लोक-तत्वो या लोक-सस्कृति के आधार पर नियोजित हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनकी अप्रस्तुत योजना

जितनी जन-जीवन के निकट है उतनी ही यथार्थ और प्रभावशाली है। कबीर की निम्नलिखित अप्रस्तुत योजना किसे प्रभावित नही करती है —

कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।
चन्दन काठ के बनल खटोलना,
तापर दुलहिन सूतल हो।
उठो री सखी मोरी मांग सँवारो,
दुलहा मोसे रूठल हो।
आये जमराज पलग चढि बैठे;
नैनन आसू टूटल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन,
चहुँ दिसि धू-धू ऊठल हो।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
जग से नाता छूटल हो॥

सन्तों की अप्रस्तुत योजना को स्पष्ट करने के लिए यहा पर एक और पद उद्धृत करना ठीक होगा। यह पद कबीर का है। इस पद की प्रतीक योजना और अप्रस्तुत विधान बडा मार्मिक है —

आइ गवनवां की सारी,
अजहूँ उमिरि मोरी बारी।
साज समाज पिया लै आए,
और कहरिया चारी।
बहना बेदरदी अचरा पकरि कै,
जोरत गँठिया हमारी।
बिधि गति वाम कछु समझ परत ना,
बैरी भई महतारी।
रोय-रोय अंखियां मोर पोछत,
घरवा से देत निकारी।
गवन कराय पिया लै चले,
इत उत बाट निहारी।
छूटत गांव नगर से नाता,
छूटत महल अटारी।
नदिया किनारे बलम मोर रसिया,
दीन्ह घुंघट पट टारी।
थर थर तन कांपन लागे,
काहू न देख हमारी।

कहै कबीर सुनो भाई साधो,
यह पद लेहु विचारी।
अबके गवना बहुरि नहि अवना,
करि ले भेंट अँकवारी।

भावुकता के गहन अम्बुधि मे डुबाने वाला यह पद मार्मिकता की दृष्टि से बेजोड़ है। सन्तो ने जो कुछ भी लिखा वह स्वानुभूतिमूलक रहा है। उनकी रचना 'सत्य-शिव और सुन्दरम्' की त्रिवेणी बन पड़ी है।

आगे के कवि रीझि हैं तो कविताई।
नहीं तो राधा कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

लेकर सन्तो की कला कभी नहीं चली। जन-हित सन्तो की कला का प्रमुख उद्देश्य रहा है। लौकिक और पारलौकिक हित की कामना—चाहना—सन्तो को ही शोभनीय हो सकती है।

उदात्त भावनाओ के कवि

सन्त लोकधर्म के प्रतिपादक थे। लोकधर्म की सस्थापना उनका मतव्य रहा है। धर्म के क्षेत्र में उन्होंने बहुत बडी क्रान्ति की। युग-युग से चली आने वाली, वाह्याचारो से आच्छादित, स्वार्थ से अभिशिप्त, वासनाओ से जकडी हुई और शोषण की जन्मदात्री धार्मिक परम्पराओ की सन्तों ने खुलकर निन्दा की। वे पण्डितो तथा मौलवियो द्वारा प्रतिपादित परम्पराओ और धार्मिक विश्वासो के कट्टु निन्दक थे। सन्तो का लोक-धर्म सकीर्ण नही प्रत्युत बहुत ही व्यापक किन्तु सहज रहा है। उसमे जनेऊ, माला, तसवीह, तिलक, चन्दन, तप, जप, तीर्थ, ध्वज तथा अन्य वाह्याचारो की कोई आवश्यकता नही है। सन्तो का व्यापक लोक-धर्म हृदय की उदात्त भावनाओ पर अवलम्बित है। कबीर के मत मे दया ही धर्म का मूल है —

जहाँ दया तहाँ धर्म है, जहाँ लोभ तहाँ पाप।
जहाँ क्रोध तहाँ काल है, जहाँ छिमा तहाँ आप॥

× × ×

दया धर्म हिरदे बसे, बोलै अमृत बैन।
तेई ऊँचे जानिये, जिनके नीचे नैन॥

सुन्दरदास ब्रह्म की सहज भक्ति को ही धर्म का साराश मानते हैं।

सुन्दर जिन पतिव्रत किये,
तिन कीये सब धर्म।
सकल सिरोमनि नाम है,
सब धरमन के माँहि।

अनन्य भक्त वह जानिये,
सुमिरन भूले नाहिं ।।

गरीबदास द्वारा प्रस्तुत 'धर्म' की परिभाषा भी कम महत्वपूर्ण नही है।

सील सतोप विवेक बुधि,
दया धर्म इक तार ।
बिन निहचै पायें नहीं,
साहिब का दीदार ।।
सील संतोप विवेक बुधि,
दया धर्म इकतार ।
अकल यकीन इमान रख,
गही वस्तु निज सार ।।

स्पष्ट है कि गरीबदास का लोक-धर्म शील, सन्तोप, विवेक, सद्बुद्धि, दया, ईमान, दृढमति पर ही आधारित है। संतो के व्यापक लोक-धर्म के आधार निम्नलिखित गुण या तत्व हैं —

(१) प्रेम (२) समदृष्टि (३) सेवाभाव (४) ससार और स्वार्थ से विरक्ति (५) सद्गुरुवन्दना (६) नाम (७) सत्य (८) अहिंसा (९) क्षमा, दया तथा औदार्य (१०) सहिष्णुता।

संतो का लोक-धर्म

संतो का लोक-धर्म मानव-धर्म का पर्याय है। संतो की दृष्टि मे ब्रह्म और निर्वाण, तीर्थ, व्रत, गगोदक मे नही है। वरन् सत्यता और सतनाम मे है। कबीर ने अनुभव के आधार पर कहा कि परम्परागत धर्म, पूजा, पाठ, नितात भ्रमाच्छादित है और वे पण्डित और मौलवी निरे माया के चेरे हैं —

तीरथ व्रत करि जग मुआ,
जूडे पानी न्हाय ।
सतनाम जाने बिना,
काल जुगन जुग खाय ।।
पण्डित और कसलियो,
दोनो सूझै नाहिं ।।
औरन को करे चांदनी
आप अधेरे माहिं ।।

तथा—

पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियनु का सा खेल ।
जब लगि पिउ परिचय नहीं, तब लगि संसय मेल ।।

कबीर ने सत्य ही कहा था कि—

जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं तहाँ न बुधि व्योहार।
प्रेम मगन जब मन भया, कौन गिने तिथि-वार ॥

प्रस्तुत विवेचन मे स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों की धर्म विषयक धारणा और परिभाषा बडी ही क्रांतिकारी और सरल है। सन्तों का धर्म, प्रेम, समदृष्टि और उदारता के आधार पर निर्मित सामान्य लोकधर्म है। इसके परिपालन के लिए न तीर्थाटन की आवश्यकता है, न व्रत करने की ही आवश्यकता है। जीवन को सहज, सरल और निर्मल बनाना इस लोक-धर्म का प्रयोजन है।

सन्तो की साधना अन्त शुचि पर बल देती है। उनकी साधना अन्तर-साधना है। सरल, सहज और बोधगम्य होने के कारण सन्तो की साधना का रूप लोकमय बन गया है। सन्तकवि दादू की निम्नलिखित पक्तियो मे अन्त साधना को सर्वोपरि सिद्ध किया गया है। लेखनी का जादू कितना हृदयस्पर्शी है। देखिए—

भाई रे घर ही मे घर पाया,
सहज समाइ रह्यो ता माहीं,
सत् गुरु खोज बताया।
ता घर काजि सबे फिर श्राया,
आपे श्राप लखाया ॥
खोलि कपाट महल के दीन्हे,
फिर स्थान दिखाया ॥
भयउ-भेद मर्म सब भागा,
साँच सोई मन लागा ॥
निहचल सदा चलै नहिं कबहूँ,
देख्या सब मे सोई ॥
ताही सो मेरा मन लागा,
श्रौर न दूजा कोई ॥
आदि अनन्त सोइ घर पाया,
रब मन श्रनत न जाई ॥
दादू एकै रगे रग लाया,
तामै रहा समाई ॥

महात्मा कबीर बाह्याचार की अपेक्षा सहज समाधि को ही अधिक उपादेय सिद्ध करते है —

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन सो जागी,
दिन दिन अधिक चली।

जहँ जहँ डोलों सो परिकरमा,
जो कुछ करौं सो सेव।
जब सोवो तब करों दण्डवत,
पूजों और न देव।
कहो सो नाम सुनो सो सुमिरन,
खावों पियों सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखों,
भाव मिटावो दूजा।
आंख न मूंदो, कान न रूंधो,
तनिक कष्ट नहिं धारो।
खुले नैनन पहिचानों हँसि-हँसि,
सुन्दर रूप निहारो।
सबद निरतन मे मन लागा,
मलिन वासना त्यागी।
उठत-बैठत कबहूँ नहिं छूटे,
ऐसी तारी लागी।
कह कबीर यह उनमुनि रहनी,
सो परगट करि गाई।
दुख सुख मे कोई परे,
परमपद तेहि पद रहा समाई।।

सन्तों की कला और उनके प्रभावशाली उपदेशो ने १३वी शताब्दी से १८वी शताब्दी तक की जनता के जीवन मे चतुर्दिक परिवर्तन समुपस्थित कर दिया। कोरी, चमार, जुलाहा, किसानो, अछूतो के लिए इसी प्रकार के धर्म की आवश्यकता थी। 'पातजल योगसूत्र', 'गणेश सहिता', 'घेरण्ड सहिता' आदि ग्रन्थो मे प्रतिपादित योग, साधना और ज्ञान की अशिक्षित जनता के लिए क्या उपयोगिता हो सकती थी? अशिक्षित जनता के लिए सहज समाधि, नाम-जप, सत्य-पालन, उदारता एव सहिष्णुता का आदर्श सामाजिक एव धार्मिक जीवन के लिए समान रूप मे उपयोगी और लाभप्रद था।

जन-प्रिय साहित्य

जो भी साहित्य लोक से सम्बद्ध होता है उसकी ख्याति रूपी सुगन्ध से सारा वायुमण्डल सुरभित हुए बिना नही रहता। होमर की अमर लेखनी से लिखा गया साहित्य होमर के ही युग मे सहृदय लोगो ने कण्ठस्थ कर लिया था। हमारे सन्तो के साहित्य को भी सभी सहृदय लोगो ने समादर की दृष्टि से देखा है। सन्तो के साहित्य

मे अनेक पद लोकगीतो के रूप मे जनता मे प्रचलित है, ग्रामीण समाज मंजरी और ढोलक, इकतारा और सितार पर सन्तो के पदो का गायन करके एक ओर धार्मिक दायित्व की पूर्ति करता है तथा दूसरी ओर मनोरजन भी कर लेता है। इस प्रकार से लोक-गीतो का प्रचार जनता मे अत्यधिक है। निर्गुन लोक गीतो मे गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, कबीर, रैदास तथा भरथरी के गीत बहुत जनप्रिय हैं। उन कवियो के अतिरिक्त सुन्दरदास, मलूकदास, चरनदास, दरियासाहब, सहजोबाई आदि के गीत भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे बडे जनप्रिय है। सुन्दरदास के लोक-गीत, राजस्थान, मलूकदास के गीत प्रयाग जिला, चरनदास के गीत अलवर प्रान्त, और दरिया साहब के बिहार प्रान्त मे अधिक सुने जाते हैं। विभिन्न सन्तो की गद्दियो अथवा समाधि स्थलो पर सन्तो की सगतो मे प्राय सभी सन्त कवियो के गीत गाये जाते है। सामान्य जनता की निम्नोल्लिखित जातियो—कोरी, चमार, खुनखुनिया, धोबी तथा अहीरो मे कबीर, भरथरी और रैदास के भजन और गीत बहुत समादृत है। इन लोकगीतो मे श्रद्धा, भक्ति और सद्भावना का प्रसार करने की अद्भुत शक्ति है। सतो के लोक गीतो के विषय सामान्यतया ६ प्रकार के हैं :—

१—रहस्य भावना

२—क्षणभगुरता

३—साम्य भावना

४—समाजगत विषमताएँ

५—माया, कनक, कामिनी की निन्दा।

६—पाडे, पण्डित, एव मुल्ला का उपहास।

सन्तो के लोकगीत माधुर्य के स्रोत है। इन गीतो के पढने या सुनने पर पाठक एव श्रोता प्रभावित हुए बिना नही रहते। इन गीतो मे इतनी तीव्रता है कि मन और बुद्धि पर उनका सीधा आघात होता है।

कबीर का निम्नलिखित पद लोकगीत के रूप मे बहुत प्रचलित है —

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे क ताना काहे के भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इगला, पिंगला ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया॥
आठ कमल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त गुन बीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागे, ठोक-ठोक कै बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर-नर मुनि ओढ़ी, ओढि कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतनु से ओढी ज्यो की त्यो धरि दीनी चदरिया॥

यह पद साहित्यिक विशेषताओ से पूर्ण होने के कारण साहित्यिक अभिरुचि के लोगो को भी विशेष प्रिय लगता है, कर्णप्रिय शब्दावली से मन झूम उठता है।

असमानता पर आघात

सन्त-साहित्य मे लोक-साहित्य के सभी गुण विद्यमान है। यह साहित्य पूर्णत जन-साहित्य है। इसलिए इस साहित्य मे तत्कालीन (१३-१८वी शताब्दी तक की) जनता के दुःख दारिद्र्य, शोषण-त्रास और दमन के चित्र अकित हुए है। इतना ही नही, उसमे जनता का दबा हुआ आक्रोश फूट पड़ा है। कबीर, नानक आदि सन्तो ने अन्याय का भी विरोध किया। उन्होने अपने समय की जनता की दुर्दशा का अध्ययन करके, उसकी ओर ध्यान दे देना और उसको दुःख एव क्लेश से छुटकारा देने का प्रयास किया। उनका यह प्रयास आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन मे समान रूपेण उपयोगी और महत्वपूर्ण था। ब्राह्मण, पण्डित, मुल्ला आदि के शोषण, यम की यातना, भेदभाव के अभिशाप से अपने समय की जनता को सन्तो ने बचाने का प्रयत्न तो किया ही, साथ ही उन्होने देश और समाज के असमान वितरण की ओर भी ध्यान दिया। सत चरनदास की निम्नलिखित पक्तियो म सामाजिक एव आर्थिक असमानता की ओर सकेत किया गया है—

एकन पग पनही नहीं, एक चढ़ै सुखपाल।
यही जो मोहि बताइये, एक मुक्ति को जाहि,
एक नरक को जाइ करि, मार जमो की खाहि।
एक दुखी एक अति सुखी, एक नृप इक रक,
एकन को विद्या बडी, एक पढे नहि अक।
एकन को मेवा मिलै, एक चने भी नाहि,
कारन कौन दिखाइये, करि चरनन की छाहि।
यही मोहि समझाइये, मन को धोखा जाय।
है करि निरसन्देह मै, रहौं चरन लिपटाय॥

इन पक्तियो मे समाज मे व्याप्त असमानता का भलीभाँति दिग्दर्शन प्राप्त होता है। कवि ने शोषको के प्रति आक्रोश की भावना भी व्यक्त की है।

सन्तो ने अपने समय मे प्रचलित लोकाचारो और कुप्रवृत्तियो की भी आलोचना बडे रोचक ढग से की है। जनेऊ और सुतना हिन्दू तथा मुसलमानो के प्रसिद्ध लोकाचार है। कबीर ने इनकी कठोर आलोचना की और कबीर की परम्परा मे आविर्भूत अनेक अन्य सन्तो ने भी कबीर का अनुसरण किया। कबीर ने तर्क का सहारा लेते हुए समाज के ढोगी लोगो का बहुत बडा उपहास किया। बडी जाति मे जन्म लेने वालो के दभ को मिट्टी मे मिलाया। एक पद मे कबीर के तत्सम्बन्धी विचारो का अच्छा प्रकाशन हुआ है —

जो पै करता वरण विचारै, तो
जनमत तीनि डाडि किन सारै।

उतपति व्यञ्ज कहा थे आया, जोति
घरी अए लागी माया।
नहिं कोउ ऊँचा नहीं को नीचा,
जाका प्यंउ ताही को सींचा।
जे तू बांमन बंमिन जाया, तौ
आवर बाट ह्वै काहे न आया।
ते तू तुरक तुरकनी जाया, तौ
भीतर खतना क्यूं न कराया।
कहैं कबीर मधिम नहीं कोई,
सो मधिम जा मुखि राम न होई॥

एक अन्य पद मे कबीर ने वलात् धर्म परिवर्तन करके मुसलमान बना लेने की कटु निन्दा की है। इसमे भी लोकाचारो की आलोचना की गयी है —

काजी कौन क तेब बषाने।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते,
गति एकै नहीं जानै।
सकति से नेह पकरि कर सुनति,
यह नबढूं रे भाई।
जौर षुढाइ तुरक मोहि करता,
तौ आपे कटि किन जाई।
हौं तौ तुरक किया करि सुनति,
औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै,
आधा हिन्दू रहिये।
छाडि कतेब राम कहि काजी,
खून करत हो भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की,
काजी रहे झष मारी॥

इस प्रकार सन्तो के काव्य मे लोक-सस्कृति के अगो एव उपागो पर पूर्णतः विचार किया गया है। मानवीय धर्म की पुष्टि करते हुए सन्तो ने जिस कर्तव्य मार्ग को प्रशस्त किया, वह मार्ग, भटके हुए मानवो के लिए सुखद एव निष्कटक सिद्ध हुआ है।

उपसंहार

विगत पृष्ठों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी संत कवियो का व्यक्तित्व समाज के लिए वरदान और आशीर्वाद के रूप मे विकसित हुआ। अपने युग की सतप्त मानवता के विकास एव अभ्युत्थान के लिये इन सत कवियो ने सतत परिश्रम किया और निराशा से ग्रस्त मानव-समाज को आशा के प्रकाश से आलोकित एक अभिनव दिशा की ओर अगुल्यानिर्देशन किया। यह थी समता, एकता, सार्वभौमिकता और सर्वप्रियता की दिशा। इस पथ पर चलकर मानव-समाज ने अपने समस्त भेदभावो, सकटो और अभावो को भूलने का प्रयत्न किया। ग्रस्त एव भौतिकता मे सलग्न मानव-समाज ने अपनी दृष्टि को इहलोक से हटाकर परलोक या पारमार्थिक लक्ष्य की ओर लगाया। सन्तो के अनवरत परिश्रम के फलस्वरूप जनता के पुरातनवादी शोषण-प्रिय और नीरस दृष्टिकोण मे परिवर्तन समुपस्थित हुआ। जनता ने उदारतापूर्वक जाति, वर्ग और वर्ण की सकीर्णता से ऊपर उठकर, मानवता को एक वृहत्तर और व्यापक धरातल पर देखने का प्रयत्न किया। हिन्दी के सत कवियो के योगदान चार दृष्टियो से बडे महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। ये हैं —

(क) जीवन के लिए योगदान,

(ख) समाज के लिए योगदान,

(ग) नैतिकता के विकास के लिये योगदान,

(घ) साहित्य के लिए योगदान,

इनमे से अब हम प्रत्येक योगदान पर सविस्तार विचार करेंगे। सबसे प्रथम हमे यह देखना है कि मानव के व्यक्तिगत जीवन के लिये सतो ने क्या योगदान दिया। सच यह है कि सतो का साहित्य जनता का साहित्य है। क्या भाव, क्या वर्ण्य-विषय, क्या प्रतिपाद्य, क्या भाषा, क्या रस, छन्द, अलकार सभी दृष्टियो से यह साहित्य जनता का साहित्य है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि जनता के ही धरातल पर सतो की अमोघ वानियो का साहित्य प्रवाहित हुआ है। सतो की दृष्टि व्यक्ति पर केन्द्रीभूत

थी। उनका लक्ष्य था व्यक्ति के सुधार के द्वारा कुत्सित और अध पतित जनता मे क्रान्ति स्थापित करके उसे उन्नत दिशा की ओर ले जाना। व्यक्ति का सुधार ही समष्टि के सुधार का आधार होता है। इसीलिए सतो ने व्यक्ति के जीवन को उन्नत और परिष्कृत वनाने के लिए समता, क्षमा, दया, त्याग विश्ववन्धुत्व तथा उदारता का उपदेश दिया। सतो ने कहा कि मनुष्य मनुष्य मे भेद नही है। मानव जीवन वडी कठोर तपस्या के वाद प्राप्त होता है। अत उसे हीन कार्यों के द्वारा अपवित्र नही करना चाहिए। जीवन को उदात्त कार्यो मे सलग्न करने से मानव जन्म की सार्थकता प्रमाणित होती है। सन् १३०० ई० से लेकर सन् १८०० ई० तक जनता का जीवन वडा विषम और सकटग्रस्त था। इस अवधि भर जनता के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक एव धार्मिक जीवन पर विपत्तियो के वादल छाए रहे। जनता निराशा के अधकार मे भटकती रही। ऐसे सक्राति काल मे समय-समय पर आविर्भूत होकर सतो ने जनता को आशा का प्रकाश दिखाया। उन्होने जनता को धैर्य और क्षमाशील वनाने का प्रयत्न किया। उसे दिव्य गुणो को धारण करने के लिए उपदेश दिया। तृष्णा, प्रतिहिंसा, असमानता के विरुद्ध उपदेश देते हुए उन्होने हिन्दू और मुसलमानो के मध्यस्थ स्थित भेद-भाव को दूर करने के लिए सास्कृतिक सामजस्य प्रस्तुत किया। इन सन्तो ने जीवन को हर प्रकार से क्षुद्रता, हीनता, और निम्नता से ऊपर उठा कर मानवता के उच्च आसन पर वैठाया।

सन्तो ने जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्ति रखने वालो को चेतावनी देकर उनमें निराशक्ति का भाव जागृत किया। अपने इस सन्देश को प्रभावशाली वनाने के लिए उन्होने मानव जीवन की वालू की भित्ति, उडते हुए पक्षी की परछाईं तथा पानी के वुलवुले से तुलना की। सत कवि जीवन को निरपेक्ष दृष्टि से देखने और परखने के पक्ष मे थे। इसीलिए उन्होने माया, ऐश्वर्य और भोग मे सलग्न जीवन को इनसे पृथक् और निर्लिप्त वनाये रखने का उपदेश दिया। सन्तो की सवसे वडी भारी देन यह है कि इन्होने जनता के भग्नप्राय, निराश और त्रस्त जीवन को जीवित रहने योग्य वनाया, उसमे आशा की ज्योति का सचार किया, उसके प्रति ध्यान दिया और उसे समुन्नत वनाने का प्रयत्न किया। इन सन्तो ने वैषम्य, भेदभाव, असमानता से अभिशप्त जन-जीवन को एकता और प्रेम के सूत्र मे वाँधने का प्रयत्न किया। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि सन्त कवि अपने इस उद्देश्य मे सफल भी हुए।

जीवन के प्रति सतो की देन का मूल्याकन कर लेने के वाद अव हम साहित्य के प्रति उनकी देन पर विचार करेंगे। साहित्य जीवन का प्रतिविम्व या प्रतिच्छाया है। एक दूसरे का पूरक और अन्योन्याश्रित है। जीवन के उत्थान, पतन और विकृत होने के साथ ही साहित्य भी क्रमश उन्नत और विकृत होता है। साहित्य जीवन को सुचारु रूप प्रदान करता है और जीवन साहित्य को प्रेरणा प्रदान करता है। सन् १३०० से सन् १८०० तक जन-जीवन कितना अभिशप्त और विकृत था यह अनेक वार दर्शाया जा चुका है। पथभ्रष्ट, लक्ष्यविहीन और त्रस्त जीवन को परित्राण और

शान्ति प्रदान करने के लिए सतो ने प्रचुर साहित्य की रचना की। प्रत्येक सन्त कवि ने भजन पदो और साखियो की रचना की जिनके द्वारा जनता ने विश्वबन्धुत्व, क्षमाशीलता, दया, करुणा और त्याग का पाठ पढकर उदार और विशाल हृदयवान् बनने का प्रयत्न किया। सतो के साहित्य मे शात रस साकार हो उठा है। उसमे सजीवता इतनी है कि कोई भी भावुक एव सहृदय व्यक्ति उसकी प्रबल धारा मे बहने लगता है। सन्त साहित्य का सर्जन जनता के उद्धार के लिए हुआ था जो युग-युग से शोषित, तिरस्कृत, अशिक्षित और दमन चक्र के नीचे कुचला जा चुका था। इस प्रबोधात्मक साहित्य मे इतनी क्षमता है कि प्रत्येक मानव उससे प्रभावित हो उठता है। कबीर दास की निम्नलिखित साखियाँ पढकर कौन व्यक्ति है जो प्रभावित हुए बिना नही रह सकता है :

(क) माली आवत देखकर कलियन करी पुकार।
फूली फूली चुन लिए कालिह हमारी बार॥

(ख) रात गवाई सोय करि, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौडी बदले जाय॥

(ग) जो ऊगे सो अत्थवै, फूले सो कुम्हिलाय।
जो चुनिये सो ढहि परै, जामे सो मरि जाय॥

(घ) साथी हमारे चलि गये, हम भी चालन हार।
कागद मे बाकी रही, ताते लागी बार॥

इसी प्रकार शरीर की नश्वरता का भाव गरीबदास की निम्नलिखित साखियो मे बहुत सुन्दरता के साथ व्यक्त हुआ है :

(क) यह माटी का महल है, तासे कैसा नेह।
जो साँई मिलि जात है तो पारायन देह॥

(ख) महल मुँडेरी नीम सब, चले कौन के साथ।
काया कौला हो रहा, कछू न लागा हाथ॥

कबीर का आविर्भाव तेरहवी शताब्दी मे हुआ था और गरीबदास का आविर्भाव अठारहवी शताब्दी है, परन्तु दोनो की अभिव्यजना शैली और वर्ण्य विषय कितना मार्मिक और प्रभावशाली है। सत-साहित्य की विशेषता यह है कि इसमे प्रभावित करने की अपार शक्ति है।

सन्तो ने हिन्दी-साहित्य को एक नवीन काव्य धारा का प्रसार दिया। यह काव्य-धारा कालान्तर मे सन्त-काव्य के नाम से प्रख्यात हुई। यह काव्य-धारा पाँच सौ वर्षो (१३०० से १८०० ई०) तक अबाध रूप से प्रवाहित हुई। इसके प्रमुख कर्णधार थे—कबीरदास, रैदास, नानक, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास, सहजोबाई, गरीबदास, दरिया दूबे आदि। इन्होने सहज भावो को सहज शैली और सहज भाषा मे व्यक्त,

करके काव्य-शास्त्र के आचार्यों के समक्ष काव्य का एक अभिनव रूप प्रस्तुत किया। सतो का साहित्य पूर्णरूपेण मौलिक है। सत कवियो मे से अनेक ऐसे थे, जिन्होंने शपथपूर्वक यह भी स्वीकार कर लिया है कि 'मसि कागद छूयो नही कलम गह्यो नहिं हाथ' फिर भी 'स्वात सुखाय' रघुनाथ गाथा का गान करने वाले अनेक सगुण-वादी कवियो से किसी प्रकार मौलिकता के क्षेत्र में पीछे नही है। सत दरिया साहब ने सतो के काव्यादर्श को एक साखी मे व्यक्त करते हुए कहा है :

सकल कवित का अर्थ है सकल बात की बात।
दरिया सुमिरन राम को कर लीजै दिन रात॥

इतने सरल काव्यादर्श को सामने रखकर सतो ने ऐसे साहित्य की रचना की जो सर्वसाधारण जनता और विद्वानो को समान रूप मे प्रभावित करता रहता है।

सतो ने समाज की नैतिकता और सदाचार के विकास मे विशेष महत्वपूर्ण योग-दान दिया। सन् १३०० से १८०० तक का समय भारतीय संस्कृति, धर्म, राजनीति एव समाज के विनाश और अध पतन का समय था। इस अवधि भर देश हेय, घृणित एव अपदस्य परिस्थितियों का अनुभव करता हुआ आगे बढा। इस समय की जनता के चरित्र और नैतिकता को साराश रूप मे लोभ, लालच, महत्वाकाक्षा, दर्प, गर्व, अहकार, प्रतिकार, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, कामुकता शब्दो के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इस युग के पडित, पुजारी, मुल्ला-मोलवी पथभ्रष्ट एव विवेकशून्य होकर जप, तप, तिलक, माला, रोजा, नमाज आदि को ही नैतिकता और सदाचार का मापदण्ड समझने लगे थे। पशु-बलि और नर-बलि के द्वारा देवताओ को प्रसन्न करने के प्रयास किये जाते थे। सतो ने भ्रम के अधकार मे भटकती हुई जनता को बताया—धर्म का सत्रूप बाह्याचारो एव बाह्याडम्बरो मे नही है वरन् आत्मा या ब्रह्म की अनुभूति मे है। ब्रह्म और आत्मा की अनुभूति के लिए सत्यता, औदार्य, क्षमा-शीलता, दया, समता की भावना की आवश्यकता है। गरीबों और आर्त व्यक्तियो की सहायता करना अधिक श्रेयस्कर है, व्रत करना नही। क्षुधित को रोटी देना यज्ञ करने की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। रोग से पीडित एव आर्त क्रन्दन करने वाले की सेवा करना सालिग्राम की मूर्ति धोने की अपेक्षा अधिक न्याय्य एव तर्कसगत है। सतो की इन क्रांतिकारी धारणाओ ने युग-युग मे चली आने वाली नैतिकता और सदाचार सम्बन्धित मान्यताओ मे क्राति उपस्थित कर दी। सच बात यह है कि सतो ने अपने उपदेशो द्वारा मानव को मानव के निकट लाकर विषमताओ को दूर किया और सद्भावना का बीज आरोपित किया। इसी कारण मानव समाज ने नैतिकता के नवीन आदर्शों को ग्रहण किया।

समाज के अभ्युत्थान एव चतुर्दिक विकास के लिए सतो ने बडा ही महत्वपूर्ण योगदान दिया। सन् १३०० से लेकर १८०० तक का समाज बहु देवोपासना, जाति-वर्ण भेद, अस्पृश्यता, विलासिता आदि दोषो से अभिशप्त था। मानव, मानव-सुलभ

गुणों को भूलकर निम्नातिनिम्न कार्यों और भ्रष्टाचार में संलग्न था। हिंसा, दम्भ, गर्व और प्रतिकार में संलग्न मानव दिन पर दिन विनाश के गर्त की ओर अग्रसर था। संतों ने अपने युग के समाज के रोगों को देखा और उन पर विचारपूर्वक ध्यान दिया। उन्होंने समय-समय पर जाति, वर्ग के अभिशाप की कटु आलोचना की, व्यंग्य बाण संधान किये। इसी प्रकार अस्पृश्यता को निन्दनीय बताकर समता की भावना का उपदेश दिया। संतों ने अपने युग के अभिशप्त मानव से कहा कि अस्पृश्यता निःसार है। यथा एक ही कुम्हार द्वारा निर्मित विविध प्रकार के बर्तनों में उसकी आत्मा या कला विद्यमान है, उसी प्रकार ब्रह्म की कला प्रत्येक मानव में समान रूप से वर्तमान है। मनुष्य मनुष्य में भेद उत्पन्न करने का समस्त उत्तरदायित्व समाज के तथाकथित ठेकेदारों का है। इन ठेकेदारों ने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी को अन्त्यज और किसी को शूद्र की परिधि में बाँध रखा है। ईश्वर ने सभी को समान अंग और शक्ति प्रदान की। विभिन्न रंगों की गायों के दूध का रंग श्वेत होता है। फिर मानव जाति में भेदभाव कहाँ है?

बहुदेवोपासना में भटकते हुए मानव समाज को उन संतों ने निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अद्वैत ब्रह्म की सहज उपासना करने का उपदेश दिया। संतों ने बताया कि हिन्दुओं और मुसलमानों का पारस्परिक भेदभाव व्यर्थ है, कारण कि राम, रहीम, तथा केशव, करीम अभिन्न हैं।

इसी प्रकार विलासिता, हिंसा, दम्भ, गर्व और प्रतिकार जैसे दुर्गुणों में संलग्न मानव समाज को इनसे दूर रहने का उपदेश देकर समाज को निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया।

संक्षेप में संतों ने समाज को उन्नत और विकासशील बनाने का हर प्रकार से प्रयत्न किया।

समाज पर संतों का प्रभाव

हिन्दी के संत कवियों ने भारतीय समाज को भलीभांति प्रभावित किया। इनके शांत, प्रिय और निर्दोष व्यक्तित्व ने प्रतिकार, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, वैमनस्य और भेदभाव की होली में दग्ध मानव समाज को शीतल उपदेशों के द्वारा कल्याणकारी पथ पर अग्रसर किया। इनकी शाश्वत वाणियों में मानव समाज को प्रभावित करने की बड़ी शक्ति है। कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि का साहित्य लगभग ६०० वर्ष प्राचीन है परन्तु फिर भी वह आज के लिये उतना ही उपयोगी है, जितना कि उस समय था। कटुता, संकीर्णता, शोषण तथा हीन कार्यों में संलग्न मानव को आज भी वह प्रेरणा देकर सत् कार्य करने के लिए उत्साहित करता है। संतों के साहित्य ने जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का सर्जन किया। संतों के साहित्य को पढ़कर आज भी प्रतीत होता है कि मानो यह हमारे लिए ही लिखा गया है। कबीरदास की

निम्नलिखित साखियों में अभिव्यक्त सुन्दर भाव साहित्य के इतिहास में और मानव अनुभूति के क्षेत्र में कभी झूठे और पुराने नहीं पड़ेंगे

(१) बुरा जो देखन मैं चला, जग मे बुरा न कोय ।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय ॥

(२) कबिरा गर्व न कीजिए, कबहु न हँसिये कोय ।
अजहूँ नाव समुद्र मे, ना जाने का होय ॥

(३) पूजा, सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का सा खेल ।
जब लगि पिउ परिचय नहीं, तब लगि संसै मेल ॥

(४) जो देखै सो कहै नहिं कहै सो देखै नाहिं ।
सुनै सो समझावै नहिं, रसना दृग स्रवन काहि ॥

(५) मारग चलते जो गिरै, ताको नाहीं दोस ।
कह कबीर बैठा रहै, ता सिर करड़े कोस ॥

इन बानियो मे व्यक्त भाव किसे नहीं प्रभावित करते है। इनमे शाश्वत भावों की अभिव्यक्ति हुई है। ग्रामीण जनता आज भी कबीर, रैदास, दादू आदि संतो के भजनो और गीत को सायकाल ढोलक-मजीरे पर गाती है। रेडियो पर प्राय नित्य प्रति किसी न किसी निर्गुण कवि के भजनो के रेकार्ड प्रतिश्रुत होते हैं। जनता आज भी ६ सौ वर्ष पूर्व सम्प्रेषित संतो के संदेशो को ग्रहण करने के लिए समुत्सुक रहती है। सन्तो का प्रभाव युग महापुरुष महात्मा गांधी पर भी पड़ा। उनकी प्रार्थना सभा मे संतो के भजन गाये जाते थे। गांधी जी की माँ स्वत कबीरपंथी थीं। निश्चय ही कबीर के जीवन-दर्शन और विचार-धारा से हमारा युग-पुरुष बहुत अंशो तक प्रभावित रहा होगा। संतो की बानियाँ आज भी व्यावहारिक जीवन मे कहावतो के रूप मे प्रयुक्त और उद्धृत होती रहती है। ये सब तथ्य सन्तो की जन-प्रियता के द्योतक है।

परिशिष्ट

सहायक पुस्तकों की सूची

सन्तों की बानियाँ

१. कबीर ग्रन्थावली — डा० श्यामसुन्दर दास
२. कबीर वचनावली — 'हरिऔध'
३. कबीर — डा० रामकुमार वर्मा
४. सुन्दर ग्रन्थावली — हरि नारायण शर्मा
५. कबीर साहब की शब्दावली (चार भाग)
६. दादू दयाल की बानी (भाग १-२)
७. स्वामी दादू दयाल की बाणी — चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी
८. जगजीवन साहब की बानी (भाग १-२)
९. रैदास जी की बानी
१०. गरीबदास जी की बानी
११. भीखा साहब की शब्दावली
१२. मलूकदास जी की बानी
१३. चरनदास की बानी (भाग १-२)
१४. महात्माओं की बाणी — बाबा रामबरन दास
१५. सहजोबाई का सहज प्रकाश
१६. दयाबाई की बानी
१७. संत-बानी-संग्रह (भाग १-२)
१८. भक्ति-सागर — चरन दास
१९. शब्द-संग्रह — मलूकदास (अप्रकाशित)
२०. भक्ति-विवेक — चरन दास

२१ भक्ति-सागर — चरन दास
२२. पलटू साहिब की बानी
२३. सत सुधा-सार — वियोगी हरि

साहित्य के इतिहास

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास — मिश्र बन्धु
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
४ हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास — डा० सूर्यकांत शास्त्री
५ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० राम कुमार वर्मा
६. हिन्दी भाषा और साहित्य — डा० श्याम सुन्दर दास
७ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास — 'हरिऔध'
८. हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन — डा० रामकुमार वर्मा

काव्य-शास्त्र

१ सिद्धान्त और अध्ययन — डा० गुलाब राय
२ साहित्यालोचन — डा० श्यामसुन्दर दास
३ साहित्य समीक्षा — डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
४. साहित्य समालोचना — डा० रामकुमार वर्मा

आलोचना

१ निर्गुण-काव्य-धारा — स्व० सिद्धिनाथ तिवारी
२ हिन्दी-काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय — स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल
३. योग-प्रवाह — स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल
४ मकरन्द — स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल
५ रामानन्द — स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल
६ सत-साहित्य — भुवनेश्वर 'माधव'
७ सत-दर्शन — डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
८ सुन्दर दर्शन — डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
९ चरनदास — डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
१०. कबीर साहित्य की परख — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
११ हिन्दी-काव्य-धारा मे प्रवाह — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
१२ उत्तरी भारत की सत परम्परा — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
१३. भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास — शिवशकर मिश्र
१४. मराठी सतो की हिन्दी को देन — डा० विनय मोहन शर्मा

१५. कबीर	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१६ भारतीय दर्शन परिचय	हरि मोहन
१७ भारतीय धर्म और दर्शन	श्यामबिहारी मिश्र
१८ दर्शन और जीवन	सम्पूर्णानन्द
१९ मध्यकालीन धर्म-साधना	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
२० मध्यकालीन प्रेम-साधना	आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
२१ वैदिक साहित्य परिशीलन	रजनीकांत शास्त्री
२२ समन्वय	भगवानदास
२३. हिन्दी के वैष्णव कवि	ब्रजेश्वर
२४. हिन्दी भक्तिकाव्य	रामरतन भटनागर
२५ मलूकदास, सुन्दरदास एवं चरनदास की दार्शनिक विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन	डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित (अप्रकाशित)
२६. कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा

सांस्कृतिक

१. आर्य संस्कृति के मूलाधार	उपाध्याय
२. प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति	बेनी प्रसाद
३ भारत की प्राचीन संस्कृति	राम जी उपाध्याय
४. भारतीय संस्कृति	मोहन लाल वर्मा
५. भारतीय संस्कृति	शिवदत्त ज्ञानी
६. भारतीय संस्कृति का विकास	बी० एल० शर्मा
७ संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह 'दिनकर'
८ हमारी संस्कृति	रामखेलावन पांडे

संग्रह ग्रन्थ

१. सूफी-काव्य-संग्रह	आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
२ संत कबीर	डा० रामकुमार वर्मा
३. हिन्दी के कवि और काव्य	गणेश प्रसाद द्विवेदी

विविध

१ सुख-सागर	
२ गुरु-ग्रन्थ-साहब	भाई गुरुदियाल
३ भक्त-माल	प्रियादास सीताराम शरण
	भगवान प्रसाद

४	भक्त-माल	राघव दास
५	भक्त-माल	हरि भक्ति प्रकाशिका ज्वाला प्रसाद मिश्र
६	प्राण सगली	
७	सत-गुण सागर	
८.	श्री हरिपुरुष की वाणी	
९.	राम चरित मानस	गोस्वामी तुलसीदास
१०	भारतीय-दर्शन	डा० बलदेव उपाध्याय
११	भारतीय-दर्शन	डा० उमेश मिश्र
१२	हरिजन वर्ग और उसका उत्थान	राम जी लाल
१३	मनुष्य का धर्म	रवीन्द्रनाथ टैगोर
१४	महाभारत	
१५.	बौद्ध दर्शन	प० बलदेव उपाध्याय
१६.	तसव्वुफ इस्लाम	

सस्कृत

१	धर्म शिक्षा	लक्ष्मीधर वाजपेयी
२.	ऋग्वेद	
३	यजुर्वेद	
४	सामवेद	
५	अथर्ववेद	
६	ईशावास्योपनिषद्	
७	केनोपनिषद्	
८	कठोपनिषद्	
९	प्रश्नोपनिषद्	
१०	मुण्डकोपनिषद्	
११.	माण्डूक्योपनिषद्	
१२	गौडपाद कारिका	
१३	तैत्तरीय उपनिषद्	
१४.	ऐतरेय ब्राह्मण	
१५	छान्दोग्य उपनिषद्	
१६	वृहदारण्यक	
१७	गीता	
१८	श्रीमद्भागवत	

इतिहास

१ प्राचीन भारत की जन सत्ता और संस्कृति — वेनी प्रसाद

२. प्राचीन भारत — राजवली पाण्डे

३ प्राचीन भारत — एस० एन० आई० एस० अयगर

४ भारत की प्राचीन संस्कृति — राम जी उपाध्याय

५ भारतवर्ष का इतिहास — डा० ईश्वरी प्रसाद

अंग्रेजी

1. A History of Indian Philosophy—S N Das Gupta
2. A History of Autobiography in Antiquity
3 An Introduction to the Study of Literature-Hudson
4 An Outline of Religious Literature in India—Farquhar
5 Encyclopedia of Religion and Ethics-James Hastings.
6 History of the Rise of Mohammadan Powers in India-Brigs
7 Kabir and Kabir Panth-Westcot
8 Medival Mysticism of India-K M Sen
9 New History of India-Dr Ishwari Prasad
10. Nirgun School of Hindi Poetry—Dr. Barthwal
11 Religious Policy of Moughal Emperors-S R. Sharma
12. Religious sects of Hindus—H H Wilson
13 The History of Aurangzeb—Sarkar
14. Vaishnavism, Shaivism and Modern Religious System—Bhandarkar.
15 Epic India—C L Vaidya.
16 A History of Indian Literature—Winternitz
17 Akbar the Great—Smith
18 Hindu Social Organization—Prabhu
19 History of Jahangir-Pvof. Beni Prasad
20. Indian Culture through Ages—Mohan Lal Vidyarthi
21. Indian Philosophy—Dr Radha Krishnan
22. Medewal India under Mohammadan Rulers-Stanley Lampoal

पत्र-पत्रिकाएँ एव विशेषांक

१. सम्मेलन पत्रिका

२ नागरी प्रचारिणी-पत्रिका

३ कल्याण
४ सताक-कल्याण
५ भक्ति अक-कल्याण
६ योगाक-कल्याण
७ हिन्दू मस्कृति अक
८ सन्त-वाणी
९. सप्त-सिन्धु
१०. पाटल

लखनऊ विश्वविद्यालय के महत्वपूर्ण हिन्दी-प्रकाशन

१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—(संशोधित-परिवर्धित संस्करण)—ले०—डा० भगीरथ मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०। इस ग्रंथ में हिन्दी-काव्यशास्त्र के इतिहास के साथ साथ संस्कृत और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि के आधार पर हिन्दी में काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों का मूल्यांकन है। हिन्दी कवियों के काव्यादर्शो तथा आधुनिक काव्यशास्त्र की विविध समस्याओं का भी इसमें अध्ययन है। मूल्य-१२)

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि—ले०—डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०। इस ग्रंथ में अनेक दुष्प्राप्य प्रकाशित तथा हस्तलिखित ग्रंथों का अध्ययन करके अकबर के दरबार से सम्बन्ध रखने वाले कवियों का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। मूल्य ६)

३ आचार्य भिखारीदास—ले०—डा० नारायणदास खन्ना, एम० ए०, पी-एच० डी०। रीतिकाल के प्रतिष्ठित कवि और आचार्य भिखारीदास की जीवनी तथा कृतियों का आलोचनात्मक विश्लेषण। मूल्य—१०)

४ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग—ले०—डा० उदय भानु सिंह पी-एच० डी०, डी० लिट्०। मूल्य १०)

५ आचार्य केशवदास—ले०—डा०हीरालाल दीक्षित, एम०ए०, पी-एच०डी०। इसमें आचार्य केशवदास की जीवनी, उनकी रचनाओं की विस्तृत समीक्षा, उनके काव्यशास्त्र-सम्बन्धी विचारों की व्याख्यात्मक विवेचना और उनकी कृतियों में प्राप्त ऐतिहासिक विवरणों की आलोचनात्मक परीक्षा एवं सर्वांगीण विवेचन है। मूल्य ६)

६ जायसी के परवर्ती सूफी हिन्दी कवि और उनका काव्य—ले०—श्रीमती डा० सरला शुक्ल, एम० ए०, पी-एच० डी०। मूल्य—१२)

७. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना—ले०—डा० पुत्तूलाल शुक्ल, एम० ए०, पी एच० डी०। मूल्य—१२॥)

८ तुलसी की भाषा—ले०—डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव, एम० ए०, पी-एच० डी०। मूल्य १०)

९ अवध के प्रमुख कवि—ले०—डा० ब्रजकिशोर मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में अवध के शृंगारयुगीन प्रमुख कवियों तथा उनके आश्रयदाताओं की जीवनी, अनेक अप्रकाशित कृतियों का परिचय तथा अवध प्रान्त का सुसम्बद्ध इतिहास प्रस्तुत किया गया है। अधिकांश सामग्री मौलिक है तथा उसकी काव्यालोचना भी की गई है। मूल्य—११)

१० हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-कालीन साहित्य में संगीत—ले०—डा० उषा गुप्ता, एम० ए०, पी-एच० डी०। अपने विषय का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण शोधग्रंथ। मूल्य—१५)

११ हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन—ले० —डा०लक्ष्मीनारायण गुप्त, एम० ए०, पी एच० डी०। अपने विषय का महत्वपूर्ण शोधग्रंथ। मूल्य—१२)

१२ तुलसी दर्शन मीमांसा—ले०—डा० उदय भानु सिंह। इसमें तुलसी के काव्य-दर्शन का दिग्दर्शन कराते हुए भक्तिरस और तुलसी साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति का भी विवेचन किया गया है। मूल्य—१८)

१३ पातंजल-योग-दर्शन—संपा०—डा० भगीरथ मिश्र, पं० हरिकृष्ण अवस्थी, डा० ब्रजकिशोर मिश्र। (अप्राप्य)

१४ ब्रजभाषा सूर-कोश—निर्देशक—डा० दीनदयालु, गुप्त एम० ए०, एल-एल०बी०, डी० लिट्० । सपादक—डा० प्रेमनारायण टडन, एम० ए०, पी-एच० डी० । प्रस्तुत कोश मे सूरदास के समस्त काव्य मे प्रयुक्त शब्दों के अर्थ और अर्थ की पुष्टि तथा स्पष्टता के लिए अपेक्षित उदाहरणो के साथ-साथ ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली के विशिष्ट प्रयोग भी दिये गये हैं । पूरा कोश दो सजिल्द खडों मे है । दोनो खडो का मूल्य चालीस रुपया है । अलग-अलग दस भागो मे भी मिलता है, जिनका मूल्य—३७) है ।

१५ रेवातट समय (पृथ्वीराज रासो)—सपा०—डा० विपिन विहारी त्रिवेदी । 'पृथ्वीराजरासो' का रेवातट समय अनेक हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर लगभग पौने दो सौ पृष्ठो की विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ सपादित किया गया है । द्वितीय सशोधित-परिवर्द्धित सस्करण अभी छपा है । मूल्य ७।।)

१६ प्राकृत-विमर्श—ले०—डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल । पुस्तक के प्रथम भाग मे पालि, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ की रूप और ध्वनि सबधी विशेषताएँ तथा उनके साहित्य का इतिहास है । दूसरे भाग मे विविध प्राकृत भाषाओ के चुने हुए उदाहरण, पाद-टिप्पणी और सस्कृत रूपान्तर के साथ दिये गये हैं । मूल्य ४।।)

१७ हिन्दी-साहित्य मे भ्रमरगीत-परम्परा—ले०—श्रीमती डा० सरला शुक्ल । इसमे कवि-परिचय के साथ हस्तलिखित और मुद्रित भ्रमरगीतो की काव्य कला और दार्शनिकता की दृष्टि से विवेचना की गयी है । मूल्य ४)

१८ भारतीय सस्कृति मे आर्येतरांश—ले०—डा० शिवशेखर मिश्र । मूल्य २।।)

१९ भारत का सास्कृतिक विकास—ले०—डा० शिवशेखर मिश्र । मूल्य ३)

२०. साहित्य का मर्म—ले०—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी । इसमे लखनऊ विश्वविद्यालय मे दिए गये आचार्य जी के तीन व्याख्यान सकलित हैं । मूल्य १)

२१ द्विवेदी-युगीन निबध-साहित्य—ले०—श्री गगाबख्श सिंह । मूल्य ३)

२२ निबंधकार बालकृष्ण भट्ट—ले०—श्री गोपाल पुरोहित । मूल्य २।।)

२३ शृगारमजरी (चिंतामणि कृत)—सपा०—डा० भगीरथ मिश्र । विस्तृत भूमिका मे कवि के जीवन चरित, रचनाओ, समय और मजरी की विशेषताओं की विवेचना है । मूल्य २।।)

२४ तुलसीदास का सामाजिक आदर्श—ले०—श्रीमती सुधारानी । मूल्य–२।।)

२५ हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक—ले०—सुश्री सरला जौहरी । मूल्य १।।)

२६. परिचयी-साहित्य—ले०—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पी-एच० डी०, डी० लिट्० । इसमे सतों की जीवनी पर प्रकाश डालने वाले हस्तलिखित परिचयी साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और अनेक अज्ञात कवियो के व्यक्तित्व और जीवन की रूपरेखा निर्धारित की गई है । मूल्य ५)

२७ कनउजी लोकगीत—ले०—श्री सतराम अनिल । मूल्य ४)

२८ नाटककार सेठ गोविन्ददास— मूल्य २।।)

२९ रामनरेश त्रिपाठी : व्यक्तित्व और कृतित्व—ले०—डा० रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल, एम० ए०, पी-एच० डी० । मूल्य ३)

३० ब्रजभाषा-व्याकरण की रूपरेखा—डा० प्रेमनारायण टण्डन । मूल्य ६)

पता—विश्वविद्यालय प्रकाशन, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय